काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से रसयुक्त रचना को पढ़ने के उपरान्त सहृदय के चित्त की चार अवस्थाएं सम्भव हैं। यहां हमारा 'रस' शब्द से तात्पर्य केवल 'रस' न होकर रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति भावोदय, भावसंधि एवं भावशबलता इन आठों से है। रसाभास के स्वरूप निर्देश से पूर्व इन अवस्थाओं पर दृष्टिपात करना अनिवार्य है—

(१) प्रथम अवस्था वह है जब सहृदय का चित्त उस काव्य-प्रसंग में पूर्ण तन्मय हो जाता है और वह एक अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है।

(२) द्वितीय अवस्था में उसे आह्लाद तो होता है पर किसी के साथ साधारणीकरण न होने के कारण उसका चित्त पूर्ण तन्मय नहीं हो पाता। वहां वह एक तटस्थ दर्शक मात्र होता है। कवि जिस भाव को प्रकट करता है, उसे वह केवल उदासीन भाव से सुन अथवा देख लेता है। उसके चित्त की उतनी तन्मयता एवं वेद्यान्तर स्पर्श-शून्यता सम्भव नहीं होती जैसे कि चित्त के साधारणीकृत होने पर होती है।

(३) तीसरी अवस्था में कवि जिस रस की सामग्री का संयोग करता है, सहृदय उस रस से भिन्न ही किसी भाव का अनुभव करता है। इस अवस्था में उसका चित्त तन्मय नहीं होता।

(४) चौथी अवस्था में उसका चित्त तो तन्मय होता है किन्तु उसे किसी अलौकिक आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। ऐसी अवस्था में अनेक बार उसका चित्त विचलित हो जाता है।

प्रथम अवस्था पूर्ण रस की अवस्था है, दूसरी भाव आदि की है, तीसरी रसाभास आदि की तथा चौथी लौकिक भाव की अवस्था है। इन चारों अवस्थाओं के भेद को समझने के लिए निम्नोक्त काव्य-प्रसंगों पर दृष्टिपात करना संगत होगा।

१. अधर्म के विरुद्ध प्रत्येक व्यक्ति के चित्त में एक प्रबल विरोध भावना विद्यमान रहती है। रामायण की कथा इसी धर्म और अधर्म के संघर्ष की कथा है।[1] अतः

---

१. जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
—रामचरित मानस, बालकाण्ड, १२१।

पर-स्त्री का हरण करने वाले अधम रावण (अधर्म) के विरुद्ध राम (धर्म) की उत्साह भावना के साथ सहृदय का पूर्ण तादात्म्य होता है और वह इस प्रसंग में पूर्ण तन्मय हो जाता है। उसमें और राम में कोई अन्तर नहीं रहता। उसमें भी वही भावनाएं विद्यमान रहती हैं जो कि राम या उसकी सेना में विद्यमान होती हैं।[१] वस्तुतः काव्य की रचना किसी ऐसे प्रसंग के आधार पर ही की जानी चाहिए जिसके साथ सहृदय अपना पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर सके। यह अवस्था पूर्ण रस की अवस्था है।

२. दूसरी अवस्था को समझने के लिए सीता-स्वयंवर के अवसर पर लक्ष्मण-परशुराम का संवाद द्रष्टव्य है। परशुराम अपने गुरु के धनुष का भंग करने वाले के प्रति रोष प्रकट करते हैं।[२] जिससे उनकी गुरुभक्ति सूचित होती है। सम्पूर्ण सभाभवन उनसे अभिभूत है[३] और अपने को अपराधी अनुभव कर रहा है। सहृदय का चित्त विशेष भाव (राम और सीता के मिलनौत्सुक्य) से ओतप्रोत होता है। उसके मार्ग में एक बाधा उपस्थित हो जाती है। उस समय वह परशुराम का आगमन अवांछनीय समझता हुआ भी उसके प्रति कोई विरोधी भावना व्यक्त नहीं करना चाहता अथवा नहीं कर पाता। उसका चित्त एक जिज्ञासा की-सी स्थिति में हो जाता है और उसकी दृष्टि राम की ओर जाती है कि ये परशुराम को क्या उत्तर देते हैं। ऐसे समय लक्ष्मण का व्यंग्यात्मक भाषा का प्रयोग करना यद्यपि सहृदय के चित्त में आह्लाद उत्पन्न करता है तथापि उसका तादात्म्य लक्ष्मण के साथ नहीं हो पाता। क्योंकि एक तो उसका यह व्यवहार अपने बड़े भाई की उपस्थिति में छोटे मुंह बड़ी बात है, दूसरे यह राजा जनक तथा अन्य सभासदों की भावना एवं रुचि के भी प्रतिकूल है।[४] लक्ष्मण और परशुराम के अतिरिक्त एक तीसरा पात्र राम है, उसकी स्थिति और भी विचित्र है। एक तो उसने धनुष को तोड़ा है, वह अपने पक्ष में क्या कहे? यह वह सोच नहीं पाता। ऐसे समय जब वह (अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए) लक्ष्मण का विरोध करता है तथा

---

१. कहते हैं कि एक बार मैसूर के राजा रंगमञ्च पर राम-रावण का युद्ध देख रहे थे। इस प्रसंग में वे इतने तन्मय हो गये कि उन्हें इस बात की भी सुध न रही कि वे एक नाटक देख रहे हैं। नाटक के मध्य ही उन्होंने अकस्मात् ही अपनी सेना को यह आदेश दे दिया कि रावण की सेना पर कूच कर दो।

२. अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा॥
बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू। उलटउँ महि जहँ लहि तव राजू॥
—रामचरित मानस, बालकाण्ड, २७०।

३. सुर मुनि नाग नगर नर नारी। सोचहिं सकल त्रास उर भारी॥
रामचरित मानस, बालकाण्ड, २७०।

४. अनुचित कहि सब लोग पुकारे। रघुपति सयनहिं लखनु नेवारे॥
—रामचरित मानस, बालकाण्ड, २७६।

दीनता-पूर्ण वचनों से शान्ति स्थापित करने के लिए कहता है,[1] तब वह सहृदय को प्रभावित नहीं कर पाता। उसका ऐसा करना सहृदय की रुचि के प्रतिकूल है। यदि बीच-बीच में राम की अतुल शक्ति का उल्लेख न हुआ होता अथवा भारतीय पाठक के चित्त में उसके प्रति पूज्य बुद्धि न होती तो राम के प्रति विरोधी भावना का उत्पन्न हो जाना भी अस्वाभाविक नहीं होता। यह प्रसंग कवित्व की दृष्टि से एक उत्कृष्ट प्रसंग माना गया है किन्तु फिर भी किसी भी पात्र के साथ तादात्म्य न हो सकने के कारण इसे रस नहीं कहा जा सकता। शास्त्रीय दृष्टि से यह भाव की स्थिति है।[2]

---

१. नाथ करहु बालक पर छोहू। सूध दूधमुख करिअ न कोहू॥
जौं पै प्रभु प्रभाउ कछु जाना। तौ कि बराबरि करत अयाना॥
—रामचरित मानस, बालकाण्ड, २७७।

२. सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः॥ २६०॥
उद्‌बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते।

× × ×

यत्र प्राधान्येनाभिव्यक्ता व्यभिचारिणो, देवमुनिगुरुनृपादिविषया च रतिरुद्‌बुद्धमात्रा, विभावादिभिरपरिपुष्टतया रसरूपतामनापद्यमानाश्च स्थायिनो भावा भावशब्दवाच्याः।
—साहित्यदर्पण, पृ० १२४।

अर्थात् (१) जब संचारियों का वर्णन किसी स्थायी का सहायक न होकर स्वतंत्र तथा प्रधान होता है, (२) देवादि विषयक रति तथा (३) उद्‌बुद्ध मात्र स्थायि भाव भाव कहलाता है। रस के आस्वादन में विभाव, अनुभाव और संचारि-भाव से परिपुष्ट स्थायिभाव उद्रेक के सौन्दर्य को प्राप्त करता है, पर इन तीनों स्थितियों में रसास्वादन की यह स्थति प्राप्त नहीं होती। उसका कारण यह है कि संचारिभावों तथा देवादि विषयक रति में आस्वाद्यत्व, उत्कटत्व, सर्वजन सुलभत्व, पुरुषार्थोपयोगित्व तथा उचित विषयनिष्ठत्व या औचित्य इन स्थायिभावों के गुणों का अभाव है, अतः इनके वर्णन में वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता अथवा तल्लीनता का भी अभाव रहता है। इसके अतिरिक्त रति आदि स्थायिभाव उस अवस्था में उद्‌बुद्धमात्र होते हैं (पूर्ण उद्रेक को प्राप्त नहीं करते), जब उसके निर्दिष्ट पांच गुण कुछ क्षीण रूप में प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ ऊपर जो हमने उदाहरण प्रस्तुत किया है उसमें भाव प्रदर्शन पूर्णतः उचित-विषयनिष्ठ नहीं है। अतः यह अवस्था भी रसावस्था की भांति पूर्ण तल्लीनता की अवस्था नहीं है। पूर्ण तल्लीनता आश्रय के साथ पूर्ण तादात्म्य करने से आती है, भाव की अवस्था में आश्रय के साथ पूर्ण तादात्म्य नहीं होता है, और इसी कारण सहृदय इस अवस्था में प्रकरण में पूर्ण लीन होता हुआ भी, किसी पात्र के साथ पूर्ण तादात्म्य न कर सकने के कारण तटस्थ-सा होता है। निष्कर्ष यह कि रस की अवस्था में सहृदय काव्य में वर्णित सम्पूर्ण परिस्थिति विशेषतः आश्रय से पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेता है किन्तु भाव की अवस्था में काव्यगत सम्पूर्ण परिस्थिाति के साथ तादात्म्य करके भी आश्रय के साथ पूर्ण तादात्म्य न कर सकने के कारण वह तटस्थ होता है।

भाव के अतिरिक्त भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति एवं भावशबलता के उदाहरणों में भी चित्त की इसी प्रकार की अवस्था होगी।[1]

३. अब तीसरी स्थिति के लिए एक कल्पित प्रसंग देखिए—क्लबों, चित्रालयों एवं नगर के विशाल मार्गों पर निःसंकोच भ्रमण करने वाली एक आधुनिका जब अर्द्धरात्रि के समय अपने कई प्रेमियों के साथ नृत्य आदि करने के उपरान्त हंसती-कूदती घर वापस पहुंची तो उसने दर्पण में अपनी छाया देखी। छाया में उसने देखा कि उसके गाउन पर एक छोटी-सी सिकुड़न पड़ी हुई है। इसे देख कर उसका हंसना-कूदना सब बन्द हो गया। उसे रह-रह कर यह विचार आने लगा कि मेरे गाउन की इस सिकुड़न को जब मेरे प्रेमी ने देखा होगा तो उसने अपने मन में क्या सोचा होगा? एक अन्य युवती जो कि सौंदर्य और शृंगार में उससे प्रतिद्वंद्विता करती थी आज उसे देख कर मुस्करा रही थी। उसने सोचा, निश्चय ही वह मुस्कराहट इस सिकुड़न के कारण व्यंग्यात्मक थी। आज रात को उसे जितने भी व्यक्ति क्लब में मिले थे उसे लगा कि वे सभी उससे घृणा कर रहे थे। उनका व्यवहार उसे अपने प्रति इस सिकुड़न के कारण कुछ उपेक्षा का-सा प्रतीत होने लगा। उसे अपने ऊपर क्रोध आने लगा कि जब वह गाउन पहनकर बाहर गयी थी तब उसने दर्पण में अपनी आकृति क्यों न देखी? उसे अपनी इस सामान्य सी भूल पर दुःख होने लगा। सोई तो उसे नींद नहीं आई। रह-रह कर उसके मन में यही विचार आते कि उसके क्लब के साथी उसके विषय में क्या सोचते रहे होंगे। अगले दिन भी वह वहीं पड़ी-पड़ी महान् विषाद का अनुभव करने लगी। रात्रि में जब क्लब जाने का समय हुआ तव उसका शोक द्विगुणित हो गया और उसने यह सोचा कि अब किसी को अपना मुंह दिखाने के योग्य भी नहीं रही। इस सम्पूर्ण प्रसंग को लेकर कोई कवि उस नव-युवती के शोक को भली प्रकार व्यक्त कर सकता है। किन्तु, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं की सहृदय उसके इस शोक से तिलमात्र भी सहानुभूति नहीं रखेगा। एक सामान्य से कारण पर इतना महान् शोक (जो कि सम्भवतः किसी इष्ट-जन के नाश से भी न होता होगा) करना करुण रस के स्थान पर उपहास ही उत्पन्न करेगा। इस प्रसंग को पढ़ने के उपरान्त चित्त की जो अवस्था होती है वही रसाभास है, जिसमें कि चित्त तल्लीन नहीं रहता। रसाभास के अतिरिक्त भावाभास की अवस्था में भी चित्त इसी प्रकार तल्लीन नहीं रहता। इन दोनों में भेद यह है कि भावाभास की व्याप्ति रसाभास की तुलना में सीमित रहती है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में हमें केवल रसाभास पर विचार करना है। इस स्थिति का उल्लेख आचार्य शुक्ल ने निम्नलिखित शब्दों में किया है—"आलम्बन के प्रति श्रोता की जिस उदासीनता का उल्लेख हुआ है वह सच पूछिए तो विशेषत्व के कारण होती है। जो आलम्बन मनुष्य जाति की सामान्य प्रकृति से सम्बन्ध नहीं रखता, आश्रय की विशेष प्रकृति या स्थिति से ही सम्बन्ध रखता है, उसके प्रति आश्रय

---

१. ये एते भावशान्त्युदयसंधिशबलताध्वनय उदाहृतास्तेऽपि भावध्वनय एव।

—रसगंगाधर, पृ० १०४।

के भाव का भागी श्रोता या पाठक पूर्ण रूप से नहीं हो सकता। इस सहानुभूति के अभाव से रस का पूरा परिपाक न होगा। राम के प्रति रावण के, शकुन्तला के प्रति दुर्वासा के, एक अच्छे राजा के प्रति दूसरे अच्छे राजा के क्रोध के साथ योग देने श्रोता या पाठक का क्रोध नहीं जाएगा। अतः ऐसे क्रोध के अनुभाव सञ्चारी से पुष्ट वर्णन द्वारा भी रौद्र रस की पूर्ण अनुभूति नहीं हो सकती।'[1]

शुक्ल जी का यह उद्धरण सर्वथा स्पष्ट है। रसाभास की सुन्दर व्याख्या है। पर उनके उद्धरण का अन्तिम उदाहरण हमारे विचार में रसाभास का उदाहरण नहीं है। जब एक अच्छे राजा के प्रति दूसरा अच्छा राजा अपना क्रोध व्यक्त करता है तो पाठक उनका विरोध नहीं करता और न उसकी बुद्धि उसके उस क्रोध के प्रति कोई भाव ही व्यक्त करती है। पर रसाभास में आश्रय का विरोध प्रायः अनिवार्य रहता है। अथवा उसके प्रति बुद्धि कुछ न कुछ सोचती अथवा कहती अवश्य है। जब एक अच्छा राजा दूसरे अच्छे राजा के प्रति क्रोध प्रकट करता है तो उस समय पाठक अथवा दर्शक तटस्थ हो जाता है और उदासीन भाव से देखने लगता है कि आगे क्या होता है? शास्त्रीय दृष्टि से हम इसे भाव की श्रेणी में लाते हैं। दोनों ही राजा न्याय पर आरूढ़ हैं, भेद केवल दृष्टिकोण का है। अतः यहां रसाभास का प्रश्न ही नहीं। हां, जिस पर क्रोध व्यक्त किया जा रहा है, उसके विचार से सहृदय अधिक सहमत हुआ तो उसे भी संस्कार-भेद के कारण रसाभास होगा। पर सामान्यतः ऐसे स्थल भाव कोटि में ही परिगणित होते हैं।[2]

४. चौथी स्थिति के लिए एक उदाहरण देखिए—

पाइ इकंत के बाल सौं बालम जो रति रूप कला दरसावै।
नाहीं कढ़े मुख नारि के नाह जहीं हिय सौं हियरा परसावै॥
काम बढ़ौ, 'मतिराम' तहीं अति लाल बिलासनि कों सरसावै।
जोवै त्रसै मन मोवै अनन्द में रोवै-हंसै रसकौं बरसावै॥
—ललित ललाम, २७८।

इस प्रकार की रचनाओं को पढ़ कर सामान्य पाठक कामवासना का सा अनुभव करता है। यह सर्वथा लौकिक भाव है। कवि गण इस प्रकार के लौकिक भाव जागरित करने की क्षमता रखते हैं। यद्यपि काव्यशास्त्र में अभी तक उनकी इस क्षमता का उल्लेख नहीं हुआ तथापि विश्व का बहुत-सा साहित्य उनकी इस शक्ति का प्रमाण प्रस्तुत करता है। हिन्दी के शृंगारी साहित्य, हलके जासूसी उपन्यासों एवं चित्रपटों से सम्बन्धित अनेक पत्रिकाओं में प्रचुरमात्रा में ऐसी उत्तेजक सामग्री उपलब्ध होती है जो कि पाठक के हृदय को दूषित कर देती है और उत्तेजना के प्रत्यक्ष शरीरी आलम्बन के अभाव में उसे व्यग्र करती है। इस प्रकार का लौकिक भाव केवल रति में ही नहीं, अन्य भावों में भी होता है। किसी धार्मिक मतभेद, समाज के प्रति किसी विशेष दृष्टिकोण अथवा किसी राजनीतिक दल का पक्ष लेकर लिखी गई साहित्यिक कृति उस मत के

१. रसमीमांसा, पृ ६२-६३।
२. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० २-३।

विरोधी सहृदय के चित्त में लौकिक ईर्ष्या एवं क्रोध आदि भावों को जन्म देती है। एक आलोचक किसी अन्य आलोचक अथवा साहित्यकार की जानबूझ कर ऐसी आलोचना कर सकता है और अनेक बार करता भी है जिससे इस प्रकार की ईर्ष्या एवं क्रोध आदि की उत्पत्ति होती है। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि ये लौकिक भाव तभी उत्पन्न होंगे जबकि साहित्यकार जानबूझ कर उस प्रकार के लोगों के मन में उक्त प्रकार के भाव उत्पन्न करने के लिए ही उस काव्य की रचना करेगा। अभिप्राय यह कि यदि कोई कवि देश-प्रेम जागरित करने के लिए किसी साहित्य का निर्माण करता है तो उस अवस्था में विदेशी शत्रु सहृदय के चित्त में लौकिक क्रोध का जनक न होकर रसाभास का जनक होगा किन्तु यदि उस साहित्य का उद्देश्य विदेशियों के चित्त में क्रोध उत्पन्न करना है तो वह क्रोध उत्पन्न करने में समर्थ होगा। यदि किसी उपन्यास के नायक और नायिका जीवित हों और उनकी वह कहानी सर्वथा सच्ची हो तो उन दोनों के लिए वह उपन्यास इसी प्रकार का लौकिक भाव उत्पन्न करेगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण के प्रसंग में विशेषीकरण[1] की उपस्थापना करते हुए जो दो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं वे वस्तुतः दोनों ही लौकिक भाव के उदाहरण हैं। उनका कथन है—"जैसे, किसी काव्य में यदि औरंगज़ेब की घोर निष्ठुरता और क्रूरता पर शिवाजी के भीषण क्रोध की व्यञ्जना हो तो पाठक का रसात्मक क्रोध औरंगज़ेब नामक व्यक्ति ही पर होगा, औरंगज़ेब से अलग किसी आरोपित सामान्य मूर्ति पर नहीं। रौद्र-रस की अनुभूति के समय कल्पना औरंगज़ेब की ही रहेगी, किसी भी निष्ठुर या क्रूर व्यक्ति की सामान्य और धुंधली भावना नहीं। पाठक या श्रोता के मन में रह-रह कर यही आएगा कि औरंगज़ेब सामने होता तो उसे खूब पीटते।"[2] किन्तु हमारी सम्मति में यदि सहृदय को यह अनुभव होने लगे कि 'औरंगज़ेब होता तो उसे खूब पीटते' तो उसकी यह अनुभूति रसात्मक (काव्यात्मक) न होकर लौकिक ही कहलाएगी। उसके इस क्रोध को रौद्र रस के अन्तर्गत परिगणित करना अशास्त्रीय होगा। इसी प्रकार उन द्वारा प्रस्तुत द्वितीय उदाहरण भी लौकिक भाव का ही उदाहरण है। उनके अनुसार "कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान धर्म वाली कोई मूर्ति विशेष आ जाती है। जैसे, यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो शृंगार रस की फुटकल उक्तियां सुनने के समय रह-रह कर आलम्बन रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसकी कल्पना में आएगी।"[3] हमारी सम्मति में जिस फुटकल उक्ति को पढ़ कर अपनी प्रेयसी की मूर्ति आंख के सामने आ खड़ी होगी वह वस्तुतः शृंगार रस की उक्ति न होकर तत्क्षण लौकिक शृंगार की उक्ति होगी।

रस में और इस लौकिक भाव की अवस्था में अन्तर यह है कि रसास्वाद की

---

१. देखिए, रसमीमांसा, ३१०-३१२।

२. रसमीमांसा, पृ० २६६-६७।

३. रसमीमांसा, पृ० ३१२।

अवस्था में सहृदय व्यक्ति देश काल, लिंग आदि की सीमाओं से ऊपर उठ जाता है किन्तु इस लौकिक भाव की अवस्था में वह सर्वथा लौकिक बना रहता है। उसके भाव के आलम्बन लौकिक होते हैं। वे किसी देश एवं काल से घिरे रहते हैं। रसमय काव्य की चर्वणा करते हुए जहां पाठक उस काव्य को आद्योपान्त समाप्त करके ही उठना चाहता है, वहां किसी लौकिक भाव को जागरित करने वाले काव्य को वह अनेक बार बीच में ही समाप्त कर देता है, क्योंकि उसका आलम्बन कोई लौकिक स्थिति होती है, जिससे उसका चित्त उस काव्य में टिकना कठिन हो जाता है। रस की अवस्था में रति, क्रोध, शोक आदि भावों के जागरित होने पर अनुभावों के रूप में कुछ शारीरिक चेष्टा होने पर भी सहृदय को एक अद्‌भुत आनन्द की उपलब्धि होती है किन्तु इस लौकिक भाव से इसकी जो शारीरिक चेष्टाएं होती हैं वे कुछ न कुछ हानि करती हैं। क्रोध के आने पर व्यक्ति आग-बबूला हो उठता है और क्रोध के समाप्त होने पर वह कुछ दुर्बलता-सी अनुभव करता है।

ठीक इसी प्रकार रसाभास से भी इस लौकिक भाव की भिन्नता है। रसाभास की अवस्था में यह अनिवार्य है कि जिस रस के विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी हैं, उससे भिन्न कोई भाव जागरित हो, किन्तु लौकिक भाव की उत्पत्ति में ऐसा होना अनिवार्य नहीं। रसाभास में मुख्यतः मन एवं बुद्धि सक्रिय होती है जबकि लौकिक भाव की अवस्था में शरीर (बाह्य चेष्टाएं)।

प्रत्येक साहित्य का पाठक एक विशेष वर्ग होता है। अतः यह लौकिक भाव भी उन्हीं व्यक्तियों के चित्त में उत्पन्न होगा जिनके लिए वह साहित्य लिखा गया है। अन्यों के लिए वह रस अथवा रसाभास हो सकता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि भक्ति रस का साहित्य सांसारिक-जन के लिए किसी अन्य भाव का जनक होता है।

अन्तत :—

(१) किसी भी रसमय काव्यप्रसंग को पढ़ने के उपरान्त चित्त की उक्त चारों अवस्थाओं में से किसी एक अवस्था का हो जाना अनिवार्य है। चित्त की हुई इसी अवस्था के आधार पर ही किसी काव्य-प्रसंग को शास्त्रीय संज्ञा प्रदान करना अधिक वैज्ञानिक होगा।

(२) किसी भी आचार्य ने इस प्रकार स्पष्ट रूप से चित्त की इन अवस्थाओं का उल्लेख नहीं किया था अतः इन अवस्थाओं का आधार उन द्वारा प्रस्तुत उदाहरण रहे हैं। अपने उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयोजन केवल विषय को सुगम रूप से प्रस्तुत करना रहा है।

(३) रसध्वनिवादी आचार्यों ने जिन रसादि आठ तत्त्वों का उल्लेख किया है वे चित्त की विविध अवस्थाओं पर आधारित न होकर आस्वाद की भिन्नता पर आधारित हैं। भाव, भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति एवं भावशबलता इन सभी के प्रसंग चित्त पर एक समान प्रभाव डालने के उपरान्त भी आस्वाद की दृष्टि से कुछ भिन्न हैं। यही स्थिति रसाभास एवं भावाभास की भी है।

(४) भाव एवं लौकिक भाव के परस्पर भेदाभेद की चर्चा तो काव्यशास्त्र में संक्षेप से अवश्य हुई है, किन्तु लौकिक भाव उत्पन्न करने की शक्ति भी कवि के अन्दर विद्यमान है—इस बात का उल्लेख इतने स्पष्ट रूप से सम्भवतः किसी ने नहीं किया। प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट रसाभास के अनेक उदाहरण लौकिक भाव के अन्तर्गत परिगणित किये गये हैं, अतः प्रस्तुत ग्रन्थ के पाठक के लिए इस अवस्था को भली प्रकार समझ लेना अनिवार्य है।

(५) प्रस्तुत ग्रन्थ में रसाभास के स्वरूप का निर्धारण रसाभास से हो गई चित्त की उक्त अवस्था को दृष्टि में रख कर किया जाएगा। हमें उसके स्वरूप-निर्धारण में यही आधार वैज्ञानिक प्रतीत हुआ है। उसका स्वरूप-निर्धारण करने से पूर्व रसाभास शब्द का ऐतिहासिक क्रम से पर्यवेक्षण कर लेना अनिवार्य है।

रसाभास का ऐतिहासिक क्रम से पर्यवेक्षण

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक फ्लिण्ट ने अपनी पुस्तक 'एण्टी थिएस्टिक थिओरीज़' में ईश्वर की सिद्धि के लिए जॉन फॉस्टर द्वारा प्रस्तुत एक अत्यन्त मनोरंजक तर्क उपस्थित किया है। उनका कहना है कि संसार में किसी पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध करना अत्यन्त सरल है जबकि उसका अभाव प्रतिपादित करना अत्यन्त कठिन। यह कहना कि ईश्वर नहीं है—गलत है, क्योंकि किसी भी मनुष्य ने ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अंश में उसे नहीं ढूंढा। और क्योंकि उसमें ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अंश को देखने का सामर्थ्य नहीं है, अतः "ईश्वर नहीं है" यह भी नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत "ईश्वर है" यह कल्पना अत्यन्त सरल है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति इन्द्रिय-गोचर इस संसार की विविध अलौकिक शक्तियों को देखकर उसकी अनुभूति कर सकता है। उसे उसके लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है।[१] उनके इस तर्क से ईश्वर की सिद्धि हो या न हो किन्तु इसमें इतना सत्य अवश्य है कि किसी शब्द का इतिहास प्रस्तुत करते समय यह कहना अत्यन्त सरल है कि अमुक शब्द सर्व प्रथम हमें अमुक स्थल पर उपलब्ध हुआ पर यह कहना अत्यन्त कठिन है कि इससे पूर्व की किसी भी पुस्तक में वह उपलब्ध नहीं है अथवा इससे पूर्व यह शब्द किसी मौखिक विचार-धारा में प्रयुक्त नहीं होता रहा होगा। सम्भव है कि यह शब्द उपलब्ध पुस्तक में कहीं खण्डित हो गया हो अथवा ऐसी पुस्तक में वर्तमान हो जो कि अप्राप्य है। ठीक यही बात रसाभास के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। रसाभास शब्द सर्वप्रथम उद्भट के ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। और उनके प्रयोग से ऐसा ज्ञात होता है कि इस शब्द का प्रयोग उनसे पहले भी विद्यमान रहा होगा। यह भी सम्भव है कि उद्भट ने ध्वनिकार के समकालीन होने के नाते इसे ध्वन्यालोक से ग्रहण किया हो। संक्षेप में यह तो सहज ही कहा जा

---

१. (क) एण्टी थिएस्टिक थिओरीज, पृ० ६,४४६।
(ख) ऐसेज, (जॉन फॉस्टर), पृ० ३५।
(ग) नेचुरल थिओलाजी (चैमर्स)।

सकता है कि रसाभास शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम उद्भट ने किया, पर यह कहना अत्यन्त कठिन है कि उनसे पूर्ववर्ती किसी ने नहीं किया था।

यहां पर यह उल्लेखनीय है कि रसाभास अनौचित्य के एक रूप से सम्बद्ध है अतः रसाभास के ऐतिहासिक-पर्यवेक्षण-प्रसंग में रसाभास-सम्बद्ध अनौचित्य (तथा आवश्यकतानुसार औचित्य भी) का पर्यवेक्षण करना वाञ्छनीय रहेगा।

संस्कृत-आचार्य

(१) भारतीय काव्यशास्त्र का उपलब्ध प्रथम ग्रन्थ भरत प्रणीत नाट्यशास्त्र है। भरत ने न रसाभास शब्द का प्रयोग किया है और न उसमें अनौचित्य का ही उल्लेख है। किन्तु उनके औचित्य वर्णन से अनौचित्य का अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। उनका कथन है कि "लोक ही नाट्य का प्रमाण है।"[१] लोक में जो वस्तु जिस रूप में, जिस वेश में, जिस मुद्रा में उपलब्ध होती है उसका उसी रूप में, उसी वेश में, उसी मुद्रा में अनुकरण करना नाट्य का चरम लक्ष्य है। इसीलिए नाट्य-शास्त्र प्रकृति (पात्र) के भाषा-वेश आदि के विधान पर अत्यधिक बल देता है। यदि कोई चाण्डाल एक ब्रह्मज्ञानी का-सा आचरण करता है तो वह हास्य ही उत्पन्न करेगा। अनेक अध्यायों में भरत ने इस विषय का सांगोपांग वर्णन किया है। इस प्रसंग में भरत की निम्नोक्त कारिकाएं अत्यन्त सारगर्भित हैं—

—अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।
—मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥ —नाट्यशास्त्र, २३।६९, ७०।

जिस देश का जो वेश है, जो आभूषण जिस अंग में पहना जाता है, उससे भिन्न देश में उसका विधान करने पर वह शोभा नहीं पाता। यदि कोई पात्र करधनी को अपने गले में और हाथ में पहने तो वह उपहास का ही पात्र होगा। उनके इस वर्णन में रसाभास का पूर्वरूप स्पष्ट लक्षित है। रसाभास के सम्बन्ध में आचार्य भरत की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उक्ति भी द्रष्टव्य है, "आयु तथा व्यक्ति-भेद से भिन्न-भिन्न रस भिन्न-भिन्न प्रेक्षकों को आस्वाद्य लगते हैं। सभी रस सभी को आस्वाद्य हों, ऐसा नियम नहीं है। तरुण लोग शृंगार रस का आनन्द जितनी मात्रा में ले पाते हैं, उतनी ही मात्रा में अन्य रस उन्हें प्रभावित नहीं करते। इसी प्रकार विरागी-जन को जितना आनन्द शान्त रस के आस्वाद से आएगा उतना शृंगारादि रस उन्हें आकर्षित नहीं करेंगे। शृंगार रस से तो उनका पूर्ण विराग भी हो सकता है—

उत्तमाधममध्यानां वृद्धबालकयोषिताम्।
तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयाश्रिते॥
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षेष्वथ विरागिणः।
नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्॥

---

१. लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकस्वाभावजम्।
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते॥ —नाट्यशास्त्र २६।११३

शूरा बीभत्स रौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च।
धर्माख्यानपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यशः ॥—नाट्यशास्त्र, २७।५९-६१।

रस की चर्वणा में मूलतः सहृदय का चित्त उत्तरदायी है। रसाभास का प्रधान कारण अनौचित्य है और यह अनौचित्य सहृदय के चित्त पर आधारित है। रसाभास शब्द का प्रयोग न करके भी भरत ने परोक्ष रूप से उसकी चर्चा कर दी है।

इसके अतिरिक्त उनका एक वाक्य है—"शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो (६।३२) शृंगारानुकृतिर्यातु स हास्यस्तु कीर्तितः (६।३३) अर्थात् शृंगार से हास्य की उत्पत्ति होती है। शृंगार का जो अनुकरण है वह हास्य कहलाता है। इस कारिका की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने आभास शब्द का उल्लेख किया है। इस प्रकार हम यह कदाचित् मान सकते हैं कि अभिनवगुप्त को रसाभास पर प्रकाश डालने की प्रेरणा भरत के इसी कथन से मिली हो।

(२-४) ऐतिहासिक क्रम में भरत के बाद अलंकारवादी आचार्य आते हैं। इन्होंने रसाभास का ऊर्जस्वि-अलंकार में अन्तर्भाव किया है। भामह[1] तथा दण्डी[2] के उदाहरणों से सर्वथा स्पष्ट है कि जहां कोई व्यभिचारिभाव प्रधान होकर स्थायिभाव को हतप्रभ कर दे वहां ऊर्जस्वि-अलंकार होता है। उद्भट[3] ने ऊर्जस्वि-अलंकार के प्रसंग में अनौचित्य तत्त्व का उल्लेख किया है। इससे सम्भवतः यह अनुमान लगाना असंगत न होगा कि इस प्रकार का उल्लेख तत्कालीन अज्ञात रसध्वनिवादियों के प्रभावस्वरूप ही हो। क्योंकि रसाभास अनौचित्य तत्त्व से सम्बद्ध है और इधर रसाभास और ऊर्जस्वि-अलंकार का भी पारस्परिक सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है। उद्भट लोक और शास्त्र की मर्यादा के अतिक्रमण को ऊर्जस्वि-अलंकार (रसाभास) मानते हैं। उनकी दृष्टि में यही अनौचित्य है। अनौचित्य की यह व्याख्या रसाभास के विवेचन में अपना विशेष महत्त्व रखती है। यद्यपि यहां इन्होंने रसाभास शब्द का प्रयोग नहीं किया तथापि यह निश्चित है कि रसाभास शब्द के विषय में उन्हें ज्ञान अवश्य था, क्योंकि समाहित अलंकार में (रस-रसाभास आदि की शान्ति के प्रसंग में) उन्होंने रसाभास शब्द का प्रयोग किया है।[4] यहां यह उल्लेख करना आवश्यक है कि भामह ने पशुपक्षियों एवं मेघादि द्वारा दौत्यकर्म को अयुक्तिमत् दोष कहा है।[5] आगे के आचार्यों ने तिर्यक्गत भाव को रसाभास के अन्दर परिगणित किया है।

(५-६) यद्यपि रसाभास शब्द का प्रयोग उद्भट ने ही किया था, किन्तु जिस अर्थ में यह शब्द आगे चलकर मान्य एवं प्रचलित हुआ, उस अर्थ में इसका सर्वप्रथम

---

१. काव्यालंकार, ३।७ (देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय ४, 'ऊर्जस्वि अलंकार' प्रकरण।
२. काव्यादर्श, २।२७५ (देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय ४, 'ऊर्जस्वि अलंकार' प्रकरण।
३. काव्यालंकारसार-संग्रह, पृ० ५४ (देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय ४, 'ऊर्जस्वि अलंकार प्रकरण।
४. काव्यालंकारसार-संग्रह, पृ० ५६।
५. काव्यालंकार, १।४२-४४।

प्रयोग करने का श्रेय ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन को ही है । इन्होंने रसाभास को रस की ही भांति असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का एक भेद माना है ।[१] यहां यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि आनन्दवर्द्धन ने अनौचित्य शब्द का प्रयोग रसाभास के प्रसंग में न करके (जैसा कि हम आगे देखेंगे) रसभंग के प्रसंग में किया है किन्तु इन्हीं के ही टीकाकार अभिनवगुप्त ने अनौचित्य को रसाभास का हेतु निर्दिष्ट करते हुए इसी प्रसंग में अनौचित्य शब्द का प्रयोग किया है । उन्हें इस तत्त्व की प्रेरणा भरत के अनुकृति शब्द से मिली है ।[२] इनके अनुसार अनुकृति, अमुख्यता और आभास इन सबका एक अर्थ है ।[३] रस का आस्वादन तो मुख्यतया रति आदि भावों में होगा, अमुख्य या आभास आदि भावों में नहीं । इस सम्बन्ध में उनका यह कथन भी महत्त्वपूर्ण है कि अनौचित्य के कारण रस हास्य रस में परिवर्तित हो जाता है । यथा—निर्वेद जब मोक्ष का हेतु न होने पर भी तदाभास मोक्ष हेतु सा प्रतीत हो वहां शान्ताभास हास्य रस भी होता है । इसी प्रकार जिसका बन्धु नहीं है उसके विषय में वर्णित शोक भी हास्य रस का ही विषय है ।[४] इसके अतिरिक्त इन्होंने शृंगार में अनौचित्य का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है उसमें अनुभयनिष्ठ रति के कारण रसाभास है । इनके अनुसार अज्ञान के कारण जिस प्रकार सीप में चांदी का आभास होता है उसी प्रकार अविवेकी पुरुष को अनौचित्य वर्णन में भी रस की प्रतिति होती है ।[५]

इस प्रकार रसाभास के सम्बन्ध में हमारे सम्मुख तीन तथ्य उपस्थित होते हैं जिनके आधार पर परवर्ती आचार्यों ने इसका निरूपण किया है ।

(क) रसाभास असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य (रसादि) का एक भेद होने के कारण वस्तुध्वनि और अलंकार ध्वनि से उत्कृष्ट काव्य है ।

(ख) रसाभास का प्रधान कारण अनौचित्य है जो कि अनुकृति-जन्य भी हो सकता है ।

(ग) रसाभास रस की उत्तरकालिक स्थिति है ।

(७) आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त के उपरान्त महिमभट्ट ने अपने ग्रन्थ व्यक्ति विवेक में रसाभास का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे रस के अनौचित्य से—जो कि रसाभास का सहायक एवं स्वरूप-निर्देशक है—परिचित अवश्य थे । अन्तरंग अनौचित्य को उन्होंने रस से संबद्ध किया है—अन्तरंगमिति साक्षात् रसविषयत्वात् ।

(८) औचित्य सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य क्षेमेन्द्र ने रसौचित्य के प्रसंग में

---

१. रसभाव-तदाभास-तत्प्रशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ।। —ध्वन्या० २।३।

२ देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय २, 'रसाभास और अनुकृति' प्रकरण ।

३. अनुकृतिरमुख्यता आभास इति ह्येकोऽर्थः । —ध्वन्या०, लोच० पृ० १७६ ।

४. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५२० ।

५. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय २, 'आभास शब्द का अर्थ' प्रकरण ।

जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उनसे स्पष्ट है कि उन्हें रसाभास का ज्ञान था;[१] किन्तु उन्होंने रसाभास की विवेचना प्रस्तुत नहीं की ।

(९) अभिनवगुप्त के उपरान्त भोजराज प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने रसाभास के विषय में व्यवस्थित सामग्री प्रस्तुत की है । इन्होंने रसाभास कहां होता है इस पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

हीनपात्रेषुतिर्युक्षुनायकप्रतियोगिषु ।
गौणेष्वेव पदार्थेषु तदाभासं विजानते ।।

—सरस्वती कण्ठाभरण, ५।३०।

अर्थात् हीन पात्रों में, तिर्यक् (गतभाव) में नायक के प्रतियोगी में, तथा गौण पदार्थों (सम्भवतः निरन्द्रियगत) में (निर्दिष्ट भाव) उस रस का आभास होता है । यद्यपि भोजराज ने अपनी इस स्थापना की विवेचना प्रस्तुत नहीं की तथापि उत्तरकालीन आचार्यों ने भोजराज की इस व्यवस्थित सामग्री का पूरा लाभ उठाया है ।

(१०) इनके उपरान्त मम्मट ने रसाभास के सम्बन्ध में कोई नूतन उपस्थापना नहीं की । केवल अनौचित्य को रसाभास के लक्षण से सम्बद्ध किया है । किन्तु उन्होंने बहुनायकनिष्ठ रति का उदाहरण प्रस्तुत करके रसाभास की विषय-सीमा में विस्तार अवश्य किया है । इनके टीकाकार वामन झलकीकर ने उद्भट की भांति लोकशास्त्र के अतिक्रमण को रसाभास कहा है और अभिनवगुप्त के अनुकरण पर इसे रस की उत्तरकालिक स्थिति के रूप में स्वीकार किया है । अर्थात् वे रसाभास से पूर्ववर्ती स्थिति में रस प्राप्त होता है—इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं ।[२] काव्यप्रकाश की एक अन्य टीका सुधासागर के प्रणेता ने रसाभास का एक अन्य कारण निर्देश करते हुए कहा है कि प्रकर्ष विरोधी अनौचित्य से रसाभास होता है ।[३] प्रकर्ष के विरोध से तात्पर्य अंगीरस को अंगरस के रूप में प्रकट करना है । इन्होंने भोजराज की भांति तिर्यक् गत भाव को रसाभास स्वीकार नहीं किया जब कि काव्यप्रकाश के प्रख्यात टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने रसाभास स्वीकार किया है ।[४]

(११) हेमचन्द्र निरिन्द्रिय और तिर्यक्गत भाव में रसाभास स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार रसाभास के वर्णन में समासोक्ति, अर्थातरन्यास, उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा तथा श्लेष इनमें से कोई अलंकार प्रायः अवश्य ही होगा ।[५] इन अलंकारों में प्रायः अप्रस्तुत (निरिन्द्रिय) का वर्णन रहता है जो कि बुद्धि पर अनुकूल, विषय के प्रतिकूल प्रभाव डालता है । रसाभास के प्रसंग में उनकी यह स्थापना अपना विशेष महत्त्व रखती है ।

---

१. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय, ४, 'रसाभास और औचित्य तत्त्व' प्रकरण ।
२. काव्य प्रकाश, पृ० १२१ ।
३. काव्य प्रकाश, पृ० १२१ ।
४. काव्य प्रकाश, पृ० १२१ ।
५. काव्यानुशासन, २।५४

(१२) आचार्य रुय्यक ने अविषय में प्रवृत्ति को ऊर्जस्वि-अलंकार माना है। इन्होंने इस अलंकार का वही उदाहरण प्रस्तुत किया है जो अभिनवगुप्त ने शृंगाराभास के कारण हास्य में परिवर्तित होने में दिया है।[1]

(१३-१४) चन्द्रालोक के रचयिता जयदेव ने केवल अनौचित्य तत्त्व की पुनरावृत्ति की है और बहुनायकनिष्ठ रति को रसाभास माना है। एकावली के रचयिता विद्याधर ने काव्य में तिर्यग्-गत भाव का सोदाहरण विस्तृत विवेचन प्रस्तुत कर उसे रसाभास न मान रस ही स्वीकार किया है।[2]

(१५) भोजराज के उपरान्त विश्वनाथ ने इस सम्बन्ध में अत्यन्त विस्तृत एवं व्यवस्थित सामग्री प्रस्तुत की है। सर्वप्रथम इन्होंने सभी रसों में अनौचित्य दिखलाया है और विभिन्न रसों में रसाभास के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इनके अनुसार उपनायकनिष्ठ, मुनि-गुरु-पत्नी-गत, बहुनायक-विषयक, अनुभयनिष्ठ, प्रतिनायक-निष्ठ, अधम-पात्रगत तथा तिर्यक्गत रति में रसाभास होता है। गुरु आदि में रौद्र, हीन पात्र में शान्त, गुरु के प्रति हास्य, ब्राह्मण वध में उत्साह, अथवा अधम पात्र में निर्दिष्ट उत्साह तथा उत्तम पात्र में निर्दिष्ट भय भयानक रस का रसाभास होता है। इसके अतिरिक्त विभावादि की न्यूनता के कारण रसाभास हो जाने का उल्लेख भी सर्वप्रथम विश्वनाथ ने ही किया है।[3] विश्वनाथ ने रसाभास के आस्वादन को भी स्वीकार किया है।[4]

(१६-१९) केशवमिश्र ने 'अनौचिती' को महान् रसदोष माना है। उनके अनुसार पार्वती एवं शंकर का केली वर्णन अनौचित्य है।[5] शारदातनय और शिंगभूपाल ने रस को अंगीरस से अधिक प्रतिष्ठा देने से रसाभास माना है।[6] शारदातनय ने विरोधी रसों के परस्पर मिश्रण से रसाभास स्वीकार किया है। उन्होंने इस प्रसंग में यह भी स्पष्ट किया है कि किन दो रसों के परस्पर मिश्रण से किस रस का रसाभास होता है। शिंगभूपाल अनौचित्य के दो भेद करते हैं—असत्यत्व और अयोग्यत्व। असत्यत्व के कारण वृक्षादि के रत्यादि वर्णन में रसाभास होता है। अर्थात् ये निरिन्द्रिय वृक्षादिगत भाव को रसाभास मानते हैं। इन्होंने ही शृंगार रसाभास के चार भेद किए हैं—अराग (अनुभय निष्ठ), अनेक-राग, (बहुनिष्ठ), तिर्यक्-राग और म्लेच्छ-राग

---

१. अलंकार सर्वस्व, पृ० २३२।

२. (क) चन्द्रालोक, ६।१९, पृ० २१९। (ख) देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय 'तिर्यक्गत भाव' प्रकण।

३. अनौचित्यं चात्र रसानां भरतादिप्रणीतलक्षणानां सामग्रीरहितत्वे सत्येकदेशयोगित्वोपलक्षणपरं बोध्यम्।—सा० द०, पृ० १२५।

४. रसभावौ तदाभासौ···सर्वेऽपि रसनाद्रसाः।
रसनधर्मयोगित्वाद्भावादिष्वपि रसत्वमुपचारादित्यभिप्रायः।—सा० द०, पृ० १२४।

५. अलंकार शेखर, पृ० ८८।

६. (क) भावप्रकाशन, पृ० १३३।
(ख) अंगेनांगी रसः स्वेच्छावृत्ति र्विधित सम्पदा। र० सु०, २६३

(अधमपात्र निष्ठ)। इन्होंने दक्षिण नायक की रति को रसाभास नहीं माना। क्योंकि उसमें अनेक नायिकाएं एक के लिए ही व्यवस्थित होती हैं।[१] नायक का उन सब के प्रति समान व्यवहार होता है। भानुमिश्र का भी कथन है कि यदि किसी नायक के लिए अनेक नायिकाएं व्यवस्थित कर दी गई हों तो वहां रसाभास नहीं होगा। यथा उन्होंने कृष्ण-गोपियों के प्रसंग को रसाभास के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया।[२]

(२०) रूपगोस्वामी ने रसाभास के उपरस, अनुरस तथा अपरस तीन भेद करके इन्हें क्रमशः उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ माना है तथा इनका सविस्तार सोदाहरण विवेचन किया है।[३] विभावादि सामग्री में वैरूप्य के कारण बारहों रसों के आभासों को उपरस[४] और कृष्ण के प्रतिपक्षी में वर्णित भाव-प्रदर्शन को इन्होंने अपरस रसाभास कहा है।[५] इन्होंने उपरस में एकनिष्ठ, अनेकनिष्ठ, लता-आदि-गत, पशुगत, वृद्धागत रति में तथा धृष्टता, ग्राम्यता (हीन पात्र) आदि के कारण रसाभास स्वीकार किया है। इन्होंने अनुरस में भक्ति रस को छोड़कर शेष सभी रसों को रसाभास के अन्तर्गत माना है।[६] इसके अतिरिक्त कृष्णादि विभाव इत्यादि के द्वारा भी यदि ये आठों रस तटस्थों में प्रकटता को धारण करते हैं तो भी अनुरस ही माने जाते हैं।[७] किन्तु वस्तुतः उनकी यह स्थापना उनके एकांगी दृष्टिकोण की द्योतक है।

(२१) रसाभास पर संस्कृत के काव्यशास्त्रियों में सबसे अधिक गम्भीरता से विचार पण्डितराज जगन्नाथ ने किया है। जगन्नाथ ने उपनायक-निष्ठ, अनुभयनिष्ठ एवं बहुनायक-निष्ठ रति से रसाभास के उदाहरण प्रस्तुत करने के उपरान्त अन्य रसों में भी रसाभास निर्दिष्ट किया है। उनके अनुसार कलहशील कुपूत एवं वीतराग आदि के विषय में वर्णन किया जाने वाला शोक, ब्रह्मविद्या के अनधिकारी चाण्डालादिकों में वर्णन किया जाने वाला निर्वेद, निन्दनीय और कायर पुरुषों में तथा पिता प्रभृति के विषय में वर्णित क्रोध एवं उत्साह, गुरुजन आदि के प्रति हास, महावीर में भय, एवं यज्ञ के चरबी-रुधिर आदि में जुगुप्सा के वर्णन से रसाभास होता है। उन्होंने इस प्रसंग में निम्नोक्त नूतन सामग्री प्रस्तुत की है—

---

१. रसार्णवसुधाकर, पृ० २०६।
२. रसतरंगिणी, पृ० १७८।
३. स्युस्त्रिधोपरसाश्चानुरसाश्चापरसाश्च ते।
उत्तमा मध्यमाः प्रोक्ताः कनिष्ठाश्चेत्यमी क्रमात्॥ हरिभक्ति रसामृतसिंधु ६।२।
४. प्राप्तैः स्थायि विभावानुभावाद्यैस्तु विरूपताम्।
शान्तादयो रसा एव द्वादशोपरसा मताः॥ वही, ६।३।
५. कृष्ण तत्प्रतिपक्षाश्चेद्विषमाश्रयतां गताः। वही, ६।२२।
६. भक्तादिभिर्विभावाद्यैः कृष्णसम्बन्धवर्जितैः।
रसा हास्यादयः सप्त शान्तश्चानुरसामताः। वही, ६।२०।
७. अष्टावमी तटस्थेषु प्राकट्यं यदि बिभ्रति। ६।२१।
कृष्णादिभिर्विभावाद्यैस्तदाप्यनुरसा मता।६।२२।

(क) रसाभास में अनौचित्य स्थायी भाव में होता है। इनसे पूर्व के आचार्यों ने अनौचित्य विभाव में माना था। पर उनका कथन है कि अनौचित्य केवल विभाव में मानने से अनेक नायकों की एक नायिका में रति का ग्रहण नहीं होगा। (ख) शिंगभूपाल आदि के विरुद्ध उनके अनुसार द्रौपदी और पाण्डवों की रति रसाभास ही है, भले ही वह लोकानुमोदित क्यों न हो। (ग) रसाभास में रस की स्थिति इन्हें स्वीकार है।

(२२-२६) जगन्नाथ के उपरान्त नरेन्द्रप्रभसूरि ने सीता में रावण की रति को परवनिता में निर्दिष्ट रति के कारण रसाभास कहा है, जबकि अन्य आचार्यों ने इसे अनुभयनिष्ठ रति के कारण रसाभास स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त वे अधमपात्र, तिर्यक्-गत एवं निरिन्द्रिय-गत-रति में भी रसाभास स्वीकार करते हैं।[1] अभिनव कालिदास ने अनुभयनिष्ठ, तिर्यक्गत, म्लेच्छगत, (अधम पात्र-निष्ठ) एवं बहुनायक-निष्ठ रति को रसाभास स्वीकार किया है।[2] अल्लराज ने अनुभयनिष्ठ-रति तथा अनेक-निष्ठ-रति में रसाभास माना है।[3] साहित्यसार के रचयिता श्री अच्युताचार्य रसाभास की उत्पत्ति अंसमतावलम्बन (लोकाचार हीनता) तथा अयोग्य विषयता (अनुचित विभाव) से मानते हैं।[4] कुमार स्वामी[5] और राजचूड़ामणि तिर्यग् योनि-गत रति को रस के अन्तर्गत मानते हैं। हरिपाल ने इसे संभोग रस माना है।[6]

संकृत आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रसाभास विषयक सामग्री का पर्यवेक्षण करने के उपरान्त अन्त में रसाभास के सम्बन्ध में निम्नोक्त तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) सभी आचार्यों ने रसाभास का आधार अनौचित्य स्वीकार किया है।

(२) उद्भट, जगन्नाथ एवं काव्यप्रकाश के टीकाकार वामन झलकीकर के अनुसार अनौचित्य से अभिप्राय शास्त्र एवं लोक का अतिक्रमण है। अन्य आचार्यों ने भी परोक्ष रूप से यही स्वीकार किया है।

(३) भोजराज, काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर, हेमचन्द्र, विश्वनाथ शिंगभूपाल, रूपगोस्वामी, नरेन्द्रप्रभसूरि एवं नरसिंह तिर्यक्गतभाव को रसाभास स्वीकार करते हैं, किन्तु काव्यप्रकाश के टीकाकार सुधासागरकार, विद्याधर, हरिपाल, कुमार स्वामी तथा राजचूड़ामणि तिर्यक्गतभाव को रसाभास स्वीकार न कर रस ही मानते हैं।

(४) भोजराज, हेमचन्द्र, शिंगभूपाल, रूपगोस्वामी एवं नरेन्द्रप्रभसूरि निरिन्द्रियगत भाव में रसाभास मानते हैं।

(५) शारदातनय ने विरोधी रसों के संयोजन से तथा शारदातनय, शिंगभूपाल

---

१. अलंकार महोदधि, पृ० ६६-६७।
२. नञ्जराज यशोभूषण, पृ० ३८।
३. रसरत्न प्रदीपिका, पृ० ३६।
४. साहित्यसार, पृ० १३६।
५. देखिए, रससिद्धान्तः स्वरूप विश्लेषण, पृ० २४८।
६. नम्बर ऑफ रसाज, पृ० १४५।

एवं काव्यप्रकाश की टीका सुधासागर के प्रणेता ने अंगरस को अंगी रस से अधिक प्रमुखता देने के कारण रसाभास स्वीकार किया है।

(६) निम्नोक्त प्रसंगों में शृंगार रसाभास की स्वीकृति की गयी है—

— विश्वनाथ एवं जगन्नाथ ने उपनायक-निष्ठ रति में,

— विश्वनाथ ने मुनि, गुरुपत्नी आदि निष्ठ रति में,

— मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ, शिंगभूपाल, रूपगोस्वामी, जगन्नाथ, अभिनव-कालिदास, एवं अल्लराज ने बहुनायक निष्ठ रति में,

— अभिनवगुप्त, विश्वनाथ, शिंगभूपाल, रूपगोस्वामी, जगन्नाथ, नरेन्द्रप्रभ-सूरि, अभिनव कालिदास, अल्लराज ने अनुभयनिष्ठ रति में।

— भोजराज, विश्वनाथ एवं रूपगोस्वामी ने प्रतिनायक निष्ठ रति में,

— भोजराज, विश्वनाथ, शिंगभूपाल, नरेन्द्रप्रभसूरि, रूपगोस्वामी एवं अभिनव कालिदास ने अधम पात्र निष्ठ रति में,

— रूपगोस्वामी ने वृद्धागत रति में एवं धृष्टता के कारण, रसाभास माना है।

(७) शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों में रसाभास का स्पष्ट निर्देश अभिनव-गुप्त, विश्वनाथ, रूपगोस्वामी एवं जगन्नाथ ने किया है।

(८) अलंकारवादी आचार्यों ने रसाभास का अन्तर्भाव ऊर्जस्वि-अलंकार में किया है। हेमचन्द्र ने कुछ अलंकारों को रसाभास का जीवित कहा है।

(९) रसाभास के सम्बन्ध में निम्नोक्त अन्य तथ्य भी प्रस्तुत किये गये—

— रसाभास रस की उत्तरकालिक अवस्था है।—अभिनव गुप्त

— रसाभास विभावादि की न्यूनता के कारण होता है।—विश्वनाथ।

— किसी रस का आभास हास्य में परिवर्तित हो जाता है।—अभिनवगुप्त।

— रसाभास की अवस्था में रस विद्यमान रहता है—जगन्नाथ।

— रसाभास असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य का भेद है। अतः वह आस्वादमय है।—

—आनन्दवर्धन, विश्वनाथ

हिन्दी के आचार्य

संस्कृत काव्याचार्यों द्वारा प्रस्तुत रसाभास विषयक उल्लेख के उपरान्त हिन्दी रीति-आचार्यों द्वारा एतद्विषयक विवेचन पिष्टपेषण मात्र है। इन आचार्यों ने अपने लक्षणों में केवल मम्मट और उनके अनुवर्ती आचार्यों के आधार पर अनौचित्य की ही चर्चा की है और उदाहरण प्रायः शृंगार रसाभास के दिये हैं। उनके विश्लेशण से यद्यपि कोई गम्भीर निष्कर्ष उपस्थित नहीं होते तथापि परिचिति की दृष्टि से उनका उल्लेख अनिवार्य है। हां, सोमनाथ और भिखारीदास के लक्षण महत्त्वपूर्ण हैं। उनसे रसाभास के स्वरूप पर किञ्चित् नवीन प्रकाश पड़ता है।

(१) सर्वप्रथम कुलपति ने रसाभास का लक्षण प्रस्तुत किया है—

अनुचित है रस-भाव जहां, तैं कहिये आभास।
रसाभास ता मैं कहत सुनिये सहित हुलास॥ रस रहस्य ३।९८

इस प्रसंग में यद्यपि इन्होंने अनौचित्य शब्द की व्याख्या नहीं की तथापि रसाभास के जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उनसे अनौचित्य शब्द के अर्थ का अनुमान लग जाता है। इन्होंने रसाभास के दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। जिनमें से एक बहुनायक-निष्ठ रति का है और दूसरा बहुनायिका-निष्ठ रति का। संस्कृत काव्याचार्यों ने इसे घोर अनौचित्य कहा था और इसे रसाभास के अन्तर्गत परिगणित किया था। रीतिकाल के आचार्यों ने उसी पुरानी लीक का अनुसरण कर बहुनायक-निष्ठ रति को अनौचित्य मान कर उसके उदाहरण को रसाभास का उदाहरण स्वीकार कर लिया है। चिन्तामणि ने भी 'अनुचित विषयक रति जु है सोइ रस आभास' कहा है।[1]

(२) हिन्दी के आचार्यों में सोमनाथ द्वारा प्रस्तुत लक्षण महत्त्वपूर्ण है। रसाभास के सम्बन्ध में यह प्रमुख प्रश्न है कि इस अवस्था में आनन्दानुभूति होती है अथवा नहीं ? सोमनाथ के अनुसार रसाभास के उदाहरण रसिकों को सुख प्रदान करने वाले होते हैं। उनका कथन है—

अनलायक रस वरनिये जहं कवित्त में आय।
रसाभास तासों कहैं सकल रसिक सुख पाय ।।—रसपीयूष निधि, १७।१६।

अभी तक किसी भी आचार्य ने प्रत्यक्ष रूप से इस बात का उल्लेख नहीं किया था। यद्यपि सोमनाथ का यह मत विचारणीय है तथापि इस कथन में नवीनता अवश्य है।

(३) सोमनाथ के मत के विपरीत आचार्य भिखारीदास का लक्षण है जो कि रसाभास की अवस्था को रसहीन मानता है—

रस सों भास्ति होत है जहां न रस की बात।
रसाभास तासों कहैं जै हैं मति-अवदात ।।—रससारांश, ५६६।

अर्थात् रसाभास के प्रसंगों में रस का सर्वथा अभाव होता है।

(४-११) बाद के सभी रीति-आचार्यों ने रसाभास के प्रचलित लक्षण प्रस्तुत किये हैं। प्रतापसाहि का लक्षण कुलपति के अनुसरण पर है।[2] पद्माकर ने अपने लक्षण में इसी अनौचित्य तत्त्व की व्याख्या की है—

रसाभास अनुचित करम करब अयोग्य विलास।
हास्य करब गुरु निगम को सुत पितु सो रननास ।।—पद्माभरण, २६३।

रसाभास अनुचित कर्म है, अयोग्य विलास (शृंगार), गुरु के प्रति हास्य एवं पिता-पुत्र

---

१. (क) रस रहस्य, ३।६६ देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय ६. बहुनायकनिष्ठरति प्रकरण।
(ख) भाव का अंग रसाभाष यथा—
इक चुम्बत इक कर गहत, आलिंगत भरि बांह।
तुम बैरिन की बाम बन, भ्रमति फिरति बिन नांह ।। रसरहस्य ४।६
(ग) कविकुल कल्पतरु पृ० २१४।

२. जहं अनुचित रस भाव को रसाभास तहं जानि।
रस ग्रन्थन अवगाहि कै कविजन कहत बखानि ।। —काव्य विलास, ३।७८।

का कलह रसाभास के लक्षण हैं। रसाभास का यह लक्षण सर्वथा स्पष्ट है। कवि हरिचरण दास ने चमत्कार-चन्द्रिका में इसी लक्षण को कुछ परिवर्तित कर प्रस्तुत किया है।[१] उजियारे कवि ने अनुभय-निष्ठ रति को रसाभास कहा है।[२] जनराज, सरदार कवि तथा रसविवेक के कर्त्ता ने आभास की परिभाषा अनुचित कह कर की है।[३] भानु कवि ने इसी अनौचित्य की चर्चा करके चर और अचर सभी के अमर्यादित शृंगार को रसाभास के अन्तर्गत परिगणित किया है।[४]

(१२) इस प्रसंग में श्री रमाकान्त शर्मा द्वारा विरचित प्रेमसुधारत्नाकर नामक एक भक्ति-ग्रन्थ का उल्लेख आवश्यक है। श्री रूपगोस्वामी विरचित हरिभक्ति-रसामृत सिन्धु से यह पूर्णतः प्रभावित है। यद्यपि इस ग्रन्थ में रसाभास शीर्षक से रसाभास का पृथक् विवेचन उपलब्ध होता है तथापि उससे पहले रत्याभास, सात्विकाभास एवं आभासों का वर्णन भी रसाभास से ही सम्बन्धित है।[५]

(१३-२०) आधुनिक संग्रहकर्ता आचार्यों में अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, कन्हैयालाल पोद्दार, पं० रामदहिन मिश्र, पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का नाम उल्लेखनीय है।[६] यद्यपि उन्होंने रसाभास के सम्बन्ध में पुराने आचार्यों के मतों को ही स्वीकार किया है तथापि प्रत्येक रस के आभास के हिन्दी उदाहरणों का चयन करने में इन्होंने अत्यधिक परिश्रम किया है। इनके अतिरिक्त पं० हरिशंकर शर्मा, गुलाबराय, किशोरीदास वाजपेयी, शान्तिलाल जैन बालेन्दु ने भी अपने ग्रन्थों में रसाभास की चर्चा की है, तथा रसाभास को अपने ढंग से स्पष्ट किया है।[७]

(२१-२५) इसी प्रसंग में उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त कतिपय अन्य रीतिकालीन एवं आधुनिक काल के आचार्यों का नाम भी उल्लेखनीय है जिन्होंने ऊर्जस्वि-

---

१. रसाभास अनुचित करे, पुत्र पिता सों रार।
हांसि करे गुरुदेव की, रमे अगम्या नार ॥ —चमत्कार-चंद्रिका, ४५४, पृ० ७३।

२. जुगल प्रकाश, ५५-५६।

३. (क) कै अनुचित रस भावजित तैं कहियै आभास। —कविता रसविनोद, पृ० ७६।
(ख) अनुचित रस होय तहां रसाभास। —मानस रहस्य, पृ० ४०।
(ग) रस विवेक, पृ० ८३।

४. रसाभास अनुचित कथन सीमा सो नहिं काम।
चराचरहुं मर्य्याद तजि भये सकल बस काम ॥ —रस रत्नाकर, पृ० १०४।

५. देखिए, प्रेमसुधा रत्नाकर, पृ० ११-१२, ७१-७२, ९२-९३, १६९-१७१।

६. (क) रसकलस, पृ० ६४-७२। (ख) काव्यकल्पद्रुम, पृ० १४९-१५१; रसमंजरी, २८२-२८६। (ग) काव्यालोक, पृ० २६३-२६८, (घ) काव्यदर्पण, पृ० २९३; (ङ) रसवाटिका, १२८-२९।

७. (क) रसरत्नाकर, पृ० ४२-५५; (ख) नवरस, पृ० ५७९-८१।
(ग) रस और अलंकार, पृ० ८४; काव्य प्रवेशिका, पृ० ९४-९६।
(घ) हिन्दी काव्य शास्त्र, पृ० ७३-७४।

अलंकार का वर्णन किया है, जिससे रसाभास के अनेक उदाहरण उपलब्ध हो गये हैं।[1] उन आचार्यों में केशव, देव, कविराज राव गुलाबसिंह, कविराज मुरारीदान, पं० रमाशंकर शुक्ल रसाल का नाम उल्लेखनीय है।

(२६) इस प्रसंग में हिन्दी के सुविज्ञ आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नाम अत्यन्त आदर से ग्रहण करना चाहिए। इन्होंने रस अथवा साधारणीकरण के प्रसंग में रसाभास के स्वरूप को कुछ स्थलों पर रसाभास शब्द का प्रयोग करके और कुछ स्थलों पर रसाभास शब्द का बिना प्रयोग किये ही भली प्रकार स्पष्ट किया है। इनके अनुसार पात्र द्वारा भाव की व्यंजना करने में कवि के दो रूप होते हैं—सहज और आरोपित। इनमें से आरोपित भाव वस्तुतः रसाभास ही है। एक अन्य स्थल पर इन्होंने लिखा है—"जैसे कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा।" उनके अनुसार ऐसे स्थलों पर पाठक शीलद्रष्टा के रूप में होता है और इसके चित्त में उस क्रोध व्यक्त करने वाले के ही प्रति घृणा आदि कोई भाव जागरित हो जाता है।[2] उनके ये कथन रसाभास के विषय में नवीन विचारधारा को जन्म देते हैं।

(२७-२९) इस प्रसंग में डॉ० राकेश गुप्त, डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित, डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त एवं डॉ० तारकनाथ बाली के नामों का उल्लेख करना अनिवार्य है।[3] इन्होंने अपने प्रबन्धों में प्रसंगवश रसाभास का विवेचन प्रस्तुत किया है।

(३०) डॉ० नगेन्द्र ने अपने सुविचारित ग्रन्थ 'रस सिद्धान्त' में रसाभास का तात्त्विक विवेचन किया है।[4]

(३१) डॉ० कृष्णदेव झारी ने भी 'रस शास्त्र और साहित्य समीक्षा' में रसाभास पर विचार किया है।[5]

अन्त में निष्कर्ष रूप में निम्नोक्त तथ्य द्रष्टव्य हैं—

(१) संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रसाभास का विषय यद्यपि हिन्दी आचार्यों की तुलना में अधिक गुरु है तथापि उसमें भी अनिवार्य गम्भीरता का अभाव है।

(२) किसी भी आचार्य ने रसाभास का शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक विवेचन कर

---

१. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय ४, 'ऊर्जस्वि अलंकार' प्रकरण।

२. रसमीमांसा, पृ० ९१, ३१४।

३. (क) साइकोलोजिकल स्टडीज इन रस, पृ० १६७।
   (ख) रससिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण, पृ० २३१-२५६।
   (ग) रस गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० ३३०-३३९।
   (घ) रससिद्धान्त का दार्शनिक तथा नैतिक विवेचन।

४. रस सिद्धान्त, पृ० ३०६-३१६।

५. रस शास्त्र और साहित्य समीक्षा, पृ० १५२-१६६।

उसे तर्कसंगत परिणति तक ले जाने का प्रयत्न नहीं किया। सच तो यह है कि वे रसादि में रस सिद्धान्त के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर विवेचन एवं विश्लेषण में दत्त-चित्त रहे, उन्हें रसाभास पर विचार करने का अवकाश नहीं रहा अथवा इस पर गम्भीर विचार करने की उन्होंने आवश्यकता अनुभव नहीं की।

(३) सभी आचार्यों ने इसका स्वरूप अनौचित्य पर आधारित किया है; और नैतिक सीमाओं में आबद्ध होने के कारण अनौचित्य का आधार मुख्यतः अनैतिक तत्त्व स्वीकार किये हैं। चित्त पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले अन्य तत्त्वों—तिर्यगादिगत भाव, निरिन्द्रयगत भाव, विरोधी भाव का आगमन, अंग रस की प्रमुखता का इस प्रसंग में किसी-किसी आचार्य ने उल्लेख मात्र किया है। कुल मिलाकर वे रसाभास का कोई सुनिश्चित स्वरूप प्रकट नहीं कर पाए। इसकी अनुभूति एवं रसाभास के प्रसंग में हुई चित्त की अवस्था के सम्बन्ध में इन्होंने कोई अन्तिम निष्कर्ष प्रस्तुत नहीं किया। किन्तु फिर भी इनके रसाभास के सम्बन्ध में दिए गए संकेत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उनका विस्तार करके रसाभास के सम्बन्ध में अनेक प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ इन्हीं संकेतों के आधार पर एक विनम्र प्रयास है।

(४) संस्कृत आचार्यों की तुलना में हिन्दी आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रसाभास का विवेचन अत्यन्त सामान्य है। इन्होंने उसका उल्लेख मात्र किया है।

द्वितीय अध्याय

रसाभास का लक्षण एवं स्वरूप

ध्वनि के प्रमुख भेदों में से एक भेद असंलक्ष्यक्रम ध्वनि है, जो कि रसादि का पर्यायवाची है। रसादि से तात्पर्य है रस के अतिरिक्त सात अन्य तत्त्व—भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावशबलता और भावसन्धि। इन सबकी अभिव्यक्ति-सामग्री भी रस के समान है। रसाभास के स्वरूप-विवेचन से पूर्व निम्नोक्त सामग्री पर प्रकाश डालना अपेक्षित है—विभाव, अनुभाव, संचारिभाव और स्थायिभाव।

रसाभास और विभाव

विभाव के दो भेद बताये गये हैं—(१) आलम्बन तथा (२) उद्दीपन। आलम्बन विभाव के भी दो भेद हैं—(१) विषय तथा (२) आश्रय। शकुन्तला को देख कर यदि दुष्यन्त के मन में रति जागरित होती है तो शकुन्तला उस रति का विषय है और दुष्यन्त उस रति का आश्रय। प्रत्येक रस के आलम्बन अपनी-अपनी विशिष्ट प्रकार की योग्यता रखते हैं। शारदातनय का विचार है कि श्रृंगार रस के आलम्बन मधुर, सुकुमार तथा रूप-यौवन-सम्पन्न तन्वंगी तथा तरुण होते हैं। व्यंग्य, विकृताकार तथा परचेष्टानुकारी व्यक्ति हास्य के; त्यागी, सत्य-सम्पन्न, शूर-वीर तथा विक्रमशील पुरुष वीर रस के; इसी प्रकार महारण्य में प्रविष्ट, महान् संग्राम में गये हुए अथवा गुरु तथा राजा के अपराधी लोग भयानक रस के आलम्बन होते हैं।[1] विज्ञजन प्रत्येक रस के आलम्बन के अन्य गुणों की स्वयं ही कल्पना कर सकते हैं। रसाभास के आलम्बन में इन गुणों का अभाव होगा। आलम्बन के वे गुण उस रस के निष्पन्न करने में सहायक क्यों होते हैं और इनका अभाव रसाभास उत्पन्न क्यों करेगा? इन दोनों प्रश्नों का एक ही उत्तर है—औचित्य। रसाभास के उदाहरणों में आश्रय या विषय के ऊपर निर्दिष्ट गुणों में अनिवार्य रूप से अनौचित्य रहता है। आचार्यों ने बहुनायक-निष्ठ-रति अथवा मुनि-गुरु-पत्नी-गत-रति आदि जो रसाभास के प्रसंग निर्दिष्ट किए हैं, उनमें विभावगत अनौचित्य विद्यमान है।

उद्दीपन विभाव के सम्बन्ध में इतना कह देना पर्याप्त है कि ये देशकाल सापेक्ष

---

१. भावप्रकाशनम् : ५।६।

होते हैं। गर्मी में उशीर की शीतलता, नदी का विहार आदि सुखद उद्दीपन माने जाते हैं। किन्तु शीतकाल में यही अपना सुखद प्रभाव छोड़कर हानिकर प्रतीत होते हैं। एक स्थिति में जो नायिका हमारे हृदय में प्रेम उत्पन्न करने में समर्थ है, वही शोक की स्थिति में प्रभाव-शून्य हो जाती है। किसी के शोक में गाया गया करुण गीत भक्ति के उन्माद में गाए गये मोहक गीत से पृथक् प्रकार की अनुभूति जागरित करता है। अत: कवि को देशकाल तथा स्थिति का पूर्ण ध्यान रखकर उद्दीपनों का वर्णन करना चाहिए। देशकाल की उपेक्षा करके यदि पृष्ठभूमि (उद्दीपन) का वर्णन किया जाएगा तो उससे रसाभास की सम्भावना रहेगी।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने इस उद्दीपन विभाव को प्रथम रसौचित्य स्वीकार किया है। उन्होंने श्रृंगार-रस-गत औचित्य दो श्लोकों में दिखाया है।[1] उन दोनों में ही श्रृंगार के लिए उपयुक्त वातावरण विद्यमान है। किन्तु उसके अभाव में श्रृंगार रस आभास मात्र रह जाता है। उन्हीं द्वारा प्रस्तुत इस प्रसंग का एक उदाहरण देखिए—

वर्ण प्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतयास्म चेतः।
प्रायेण सामग्र्य-विधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः॥[2]

यहां विधाता की निन्दा के साथ केवल कनेर के फूल का वर्णन है। उसका प्रस्तुत श्रृंगार रस में कोई उपयोग नहीं दिखाया गया। फलत: इसमें रसगत औचित्य का अभाव है। इस पृष्ठभूमि में वर्णित श्रृंगार पूर्णत: उद्दीप्त न हो सकेगा। यहां यह उल्लेखनीय है कि अनेक बार उद्दीपन का अनौचित्य रस का अपकर्ष मात्र करता है, उस स्थिति में उसको रसदोष का उदाहरण स्वीकार करना चाहिए।

रसाभास और अनुभाव

जिनके द्वारा रत्यादि भावों का अनुभव होता है उन्हें अनुभाव कहते हैं। इनका कर्म रस को प्रतीति योग्य बनाना है।[3] अनुभावों में अनौचित्य दो प्रकार से आ सकता है—(१) अनुचित विभाव के कारण तथा (२) अभिनय की अपूर्णता के कारण। अनुचित विभाव में अनुभाव का अभाव रहेगा। रावण सीता के प्रति जितने भी भाव व्यक्त करता रहे सीता में रति का किसी प्रकार का कोई अनुभाव जागरित नहीं होगा। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि अनुभाव किसी स्थायी भाव के जागरित होने पर शरीर की एक अनिवार्य क्रिया है। यदि प्रेम अथवा भय सच्चा है तो उसके अनुभाव स्वयंमेव आश्रय और आलम्बन पर प्रकट होंगे। यदि कोई कवि इनका वर्णन नहीं करता तो रस समुचित प्रकार से प्रकट नहीं हो सकता।

---

१. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय ४, 'रसाभास और औचित्यतत्त्व' प्रकरण।

२. अर्थात् कनेर का फूल वर्ण में तो उत्तम था पर गन्ध शून्य था अत: चित्त को खेद प्रदान करता था। गुणों के एकत्रीकरण में विश्व के सर्जनहार की प्रवृत्ति प्राय: विमुख रहती है।

३. कटाक्षभुजाक्षेप प्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः।—का० प्र०, ४।२८ (वृत्ति)।

रति और भय दोनों के ही अनुभावों में कम्पन की गणना की गई है। अतः अभिनय कला से अनभिज्ञ नट अथवा नटी प्रेम के वचनों को सुनकर ज़ोर-ज़ोर से कम्पन करना आरम्भ कर सकते हैं। किन्तु वस्तुतः भय और रति के कम्पनों में भेद है। भय में व्यक्ति का सारा शरीर थर-थर कांपने लगता है, पसीना छूटने लगता है तथा मुखाकृति विकृत हो जाती है। इसके विपरीत शृंगार में कम्पन मन्द, शरीर के किसी-किसी अंग पर होता है। पसीना भी कम आता है और मुखाकृति विकृत नहीं होती। इस प्रकार अभिनय की अपूर्णता के कारण अनुभाव में आया अनौचित्य रस को रसाभास में परिणत कर देता है। हास्य के हसित-उपहसित आदि प्रकारों का मुख्य आधार अनुभाव (अभिनय) है, अभिनय की त्रुटि इन प्रकारों के भेद को समाप्त कर देगी और उससे रस पूर्णतः प्रकट न हो सकेगा। कल्पना कीजिए कि कोई नायक नायिका के प्रति रति भाव से युक्त वचनों का प्रयोग कर रहा है किन्तु नायिका उसकी ओर आकृष्ट होती हुई भी अभिनय की अपूर्णता के कारण मौन भाव से काष्ठवत् बैठी हुई है, उसकी मुखाकृति पर कोई भी सात्विक भाव उत्पन्न नहीं हुआ। इसी प्रकार सिंह को देखकर यदि कोई व्यक्ति कांपता नहीं अथवा उसके देह पर स्वेद नहीं, और न उसकी मुखाकृति विकृत ही होती है तो वह जितना भी भयभीत हो उसका वह भय प्रकट नहीं होगा। स्पष्ट है कि इन अनुभावों के अभाव में रस की प्रतीति नहीं हो सकती। इसी प्रकार यदि ये अनुभाव अनुचित हुए अर्थात् भयानक रस के अनुभाव वीर रस में प्रदर्शित कर दिए गए तो भी रस का प्रकट होना असम्भव है। नायक वीरता-युक्त वचन बोल रहा है और साथ ही उसका गात्र कम्पन कर रहा है तो इस (भय के अनुभाव) से वीर रस की प्रतीति नहीं होगी। उससे स्पष्टतः रसा-भास की सम्भावना रहेगी।

रसाभास और संचारिभाव

अस्थिर मनोविकार अथवा चित्तवृत्तियां संचारिभाव कहाती हैं। इनका कार्य रस को उपचित अवस्था में लाना है।[1] आचार्य शुक्ल जी ने इनको सुखात्मक, दुःखात्मक, उभयात्मक और उदासीन, चार प्रकार का माना है। इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में उनका कथन है कि सुखात्मक भावों के साथ सुखात्मक संचारी और दुःखात्मक भावों के साथ दुःखात्मक संचारी परस्पर अविरुद्ध होंगे।[2] अर्थात् सुखात्मक भाव के साथ दुःखात्मक संचारी और दुःखात्मक के साथ सुखात्मक संचारी विरुद्ध होंगे। उभयात्मक संचारी सुखात्मक भी हो सकते हैं और दुःखात्मक भी। जैसे—आवेग हर्ष में भी होता है और भय आदि में भी। भाव के साथ जो विरोध ऊपर कहा गया है वह जाति गत अर्थात् सजातीय-विजातीय का है। इसके अतिरिक्त आश्रयगत और विषयगत विरोध जिस भाव से होगा वह संचारी हो ही नहीं सकता। जैसे, क्रोध के मध्य आलम्बन के

१. व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितः —काव्यप्रकाश ४।२८ वृत्ति।
२. रसमीमांसा, पृ० २००-२०१।

प्रति यदि शंका, त्रास या दया आदि मनोविकार प्रकट हों तो उसके क्रोध की पुष्टि न होगी। यही बात युद्धोत्साह में त्रास आदि के आने से होगी। अतः ये मनोविकार क्रोध और उत्साह के संचारी नहीं हो सकते। ऐसा होने पर रसाभास की सम्भावना रहेगी।

रसाभास और स्थायिभाव

स्थायिभाव आश्रय तथा सहृदय दोनों के अन्तःकरण में वासनारूप से सदा अवस्थित होते हैं। विभावादि रस सामग्री के संयोग से ये जागरित होकर रसरूप में परिणत होते हैं। किन्तु रसाभास की स्थिति में विभावादि सामग्री में अनौचित्य होने के कारण ये जागरित नहीं हो पाते।

रसाभास के विषय में जगन्नाथ ने एक यह प्रश्न उपस्थित किया है कि रसाभास विभाव के अनुचित प्रवर्तन से होता है अथवा स्थायिभाव के ? इनसे पूर्व के प्रायः सभी आचार्यों ने विभाव की अनौचित्य को रसाभास का कारण माना है, किन्तु इनका कथन है कि गुरुपत्नी आदि के प्रति प्रदर्शित रति में विभाव अनुचित अवश्य है पर बहुनायक-निष्ठ अथवा अनुभयनिष्ठ रति आदि में विभाव अनुचित न होकर भाव ही अनुचित रूप में प्रवर्त्रित हुआ है।[1] रूप गोस्वामी ने भी स्थायि-वैरूप्य के कारण रसाभास माना है।[2] पर साथ ही उनका मत है कि यदि एक के रागत्व से स्थायिभाव की विरूपता हो तो यह विरूपता ही विभाव की विरूपता में उदाहरण स्वरूप घटित हो जाती है।

> स्थायिनोऽत्र विरूपत्वमेकरागतयाऽपि चेत्।
> घटेतासौ विभावस्य विरूपत्वेऽप्युदाहृतिः ।। हि० भ० र० सिं० : ९।१३

इस सम्बन्ध में हमारा विचार है कि अनुचित विशेषण विभाव के साथ ही लगाना अधिक शास्त्रीय है।

आलम्बन विभाव के दो रूप स्वीकार किये जाते हैं—विषय और आश्रय। गुरुपत्नी के प्रति रति विषय-गत अनौचित्य है और बहुनायक-निष्ठ रति आश्रयगत। वस्तुतः ये दोनों बातें परस्पर सापेक्ष हैं। एक ओर विभावादि के अनौचित्य के आधार पर ही यह निर्णय किया जा सकता है कि भाव अनुचित रूप में प्रवृत्त हो रहा है। दूसरी ओर विभाव के अनौचित्य का निर्णय भी भाव के अनुचित प्रर्वतन के बिना नहीं कहा जा सकता। अनुचित विशेषण विभाव के साथ लगाने से बहुनायक-निष्ठ एवं अनुभय-निष्ठ रति का ग्रहण हो जाता है। अतः जगन्नाथ द्वारा स्वीकृत स्थायिभाव

---

१. अनुचितविभावालम्बनत्वं रसभासत्वं ।···तदपरे न क्षमन्ते, मुनिपत्न्यादिविषयक रत्यदेः संग्रहेपि बहुनायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च रतेरसंग्रहात्।···तस्मादनौचित्येन रत्यादिविशेषणोयः। इत्थं चानुचितविभावालम्बनाया बहुनायक विषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च संग्रहः।—रसगंगाधर, प्रथम आनन, रसाभास प्रकरण।

२. हिन्दी भक्ति रसामृत सिन्धुः, पृ० ४८९

विषयक अनौचित्य की पृथक् कल्पना करना समुचित प्रतीत नहीं होती। इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त की स्थापना उपयुक्त है। उन्होंने आभास की स्थिति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी में मानते हुए अन्त में स्थायिभाव तथा रस में स्वीकार की है—'यतोविभावाभासादनुभावाभासाद् व्यभिचार्याभासाद् रत्याभासे प्रतीते चर्वणाभाससारः शृंगाराभासाः।' (दे० अभिनव भारती, पृ० ५१८)

अभिनवगुप्त के मतानुसार ये स्थायिभाव रसाभास की अवस्था में संचारी बन जाते हैं। अभिनवगुप्त ने शृंगारादि की अनुकृति में हास्य रस की निष्पत्ति स्वीकार कर शृंगारादि को हास्य का सञ्चारी कह दिया है किन्तु वस्तुतः शृंगार की अनुकृति से हास्य का होना अनिवार्य नहीं है।[1] पर इस अवस्था में भी वे स्थायिभाव उपहास एवं घृणा आदि उत्पन्न किसी भाव के संचारी अवश्य बनते हैं। वस्तुतः रसाभास का सम्पूर्ण व्यापार इन स्थायिभावों के संचारी हो जाने में ही है।

× × ×

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर रसाभास के उदाहरणों का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि अनौचित्य के कारण रस-सामग्री में न्यूनता अथवा अधिकता आ जाती है। परिणामतः काव्य-स्थलों से रस निष्पन्न न होकर रसाभास उत्पन्न होता है। विषय के स्पष्टीकरण के लिए निम्नोक्त स्थल द्रष्टव्य हैं :

(१) अनेक बार काव्यों में आलम्बन का वर्णन नहीं होता, केवल आश्रय किसी उपत्यका में खड़ा रति या उत्साह आदि भाव को प्रकट कर रहा होता है। वहां यदि सहृदय रस का आस्वाद नहीं ले पाता तो उसका कारण रस सामग्री की न्यूनता है। अनुभय-निष्ठ रति को भी इसी कारण रसाभास स्वीकार किया गया है।

(२) कई बार आलम्बन काल्पनिक होता है तब भी पूर्ण तन्मयता सम्भव नहीं और रस का आस्वाद उपलब्ध नहीं होता।

(३) कई बार आलम्बन का आश्रय के प्रति कोई भाव नहीं होता या आश्रय के प्रति अनुकूल भाव न होकर घृणादि भाव होते हैं; यथा—सीता रावण का प्रसंग। ऐसी स्थिति में आश्रय रति से युक्त जितने भी वचनों का प्रयोग करता रहे उससे रसाभास की ही सम्भावना होगी। उसका मूल कारण भी रस सामग्री की न्यूनता है।

(४) नायिका अपने किसी सम्बन्धी माता, भाई या सखी आदि के अशुभ समाचार के शोक से सन्तप्त है, और नायक प्रणय विषयक चर्चा करने में संलग्न है तो उस अवस्था में भी शृंगार रस नहीं होगा।[2] उसका कारण भी वस्तुतः आलम्बन एवं उद्दीपन का अभाव होने से रस सामग्री की न्यूनता है। इसी कारण विरोधी रस के आगमन से अथवा अंग रस की प्रमुखता से रसाभास स्वीकार किया गया है।

(५) एक वीर नायक अनेक उत्साह पूर्ण वचनों का प्रयोग कर रहा है पर

---

१. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ३०।

२. स्वकान्तायामपि शोकाद्यवस्थायां रतिवर्णनमाभासरूपमेव, अनौचित्येन प्रवर्तितत्वादित्यवसेयम्। —काव्यप्रकाश, पृ० १२१।

उसका प्रतिद्वन्द्वी उसके सामने हाथ जोड़े बैठा है। उस अवस्था में भी रस-निष्पत्ति न होने का कारण रस-सामग्री की न्यूनता है।

(६) भावोत्तेजन के अपर्याप्त कारण से भी रसाभास होता है। उसका मूल कारण आलम्बन विभाव में क्षीणता है।

(७) यदि अनेक व्यक्ति एक साथ एक ही नायिका के प्रति प्रेम प्रकट करते हैं तो उसमें आश्रय-पक्ष आलम्बन-पक्ष की अपेक्षा अधिक प्रबल हो जाता है। प्रकारांतर से आलम्बन-पक्ष की दुर्बलता अथवा आश्रय-पक्ष की प्रबलता अथवा अधिकता हो जाने के कारण वहां शृंगार की अभिव्यक्ति नहीं होती।

इसी प्रकार रसाभास के अन्य सभी उदाहरणों में भी रस सामग्री में क्षीणता विद्यमान होती है। सम्भवतः इसी तथ्य से परिचित रहकर विश्वनाथ ने रसाभास की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है—जहां भरत आदि से प्रणीत रस, भाव आदि के लक्षण पूर्ण रूप से संगत न हों, किन्तु विभावादि की न्यूनता के कारण कुछ अंश से सम्बन्ध रखते हों वहां रसाभास होता है।—अनौचित्यं चात्र रसानां भरतादिप्रणीत-लक्षणानां सामग्रीरहितत्वे सत्येकदेशयोगित्वोपल क्षणपरं बोध्यम्।

—साहित्यदर्पण ३।२६२ (वृत्ति)।

रूप गोस्वामी एवं उनके अनुकरण पर श्री रमाकान्त शर्मा ने भी रसाभास की यही परिभाषा की है—

१. (क) पूर्वमेवानुशिष्टेन विकला रसलक्ष्मणा।
रसा एव रसाभासा रसज्ञैरनुकीर्तिताः॥

—हरिभक्तिरसामृत सिन्धु, ६।१।

पहले निरूपित रस लक्षण से हीन रस ही रसज्ञों के द्वारा रसाभास कहा गया है।

(ख) लखन विकल विलोकि ए, पूर्व कहे रस मांह।
रसाभास उनहीं अहैं, कविजन सकले आह॥
थाइ विभावादिक विना······ —प्रेम सुधा रत्नाकर, पृ॰ १६६।

इस परिभाषा के आधार पर रसाभास के स्थलों को निम्नोक्त रूपों में रखा जा सकता है।

(१) अनौचित्य जन्य आश्रयगत क्षीणता।
(२) अनौचित्य जन्य आलम्बनगत क्षीणता।
(३) अनौचित्य जन्य उद्दीपनगत क्षीणता।
(४) अनौचित्य जन्य अनुभावगत क्षीणता।
(५) अनौचित्य जन्य संचारिभावगत क्षीणता।[1]

यहां यह निर्दिष्ट करना अप्रासंगिक न होगा कि रसाभास और भावाभास में शास्त्रीय पद्धति का कोई अन्तर नहीं है। केवल वर्ण्य-विषय का ही अन्तर है। जो वर्ण्य विषय रस से सम्बद्ध हैं (नायक-नायिका-विषयक-रति आदि) उनका आभास

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ, षष्ठ अध्याय।

अर्थात् अनौचित्य जन्य क्षीणता रसाभास को जन्म देती है और जो विषय भाव से सम्बद्ध हैं (राज अथवा देव विषयक रति आदि) उनका आभास अर्थात् अनौचित्य-जन्य क्षीणता भावाभास को जन्म देती है ।

× × ×

रसाभास की अभिव्यक्ति के साधनों पर प्रकाश डालने के उपरान्त रसाभास के स्वरूप एवं लक्षण के सम्यग् ज्ञान के लिए निम्नोक्त प्रसंगों की विवेचना करना आवश्यक है—

१. रस और रसाभास में पौर्वापर्य सम्बन्ध
२. रसाभास और अनुकृति
३. रसाभास और अनुभूति
४. रसाभास और साधारणीकरण

१. रस और रसाभास में पौर्वापर्य सम्बन्ध :

रसाभास का सामान्य अर्थ यह किया जाता है कि आपाततः रस में निर्दुष्टता लक्षित होती हो, पर वस्तुतः वह अनौचित्य से संवलित होने के कारण रस की प्रतीति मात्र हो, अर्थात् रस के न होने पर भी रस की प्रतीति हो रही हो । अभिनवगुप्त ने रसाभास को "शुक्तौ रूप्याभासवत्"[1] माना है। अर्थात् जिस प्रकार अन्धकार के कारण शुक्तिका में रजत की प्रतीति होती है पर वस्तुतः वह रजत नहीं होती, उसी प्रकार अविवेक के कारण एक रस से शून्य स्थल में रस की प्रतीति हो रही होती है किन्तु वह रस नहीं होता । रस को 'शुक्तौ रूप्याभासवत्" मान लेने से निम्नोक्त तथ्य हमारे सामने आते हैं—

१. रसाभास के उदाहरण रस की प्रतीति करवाते हैं।
२. पर वस्तुतः वे रस नहीं होते ।
३. उनके रस प्रतीत होने का कारण अन्धकार अर्थात् अविवेक है ।
४. जब वह अविवेक दूर हो जाता है तो रस की प्रतीति भी समाप्त हो जाती है।

अंधकार के दूर होने पर रजत के स्थान पर शुक्तिका का ज्ञान होता है पर अविवेक के दूर होने पर रस के स्थान पर किस तत्त्व की अनुभूति होती है ? यह बात रसाभास को "शुक्तौ रूप्याभासवत्" मानने से स्पष्ट नहीं होती, इतना तो स्पष्ट है कि यह रस नहीं रह जाता पर रस के स्थान पर सहृदय को अन्य किस प्रकार की अनुभूति का परिज्ञान होता है ? यह बात सर्वथा अस्पष्ट है । डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने अभिनवगुप्त के मत को निम्नोक्ति रूप से प्रस्तुत किया है—"रसाभास का तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि रस नहीं रहता, बल्कि उसका अर्थ केवल इतना है कि दोष रहते हुए भी रस का आभास बना रहता है । इसी कारण इसे रसाभास

---

१. देखिये, हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ५१८ ।

कहते हैं ।"[1] किन्तु अभिनवगुप्त का मन्तव्य यह कदापि नहीं था कि रसाभास के उदाहरणों में अनौचित्य होने पर भी रस रहता है। अभिनवगुप्त का अभिप्राय यह था कि जब तक अनौचित्य का परिज्ञान नहीं होता तब तक रस रहता है और अनौचित्य का परिज्ञान होते ही वह रस समाप्त हो जाता है। इसका प्रमाण यह है कि अभिनवगुप्त ने अनौचित्य होने पर रस की अनुकृति स्वीकार की है। अर्थात् उनके विचार में श्रृंगाराभास हास्य बन जाता है। उसका श्रृंगार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।[2] डॉ० दीक्षित का इस प्रसंग का यह कथन अवश्य ठीक है कि "अभिनवगुप्त ने भी 'शुक्तो रजताभासवत्' उदाहरण के द्वारा पौर्वापर्य का ही संकेत करना चाहा है।"[3]

यहां यह बात द्रष्टव्य है कि रस की प्रतीति तभी तक होती है जब तक कि सहृदय अविवेकी रहता है। कवि अपनी प्रतिभा से उसे इस बात का ज्ञान नहीं होने देता कि अमुक श्रृंगार की उक्ति रावण सीता को कह रहा है अथवा राम ? फलतः वह उस उस उक्ति से रसास्वाद कर लेता है किन्तु बाद में जैसे ही उसे यह ज्ञान होता है कि यह कथन दुष्ट रावण ने पतिव्रता सीता के प्रति प्रकट किया है तो वह सम्पूर्ण आनन्द वैरस्य में परिणत हो जाता है।

काव्य प्रकाश के टीकाकार 'वामन झलकीकर' के अनुसार रस के अनौचित्य के कारण जो आभास उत्पन्न होता है, वह रसावगम की उत्तर कालिक स्थिति अथवा अनुभूति है। यह स्थिति वाचक-वाच्य के सदृश नहीं है कि शब्द का उच्चारण होते ही उसके अर्थ का भी पता लग जाए।[4] अभिनव गुप्त की भांति इन्होंने भी रसाभास के उदाहरणों के साथ पौर्वापर्य की अनिवार्य शर्त लगाई है। वामन झलकीकर ने यह प्रश्न उपस्थित किया है कि "क्या लौकिक अवस्था में ही रसाभास का बोध हो सकता है, रस की साधारणीकरण वाली अवस्था में नहीं।"[5] उत्तर में उन्होंने कहा कि साधारणीकरण के उपाय से सामाजिक वर्णन में तल्लीन हो जाता है तब उसी में अनौचित्य उपस्थित होता है और सामाजिक निष्ठ रति आदि को आभासता प्राप्त होती है; लौकिक अवस्था मात्र में नहीं,[6] उनके इस कथन का अभिप्राय यह है कि पहले सहृदय का चित्त किसी रस में पूर्णतः रम रहा होता है पर अकस्मात् अनौचित्य का परिज्ञान हो जाने से वह रसाभास में परिवर्तित हो जाता है। निम्नोक्त उदाहरण से यह बात भली प्रकार स्पष्ट हो जाएगी :

---

१. रस सिद्धान्तः स्वरूप विश्लेषण, पृ० २५२।

२. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय २, 'रसाभास और अनुकृति' प्रकरण में।

३. रस सिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण, पृ० २५३।

४. न वाच्यवाचकानौचित्यवद्रसभङ्गहेतुतेति बोध्यम्—का० प्र०, पृ० १२३।

५. नन्वेतावता लौकिकस्याभासत्वमागतं न तु सामाजिकनिष्ठस्यालौकिकस्येति चेन्न।
—का० प्र० पृ० १२३।

६. साधारणीकरणोपायेनसामाजिकस्य वर्णनीयमयीभावात्सामाजिकनिष्ठरतेरप्याभासत्वमिति। का० प्र०, पृ० १२३।

कल्पना कीजिए एक विलासप्रिय किशोरी बाज़ार में किसी पर आकृष्ट हुई और उसने अपने उस इष्ट को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा प्रकट की, दुष्प्राप्य होने के कारण उसने मचलना आरम्भ कर दिया। उसे भय था कि यदि उसके उस इष्ट के विषय में पिता ने सुन लिया तो वे क्रुद्ध होंगे। अतः वह वराकी मन ही मन जी मसोस कर रह गई। किन्तु उसका ध्यान अहर्निश अपने उस इष्ट की ओर ही रहता था, यहां तक कि उसने खाना-पीना भी कम कर दिया। वह निरन्तर दो-तीन दिनों तक चिन्ताग्रस्त रही, उसकी इस स्थिति के विषय में सहृदय उसके प्रति सहानुभूति प्रकट कर सकता है, उसकी मां ने उसे इतना चिन्तित देख कर उसके मन की बात जाननी चाही और बड़े स्नेह से उससे उसके प्रेमी का नाम पूछ ही लिया। पाठक को पता चला कि उसका वह प्रेमी कोई मनुष्य नहीं था प्रत्युत जूते की एक जोड़ी थी। परिणामतः उसकी सम्पूर्ण सहानुभूति समाप्त हो गई। जो आनन्द उसे मिल रहा था उसमें व्याघात उत्पन्न हो गया, वह रस न रह कर रसाभास बन गया। अनौचित्य का ज्ञान हो जाने से उपलब्ध आनन्द समाप्त हो गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि रसाभास का स्वरूप निधारण करते हुए आचार्यों के मस्तिष्क में यही रहा था कि एक बार तो एक क्षण के लिए ही सही, सामाजिक इस रति आदि में अनिवार्यतः तन्मय हो जाता है, किन्तु अनौचित्य का परिज्ञान होते ही उसकी चेतना उपलब्ध आनन्द के प्रति उदासीन हो जाती है और तब वह रस न रह कर रसाभास बन जाता है। किन्तु वस्तुतः रसाभास के प्रत्येक उदाहरण में पहले रस हो और बाद में रस का व्याघात हो अथवा वह आभास में परिवर्तित हो यह अनिवार्य नहीं। यह भी सम्भव है कि आरम्भ से ही पाठक को अनौचित्य का परिज्ञान हो। उस स्थिति में उसे उस भाव का ज्ञान तो होगा पर वह उस (भाव) का आस्वादन उपलब्ध न कर सकेगा। उदाहरणार्थ, सामान्यतः भारतीय पाठक रावण के दुष्ट कर्मों एवं उसकी पापमयी वृत्ति से इतना परिचित होता है कि उसका नाम सुनते ही उसके सम्मुख एक भयावह चित्र उपस्थित हो जाता है, ऐसी स्थिति में उसके मुख से पतिव्रता सीता के प्रति रति के वचनों को सुन कर उसका उस रति के प्रति उदासीन हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है।[1] इस अवस्था में पाठक को रति का ज्ञान अवश्य होता है, किन्तु वह उसका आस्वाद उपलब्ध नहीं कर पाता। अतः अनुभूति के आधार पर रसाभास के उदाहरणों के दो वर्ग किये जा सकते हैं :

(क) प्रथम वे जिनमें कि अनौचित्य का ज्ञान बाद में—विवेक के जागरित

---

१. (क) तथापि पश्चात्येयं सामाजिकानां स्थितिः तन्मयीभवनदशायां तु रतेरेवास्वाद्यतेति श्रृंगारतैव भाति पौर्वापर्य विवेकावधारणेन

—ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ७८-७९।

(ख) अत्रादौ सहृदयानां सीताविषयकरावणरतेस्तन्मयीभावेनास्वाद्यतेति श्रृंगार चर्वणैव, पश्चात्तद्रतेरनुचितालम्बनकत्वज्ञानेन तद्विषयकहासोद्बोधाद्धास्यचर्वणा श्रृंगारचर्वणा च तदाभासचर्वणैवेति। —ध्वन्यालोक, बालप्रिया, पृ० ७९।

होने पर—होता है। इस अवस्था में रसाभास रस की उत्तरकालिक स्थिति है, और

(ख) द्वितीय वे जिनमें कि अनौचित्य का ज्ञान आरम्भ से ही रहता है। इस अवस्था में रति आदि का आस्वाद उपलब्ध नहीं होता, प्रत्युत सहृदय को उसका ज्ञान-मात्र रहता है।

यहां यह द्रष्टव्य है कि उपर्युक्त दोनों ही अवस्थाओं की अनुभूति समान है। अन्तर केवल इतना है कि पहली अवस्था में कुछ देर में अनुभूति होती है और दूसरी अवस्था में आरम्भ से ही वह अनुभूति रहती है। यदि कोई शुद्ध शाकाहारी भूल से मांस खाकर उससे स्वाद प्राप्त कर ले किन्तु बाद में भूल ज्ञात होने पर उस प्राप्त स्वाद के प्रति घृणा करने लगे तो उसकी उस अनुभूति की समानता रसाभास के प्रथम वर्ग के उदाहरणों से दी जा सकती है। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति किसी अज्ञात अभक्ष्य पदार्थ को आरम्भ से ही आस्वाद शून्य अनुभव कर उससे घृणा सी करने लगे किन्तु क्षुधा निवृत्ति के लिए उसे खा भी अवश्य ले तो उसकी उस अनुभूति की समानता रसाभास के द्वितीय वर्ग के उदाहरणों से की जा सकती है।

२. रसाभास और अनुकृति

आचार्य भरत की यह स्थापना है कि चार रस शेष रसों की उत्पत्ति के हेतु (अर्थात् सूचक) हैं। उनके अनुसार शृंगार से हास्य की, रौद्र से करुण की, वीर से अद्भुत की तथा बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है।[1] शृंगार से हास्य की उत्पत्ति क्यों होती है? इस बात को स्पष्ट करते हुए अभिनव गुप्त ने लिखा है कि आभास अथवा अनुकृति के कारण जो अन्य रस उत्पन्न होता है उसी को (भरत ने) शृंगार के द्वारा सूचित किया है।[2] इस सम्बन्ध में उनके निम्नोक्त कथन द्रष्टव्य हैं:

(१) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (जब वास्तविक रूप से प्रवर्तित न होकर) आभास रूप से प्रवर्तित होते हैं तब (रति का पूर्ण परिपाक न होने के कारण) रत्याभास प्रतीत होता है।[3]

(२) रत्याभास से रस की चर्वणा पूर्ण नहीं हो पाती और वह चर्वणाभास होती है। और इसे शृंगाराभास कहते हैं।[4]

(३) इस शृंगाराभास की चर्वणा में रति की कामना या अभिलाषा मात्र

---

१. (क) तेषामुत्पत्ति हेतवश्चत्वारो रसाः।
(ख) शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥—हि० अ० भा०, पृ० ५१७।

२. तथा हि तदाभासत्वेन तदनुकाररूपतया हेतुत्वं शृंगारेण सूचितम्
—हि० अ० भा०, पृ० ५१८।

३-४. यतो विभावाभासादनुभावाभासाद् व्यभिचार्याभासाद् रत्याभासे प्रतीते चर्वणाभाससारः शृंगाराभासः।

होती है। वहां रति स्थायिभाव न होकर व्यभिचारिभाव होता है।[1]

(४) पर सहृदय को रति स्थायी भाव सी (के समान) प्रतीत होती है।[2]

(५) उस रत्याभास अथवा व्यभिचारी भाव रूप रति के कारण विभावादि भी आभास बन जाते हैं।[3]

(६) अतः यहां रति को स्थाय्याभास मानना चाहिए।[4]

उन्होंने रावण की सीता विषयक रति को आभास माना है, सीता रावण के प्रति उपेक्षा रखती है, अभिमान (पातिव्रत्य) के नष्ट हो जाने के भय से उसके प्रति विमुखता प्रकट करती है। ऐसी स्थिति में भी यदि रावण सीता को अपने प्रति अनुरक्त समझे तो यह स्थिति काम-जन्य मोह का हेतु होने से रसोत्पत्ति में अनुपयुक्त और शुक्तिका में रजताभास के समान (भ्रममात्र) कही जायगी। इस संबंध में रावण की उक्ति देखिए :

> दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिं
> चेतः कालकलामपि प्रसहते नावस्थितिं तां विना।
> एतैराकुलितस्य विक्षतरतेरङ्गैरनङ्गातुरैः
> सम्पद्येत कथं तदाप्तिसुखमित्येतन्न वेद्मि स्फुटम् ॥[5]

रावण की यह उक्ति विभाव, अनुभाव व्यभिचारिभाव तीनों से परिपुष्ट होने के कारण श्रृंगार रस को उत्पन्न करने में समर्थ होनी चाहिए, पर उसकी रति एक अनुचित आलम्बन के प्रति होने से रत्याभास मात्र बनकर रह गयी है।

यहां पर प्रतिवादी का आक्षेप है कि इस प्रसंग में परस्पर आशाबन्ध (अनुराग बन्ध) का अभाव होने से रति को स्थायिभाव ही मानना अनुपयुक्त है, किन्तु वस्तुतः न तो रावण को इस बात का विचार है कि सीता मुझसे द्वेष करती है और न उसे कामजन्य मोह के कारण इस निश्चय की ही आवश्यकता पड़ी कि सीता मुझसे प्रेम करती है। अतः इसे ही शुक्तिका में रजत की भांति आभास समझना चाहिए।[6]

---

१. कामनाभिलाषमात्ररूपा हि रतिरत्र व्यभिचारिभावो न स्थायी। —हि० अ० भा०, पृ० ५१८।

२. तस्य तु स स्थायिकल्पत्वेन भाति। —हि० अ० भा०, पृ० ५१८।

३. तद्वशाद्विभावाद्याभासता। —वही।

४. अतश्च स्थाय्याभासत्वं रतेः। —वही।

५. अर्थात् दूर से आकृष्ट करने वाले मोहमन्त्र की भांति उस (सीता) के नाम को सुनते ही चित्त एक क्षण के लिए भी उसके बिना रह सकने में असमर्थ है। इन काम सन्तप्त व्याकुल अंगों के द्वारा उसकी प्राप्ति (आलिंगन) का सुख कैसे प्राप्त हो। यह बात मेरी समझ में नहीं आती।

६. ननु नात्र रतिः स्थायिभावोऽस्ति। परस्परास्थाबन्धाभावात्। केनैतदुक्तं रतिरिति। रत्याभासो हि सः। अतश्चाभासता येनास्य सीता मय्युपेक्षिका द्विष्टा वेति प्रतिपत्तिर्हृदयं न स्पृशत्येव। तत्स्पर्शे हि तस्याप्यभिलाषो विलीयेत। न च मयीयमनुरक्ते,

इसी प्रसंग में अभिनव गुप्त की व्याख्या अत्यन्त सूक्ष्म है । वे उक्त उद्धरण में एक ओर तो रत्याभास स्वीकार करते हुए प्रकारान्तर से इसे रसाभास अर्थात् शृंगार रसाभास की स्थिति स्वीकार करते हैं किन्तु दूसरी ओर वे ऐसे स्थलों में रसाभास की अपेक्षा हास्य रस की ही स्थिति कहीं अधिक सुगठित रूप में मानते हैं और उनके अनुसार यह हास्य रस भी उक्त रत्याभास की ही परवर्ती स्थिति है । अथवा उससे समुत्पन्न है । उनके अनुसार, (सारी परिस्थिति का अवलोकन करें तो) इस उक्ति से हास्य नहीं वरन् रत्याभास प्रतीत होता है । इसका कारण यह है कि यदि रावण का सीता के प्रति यह अनुराग-प्रदर्शन सीता-रूप आलम्बन विभाव के विपरीत रावण रूप आश्रय विभाव की आयु के और प्रकृति के विरुद्ध प्रकट होने वाले, चिन्ता, दैन्य, मोह आदि सब व्यभिचारिगण और रुदन, विलाप आदि अनुभाव-समुदाय से तदाभासात्मक होकर हास्य के विभाव रूप बन जाते हैं । उन्हीं के कथनानुसार वस्तुतः हास्य का कारण अनुचित प्रवृत्ति है ।[१] यह अनौचित्य सभी रसों के विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों में होता है ।[२] अतः श्रृंगाराभास की भांति करुणाभास आदि सभी से हास्य उत्पन्न हो सकता है । जो जिसका प्रियजन नहीं है उसके शोक में प्रदर्शित करुण रस भी अनौचित्य युक्त होने के कारण हास्य ही है ।[३] इसी प्रकार निर्वेद रूप शान्त रस का स्थायी भाव मोक्ष का हेतु न होने पर भी जहां तदाभास मोक्ष हेतु सा प्रतीत होता है वहां शान्ताभास हास्यरूप ही होता है ।[४]

हमारी सम्मति के अनुसार इस स्थापना में कि 'प्रत्येक रस का आभास हास्य में परिवर्तित हो जाता है' हास्य शब्द यदि अलौकिक आनन्द देने वाले हास्य रस का ही वाची है तो यह आंशिक सत्य है । रसाभास के अनेक उदाहरण व्यंग्यात्मक हास्य या उपहास मात्र उत्पन्न करते हैं । किसी भी रस के आभास सम्बन्धी उदाहरणों को

त्यपि निश्चयेन कृतं, कामकृतान्मोहात् । अतएव तदाभासत्वं वस्तुतस्तत्रावस्थाप्यते शुक्तौरजताभासवत् । —ध्वन्यालोक, लोचन, पृ० १७८ ।

१. इत्यादौ रावणवाक्ये तावति रत्याभासतैव । न तु हासः स्फुरति । तथापि सीता-लक्षणविभाव-रावणवयः प्रकृतिविरुद्धं च चिन्ता-दैन्य-मोहादिको व्यभिचारिगणः, अश्रुपात-परिदेवितादिचानुभावजातमनौचित्यात्तदाभासरूपं सद्धास्यविभाव रूपम्। तद्वक्ष्यते, 'विकृतपरवेषालंकार' इत्यादि । —हि० अ० भा० पृ० ५१९ ।

२. तेन करुणाद्याभासेष्वपि हास्यत्वं सर्वेषु मन्तव्यम् । अनौचित्यप्रवृत्तिकृतमेवहास्य-विभावत्वम् । तच्चानौचित्यं सर्वरसानां विभावानुभावादौ सम्भाव्यते । तेन व्यभिचारिणामप्येषेव वार्ता । —वही ।

३. एवं यो यस्य न बन्धुस्तच्छोके करुणोऽपि हास्य एवेति सर्वत्र योज्यम् । —वही, पृ० ५२० ।

४. अमोक्षहेतावपि तदाभासतायां शान्ताभासो हास्य एव । —हि अ० भा० पृ० ५२० ।

पढ़कर न उस रस का स्थायी भाव 'सहृदय' के चित्त में उद्दीप्त होता है और न हास्य रस का स्थायि भाव हास ही प्रस्फुटित हो पाता है। स्थायिभाव हास उद्दीप्त होने से उसमें निष्पन्न आनन्द अलौकिक होता है और उस अवस्था को पहुंचा हुआ हास्य रस सहृदय को असीम प्रसन्नता प्रदान करता है। सहृदय अपने को भूलकर अपार हर्ष का अनुभव करता है, राग-द्वेषादि भावों से विमुक्त हो कर प्रसन्नता से ओतप्रोत हो जाता है। किन्तु रसाभास के उदाहरण उसे उस प्रकरण में पूर्ण लीन नहीं होने देते। उस समय हमारे चित्त में कोई प्रसन्नता नहीं होती।' वरन् रावणादि की असमर्थता अथवा उसकी अपूर्ण अभिलाषा का सहृदय की बुद्धि केवल उपहास करती है। और अनेक बार उपहास के अतिरिक्त क्षोभ, घृणा, उपेक्षा अथवा दया, श्रद्धा, सहानुभूति आदि भाव भी जागरित हो जाते हैं। किन्तु इससे अभिनव गुप्त द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का (कि विविध रसों के आभास से हास्य की उत्पत्ति होती है) खण्डन नहीं होता। अनेक बार आभास (अनौचित्य) के कारण हास, घृणा, क्रोध आदि की अनुभूतियां तीव्र हो जाती हैं और उससे तत्सम्बद्ध भाव अथवा रस का आस्वाद उपलब्ध होने लगता है। किसी भी काव्य-स्थल को शास्त्रीय संज्ञा प्रदान करने का आधार सहृदय के चित्त का उद्वेलन है, अतः उस स्थिति में उस तीव्र अनुभूति को उसी भाव अथवा रस का ही उदाहरण स्वीकार किया जाना चाहिए, क्योंकि तब कवि का अभीष्ट लक्ष्य वही होता है। उसमें आभास (अनौचित्य) उस भाव अथवा रस के संचारी और कभी उद्दीपन हो जाते हैं।

३. रसाभास और अनुभूति (रस)

रसाभास की अनुभूति के सम्बन्ध में आचार्य जगन्नाथ ने पूर्वपक्ष में निम्नोक्त तर्क प्रस्तुत किया है—आप हेत्वाभास को हेतु कहने को तैयार नहीं होंगे। यदि हेत्वाभास को हेतु नहीं माना जा सकता तो रसाभास को भी रस कहना संगत नहीं।[१] इसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि "अनुचित होने पर भी किसी वस्तु के स्वरूप का नाश नहीं होता अर्थात् अनुचित होने पर भी वह पूर्णतया परिवर्तित नहीं हो जाती। अतः वह जो है वह तो मानना ही पड़ता है। हां, उसके दोष का संकेत अवश्य कर दिया जाता है। इस दोष का संकेत करने के लिए ही रस की अपेक्षा रसाभास कहा जाता है, यह कहना ऐसा ही है जैसे किसी अश्व को दोषयुक्त देखकर दर्शक उसे अश्वाभास कहने लगें।[२] सुधासागरकार का भी लगभग यही मत है।[३] हिन्दी के आधुनिक

१. हेत्वाभासत्वमिव हेतुत्वेनेत्येके। —रसगंगाधर, रसाभास प्रकरण।

२. नह्यनुचितत्वेनात्महानिः, अपि तु सदोषत्वादाभासव्यवहारः। अश्वाभासादिव्यवहारवदित्येके। —वही।

३. यद्यपि काव्यनाट्यश्रवणदर्शनाभ्यां विभावादिसाधारण्यज्ञाने सति सामाजिकानां स्वीयस्थायिव्यक्तिरित्यलौकिकरसः स्वतो नाभासः। तथापि, असाधारण्यप्रतीतिप्रयोजककाव्यवर्णिते यत्रानौचित्यप्रतिसँधानं तत्र व्यंग्ये रसेप्याभासव्यवहार इति ध्येयम्। —काव्यप्रकाश, पृ० १२१ (वामनझलकीकर द्वारा उद्धृत)।

आचार्यों में पं० रामदहिन मिश्र एवं हरिशंकर शर्मा ने भी जगन्नाथ के अनुरूप इसी धारणा को स्वीकार किया है। पं० रामदहिन मिश्र ने लिखा है कि जहां रस की अनुचित प्रकृति से रस का अपूर्ण परिपाक होता है वहां रसाभास समझना चाहिए। आभास का अर्थ है अवास्तव की वास्तववत् प्रतीति। सीप में चांदी की चमक की तरह थोड़ी-बहुत तद्विषयक झलक। जैसे—दायी में माता की सी ममता देखी जाती है, वैसे ही जहां-रस का किञ्चित् आभास रहता है वहां रसाभास होता है। यद्यपि सहृदयों द्वारा अनुमोदित होने के कारण अनुचित रूप में जहां रस का परिपाक होता है वहां रस दोष मानना चाहिए। फिर भी आभासिक आनन्द का दायक होने के कारण उसे वैसे ही रसध्वनि का एक भेद माना गया है जैसे माता की जगह या माता के अभाव में दाई को कुछ समय के लिए माता ही मान लेते हैं।[१] इसी प्रकार हरिशंकर शर्मा ने लिखा है कि कुछ विद्वान् यह भी कहते हैं कि रस में कुछ दोष आ जाए तो वहां रस नहीं रहता क्योंकि दोष और रस एक साथ नहीं रह सकते। इस विचार के विरुद्ध कुछ विद्वान् यह भी कहते हैं कि रस में कुछ दोष आ जाने से रस नष्ट नहीं हो जाता, प्रत्युत वह बराबर बना रहता है। हां, उसे उस समय दोष-युक्त होने से रसाभास कह सकते हैं। ठीक भी है, यदि हलवे कि कड़ाही में त्रिफले का कुछ अंश पड़ जाय अथवा घड़े भर रस में रत्ती भर कुटकी डाल दी जाए तो यह नहीं कहा जा सकता कि हलवा नहीं रहा या शर्बतपन नष्ट हो गया।[२]

हमारे विचार में उक्त आचार्य यहां एक तात्त्विक भूल कर गए हैं। उन्होंने रसाभास के अनौचित्य को और काव्य-दोषों के अनौचित्य को एक मान लिया है। पर काव्य-दोषों और रसाभास में स्पष्टतः विभाजक रेखा खींची जा सकती है। आचार्यों ने वस्तुतः इन काव्य-दोषों की स्थिति में रस की स्थिति स्वीकार की है। ये काव्यदोष देह के काणत्व, बधिरत्व आदि दोषों की भांति रस-रूप आत्मा का अनुत्कर्ष तो करते हैं पर इनके कारण काव्यत्व का अभाव नहीं हो जाता।[३] अश्व को यदि अश्वाभास नहीं कहा जा सकता तो उसका कारण भी यही है कि उसके दोष आत्मा को विकृत करने में असमर्थ रहे हैं। वे केवल उसके प्रभाव को ही क्षीण कर पाए हैं। इसी प्रकार यदि हलवे अथवा शर्बत में त्रिफला या कुटकी पड़ जाने से वे हलवा एवं शर्बत ही कहे जाते हैं तो उसका कारण भी यही है कि उनका वास्तविक स्वरूप विकृत नहीं होता। किन्तु रसाभास के उदाहरणों का अनौचित्य रस-रूप आनन्द में प्रत्यक्ष व्याघात उत्पन्न करता है। एक अनधिकारी व्यक्ति जब किसी दूसरे की पतिव्रता नारी के प्रति प्रेम का भाव व्यक्त करता है और वह पतिव्रता उससे सर्वथा उदासीन ही नहीं रहती प्रत्युत उसकी भर्त्सना भी करती है तो उस दशा में सहृदय का चित्त उस तथाकथित आश्रय

---

१. काव्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० २६३।
२. रसरत्नाकर, पृ० ५२।
३. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय ४, 'रसाभास और काव्यदोष' प्रकरण।

के साथ उसके व्यापार के अनौचित्य के कारण तादात्म्य स्थापित कर रति का आनन्द प्राप्त नहीं कर पाता। आनन्दवर्द्धन द्वारा शृंगाराभास को हास्य स्वीकार करना हमारी इस स्थापना का समर्थक है।[1] अतः उक्त आचार्यों ने जो कथन पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत किए हैं वे उत्तर पक्ष होने चाहिएं और उनके उत्तर पक्ष पूर्व पक्ष। इस दृष्टि से आचार्य भिखारीदास द्वारा प्रस्तुत रसाभास की परिभाषा अधिक संगत है—

रस सों भासित होत है जहां न रस की बात।
रसाभास तासों कहैं जे हैं मति-अवदात॥

—रससारांश, दोहा ५६६।

अभी तक काव्याचार्यों ने रसाभास के स्वरूप-निर्धारण में इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व पर प्रकाश नहीं डाला था। रसाभास शब्द की व्याख्या—रस न होते हुए भी उसकी प्रतीति से की गई थी। इस दृष्टि से भिखारीदास का लक्षण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाना चाहिए। रसाभास के उदाहरणों से उपहास, घृणा आदि कोई न कोई भाव जागरित अवश्य होता है किन्तु इन भावों की अनुभूति तीव्र नहीं होती। यदि इन भावों की अनुभूति तीव्र हो जाए तो उस स्थल को उस भाव से सम्बद्ध रस का उदाहरण मानना चाहिए। किन्तु यदि भिखारीदास का 'रस' से अभिप्राय आनन्द से है तो उनका कथन गलत है। रसाभास के प्रसंगों में भी आनन्द प्राप्त होता है।[2]

प्रस्तुत प्रसंग में आचार्य सोमनाथ द्वारा प्रस्तुत रसाभास का लक्षण आलोच्य है :

अनलायक रस वरनिये जहं कवित्त में आय।
रसाभास तासों कहैं सकल रसिक सुख पाय॥

—रसपीयूष निधि, १८।१९।

इस लक्षण में 'अनलायक' शब्द अनौचित्य का सूचक है। किन्तु यहां यह द्रष्टव्य है कि यहां रसाभास से सब रसिकों के सुख प्राप्त करने की चर्चा की गई है। अन्य आचार्यों ने रसाभास में रस स्वीकार करते हुए भी उससे सुख प्राप्त करने का उल्लेख नहीं किया। सोमनाथ प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने इससे रसिकों को सुख (आनन्द नहीं) लेने का परामर्श दिया है। रसाभास के उदाहरण रसिक को किस प्रकार सुख प्रदान करते हैं, इसका स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं किया। हमारा अनुमान है कि जिसे हमने पीछे लौकिक शृंगार कहा है और जिन उदाहरणों को हम रसाभास के क्षेत्र से पृथक् कर रहे हैं उन्हीं से सोमनाथ ने पाठक को सुख प्राप्त करने का परामर्श दिया है। इस दृष्टि से रसाभास उसको स्वीकार करना होगा जो कि काव्यास्वादन के समय तो लौकिक शृंगार (वासनादि) की अनुभूति करवाएं किन्तु व्याख्यालोचन करते समय अनैतिक स्थल होने कारण इन्हें अनुचित कहा जाए। किन्तु वस्तुतः किसी काव्य-प्रसंग को शास्त्रीय नाम देने का आधार सहृदय के चित्त का उद्वेलन होता है। यदि सहृदय को लौकिक शृंगार की ही अनुभूति होती है तो उसे लौकिक शृंगार का ही उदाहरण स्वीकार करना चाहिए।

---

१. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ३२।
२. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ४३।

डॉ० राकेश गुप्त ने रसाभास की अनावश्यकता सिद्ध करते हुए कहा है कि काव्यानुभूति में केवल दो ही दशाएं सम्भव हैं, या तो रसास्वाद होगा अथवा फिर अनास्वाद ही रह जाएगा। ऐसी किसी भी दशा की कल्पना करना जिसमें रस न हो, किन्तु रस के सदृश अनुभूति हो, व्यर्थ है।[१] पर रसाभास से अभिप्राय रस का सादृश्य नहीं है। रसाभास का सामान्य अर्थ हम पहले ही निर्दिष्ट कर चुके हैं कि जब तक हमें प्रकरण प्रमाण-सिद्ध अथवा उचित प्रतीत होता है तब तक हम उस प्रसंग में अन्य रस-प्रकरणों की भांति आनन्दमग्न रहते हैं पर अनौचित्य का परिज्ञान होते ही हमारा सम्पूर्ण आनन्द समाप्त हो जाता है। और उस अवस्था के विषय में हमारी बुद्धि कोई न कोई टिप्पणी भी कर देती है, यथा—यह ठीक नहीं कर रहा, ऐसा नहीं होना चाहिए था, यह व्यर्थ रो रही है, आदि। और साथ ही हमारा चित्त घृणा, अश्रद्धा, उपहास आदि अथवा दया, श्रद्धा आदि किसी हलके भाव से आप्लावित हो जाता है। उस प्रसंग से हम किसी रस विशेष का आनन्द तो प्राप्त नहीं कर पाते और न उसमें हमारी पूर्ण तन्मयता ही रहती है; पर उस प्रसंग से हमारा पूर्णतः विच्छेद भी नहीं होता। रावण द्वारा सीता के प्रति कहे प्रेम-वचनों को सुनकर हम शृंगार के सादृश्य अर्थात् रस की झलक नहीं देखते, वरन् रावण सीता को ऐसा क्यों कह रहा है, ऐसी सामान्य-सी अनुभूति करते हैं। वस्तुतः ऐसे स्थलों में हम भोक्ता की अपेक्षा ज्ञाता अधिक होते हैं। रावण द्वारा सीता के प्रति व्यक्त रति को देखकर हमारे मन पर रति का उद्बोध तो होता है, किन्तु वह आस्वाद रूप में न होकर ज्ञान रूप तक सीमित होता है और हमारा यह ज्ञान-पक्ष हमारे किसी विचार को उद्बुद्ध करता है। हम आश्रय से औचित्य-अनौचित्य की ओर झुकने लगते हैं। तब हम रावण के प्रति क्रोध अथवा घृणा कर सकते हैं, सीता के प्रति खेद अथवा करुणा प्रदर्शित कर सकते हैं अथवा रावण की असमर्थता पर उपहास भी कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त राकेश-गुप्त की इस बात से भी हम पूर्णतः सहमत नहीं कि या तो रस ही होगा अथवा वह अनास्वाद ही रह जाएगा। रसाभास के अतिरिक्त भाव एवं लौकिक भाव (वासना आदि) शास्त्रीय दृष्टि से रस न होते हुए भी पूर्णतः आस्वाद्य होते हैं।[२] इस आधार पर इन्हें रस के सदृश अनुभूति भी कहा जा सकता है।

अन्त में निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि रसाभास के प्रसंग को पढ़ने के उपरान्त सहृदय के चित्त की दो अवस्थाएं होती हैं। पहले उसे रति आदि का आस्वाद अथवा ज्ञान मिलता है और बाद में यह आस्वाद अथवा ज्ञान सहृदय का विवेक जागरित होने पर घृणा, क्रोध, क्षोभ अथवा श्रद्धा, दया, सहानुभूति आदि किसी भाव में परिवर्तित हो जाता है। इसी सम्पूर्ण प्रक्रिया का नाम रसाभास है। यहां यह एक प्रश्न उपस्थित होता है कि इस प्रकार की अनुभूतियों को रसाभास की संज्ञा क्यों प्रदान की गयी है ? आभास के विविध अर्थों के आधार पर इस संज्ञा की उपयुक्तता पर

---

१. साइकोलाजिकल स्टडीज इन रस, पृ० १६७।

२. देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ४३।

विचार करना आवश्यक है, इससे रसाभास के प्रसंग में रस की स्थिति अधिक स्पष्ट हो सकेगी। इस सम्बन्ध में निम्नोक्त सम्भावनाएं प्रस्तुत की जा सकती हैं :

(१) आचार्यों ने रति आदि के आस्वाद अथवा ज्ञान को मिथ्या प्रतीति मान कर और अनौचित्य-जन्य घृणा, क्रोध आदि भावों को (अभिनवगुप्त के अनुसार हास्य रस को) वास्तविक ज्ञान समझ कर इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को रसाभास की संज्ञा प्रदान की है। यह स्थिति ऐसी ही है जैसी कि एक बार शुक्तिका को रजत मान लेने के उपरान्त प्रकाश में शुक्तिका का ज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु वेदान्त की पारिभाषिक शब्दावली के अनुसार रजत में शुक्तिका की प्रतीति आभास न होकर अध्यास अथवा अध्यारोप है।[1] इस दृष्टि से उक्त प्रकार के काव्य-प्रसंगों को रसाध्यास अथवा रसाध्यारोप कहना चाहिए। किन्तु इस सम्भावना का निराकरण सम्भव है। अध्यास में वस्तु का स्वरूप विकृत नहीं होता केवल अन्धकार अथवा अविवेक के कारण वास्तविक पदार्थ (शुक्तिका) अवास्तविक (रजत) प्रतीत होने लगता है। काव्य में रति का वास्तविक प्रसंग राम और सीता का है, यदि इसमें हमें अनौचित्य की प्रतीति हो तब तो इसे अध्यास कहना ठीक है। रावण सीता की रति वास्तविक रति नहीं है।

(२) अध्यास की एक व्याख्या यह भी की जाती है कि वस्तुतः मृत्तिका एक वास्तव द्रव्य है और कुम्भकार के व्यापार से वह कभी घड़े, कभी कड़ाही, कभी कसोरे के रूप में जो दीख पड़ती है, वस्तुतः मिथ्या है। नाम तथा रूप दोनों की कल्पना मिथ्या है। 'वह मृत्तिका है' केवल यही बात सच्ची है। फलतः कारण की ही एक मात्र सत्ता है। कार्य के रूप में जो हम परिवर्तन देखते हैं वह वास्तविक न होकर केवल मानसिक आरोप है। इसी मानसिक आरोप को शंकराचार्य अध्यास के नाम से पुकारते हैं।[2] इसी प्रकार काव्य में रसाभिव्यक्ति के साधनों को वास्तव तथा उनसे जन्य रसाभास को मिथ्या मानने से भी रसाभास के स्थान पर रसाध्यास संज्ञा अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। अध्यास के इसी प्रकार के उदाहरणों में दुग्ध से दही के परिवर्तन को ग्रहण किया गया है। जामन (खट्टे) से दूध दही में परिवर्तित होता है और इधर अनौचित्य से रसाभिव्यक्ति के साधन रसाभास में। किन्तु इस सम्भावना में भी एक दोष है। यदि रसाभिव्यक्ति के साधन ही सत्य हैं तब तो रसादि आठों को ही रसाध्यास की संज्ञा प्रदान करनी होगी।

(३) आभास की संज्ञा दर्पण में प्रतिबिम्ब को दी जाती है।[3] अर्थात् स्फटिक-

---

१ (क) वस्तुन्यवस्त्वारोपणमध्यासः।

(ख) अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंचयते।

२. देखिए, भारतीय दर्शन (बलदेव उपाध्याय), पृ० ४४७-४४८।

३. अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह।
यद्वद् विचित्ररचना मुकुरान्तराले।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारयुक्त्या।
विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु॥ —विवृत्ति विमर्शिनी (अभिनव)
(अभिनव ने परमेश्वर तथा जगत् का सम्बन्ध दर्पण बिम्बवत् ही कहा है।)

मणि में जपा पुष्पों का आभास होता है। इस प्रकार आभास का अर्थ हुआ किसी पदार्थ का अस्पष्ट-सा दीखना अथवा वास्तविक पदार्थ की सदृश प्रतीति। जपा पुष्प स्फटिक से पृथक् होते हुए भी स्फटिक में प्रतीत होते हैं। स्फटिक के नाश हो जाने पर भी उनकी स्थिति बनी रहती है। किन्तु रसाभास की स्थिति ऐसी नहीं है। रसाभास को रस की सदृश प्रतीति नहीं माना जा सकता। अनौचित्य का ज्ञान होने से पूर्व सहृदय पूर्ण रस का आस्वाद प्राप्त करता है, उसमें रस की सदृश प्रतीति जैसी कोई अनुभूति नहीं होती। अनौचित्य का ज्ञान हो जाने के उपरान्त प्राप्त रस सर्वथा विनष्ट हो जाता है तब भी रस की सदृश प्रतीति जैसी कोई अनुभूति नहीं होती। अविवेकावस्था में प्राप्त आस्वाद की स्मृति की गूंज रहती अवश्य है किन्तु सहृदय उसके प्रति भी अरुचि प्रदर्शित करता है। इसे भी रस की सदृश प्रतीति कहना उपयुक्त नहीं। ऐसी स्थिति में भी यदि इसे रसभास कहा जाता है तो अजागल-स्तन-न्याय से ही। यदि रसाभास की सन्धि रस+आभास इस रूप में न करके रस+अभास इस रूप में कर लें तो रसाभास और उसकी अनुभूति की संगति कहीं अधिक अपयुक्त प्रतीत होगी।

(४) वेदान्त में पारिभाषिक शब्दावली के रूप में शुक्तिका-रजत के प्रसंग में आभास शब्द का प्रयोग नहीं हुआ किन्तु अनेक स्थलों पर सामान्य रूप से मिथ्या बुद्धि के अर्थ में इसका प्रयोग (जिसे कि शंकर ने अवभास कहा है) हुआ अवश्य है। आगे चल कर तो इसका प्रयोग इसी अर्थ में ही ग्रहण किया गया है। अध्यात्म रामायण में स्पष्टतः 'आभासस्तु मृषा बुद्धि' ही कहा है।[1] ऐसा मान लेने पर गोबलीवर्द न्याय अथवा ब्राह्मणश्रमण न्याय से (उत्तरकालिक स्थिति होने के कारण) रसाभास संज्ञा की संगति बैठ जाती है।

(५) वेदान्त के प्रसिद्ध ग्रन्थ पंचदशी में आभास की व्याख्या एक अन्य प्रकार से की गयी है। उसके अनुसार वस्त्र पर बने चित्र में यद्यपि सत्य वस्त्र होता है किन्तु फिर भी चित्र को ही सत्य कहा जाता है।[2] इसी प्रकार रसाभास के प्रसंग में सत्य अनौचित्य होता है, किन्तु विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव से बने चित्र (रस) को ही सत्य कह दिया गया है, जबकि वह यहां मिथ्या है।

(६) विश्वनाथ ने उल्लेख अलंकार के प्रसंग में आभास शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार भगवान् कृष्णचन्द्र को देख कर गोपियों ने उन्हें प्रियतम समझा। नन्द आदि वृद्ध गोपों ने शिशु, देवताओं ने अधीश्वर, भक्तों ने नारायण और योगियों ने उन्हें साक्षात् ब्रह्म समझा। यहां भगवान् एक ही थे और उनमें प्रियत्व, शिशुत्व,

---

१. देखिए, शब्द कल्पद्रुम आभास शब्द।

२. चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशा इव कल्पिताः।
पृथक्-पृथक् चिदाभासश्चैतन्याध्यस्तदेहिनाम्॥
कल्प्यन्ते जीवनामानो बहुधा संसरत्यमी।
वस्त्राभासेस्थितान् वर्णान् यद्वदाधारवस्त्रगान्॥

—पञ्चदशी, ६-७ (शब्दकल्पद्रुम से उद्धृत)।

अधीश्वरत्व, नारायणत्व तथा ब्रह्मत्व रूप अवच्छेदक धर्म भी विद्यमान थे, परन्तु गोपियों ने उन्हें प्रियतम ही समझा, शिशु अथवा ब्रह्म आदि नहीं। इसी प्रकार वृद्ध आदिकों ने भी कुछ और ही समझा। इन सबका कारण अपनी-अपनी रुचि आदि थी। जिसकी जैसी रुचि या कामना थी और जिसकी जैसी भावना थी उसने उसी रूप में देखा,[1] इसे ही उन्होंने आभास कहा—

> यथा रुचि, यथार्थित्वं, यथाव्युत्पत्ति भिद्यते।
> आभासोऽप्यर्थ एकस्मिन्ननुसंधानसाधितः॥

साहित्य दर्पण पृ० १०।३७ (व्याख्या)

अर्थात् एक ही वस्तु होने पर भी अनुसन्धान अर्थात् विशेषणों के बल से उत्पन्न हुआ ज्ञान रुचि, अर्थित्व और व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न हो जाता है। जिसकी जैसी रुचि होती है, जिसका जैसा प्रयोजन (अर्थित्व) होता है, जिसकी जैसी भावना (व्युत्पत्ति) होती है, उसे वह वस्तु वैसी ही आभासित होती है। रसाभास के प्रसंग में आभास की यह व्याख्या भी ठीक बैठ जाती है। सम्भवतः आचार्यों का यह मत रहा हो कि रसाभास का प्रसंग सहृदय भेद से रस, भाव आदि भी कहला सकता है। जिस प्रकार एक ही कृष्ण को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने पृथक्-पृथक् रूप में देखा, उसी प्रकार एक ही प्रसंग भिन्न देश-काल अथवा व्यक्ति के होने पर भिन्न-भिन्न संज्ञा प्राप्त कर सकता है।[2]

इस प्रकार हमने किन्हीं काव्यप्रसंगों को रसाभास की संज्ञा क्यों प्रदान की गयी, इस विषय पर अनेक सम्भावनाएं प्रकट की हैं। इनमें से कोई सम्भावना असत्य भी हो सकती है, किन्तु इससे रसाभास में रस की स्थिति समझने में सहायता अवश्य मिलेगी। इसी प्रयोजन से ही इन्हें यहां प्रस्तुत किया गया है।

४. रसाभास और साधारणीकरण

इस प्रसंग में यह एक स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि रसाभास की स्थिति में साधारणीकरण होता है या नहीं?

अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण की सफलता के लिए औचित्य का तत्त्व विभावादि में अनिवार्य रूप से स्वीकृत किया है।[3] सम्भवतः अभिनव गुप्त से ही प्रेरित होकर जगन्नाथ ने भी यह प्रश्न उपस्थित किया है—आप कहेंगे कि रस प्रतीति से

---

१. प्रिय इति गोपवधूभिः, शिशुरिति वृद्धैरधीश इति देवैः।
नारायण इति भक्तैर्ब्रह्मेत्यग्राहि योगिभिर्देवः॥
अत्र कस्यापि भगवतस्तत्तद्गुणायोगादनेकधोल्लेखे गोपवधूप्रभृतीनां रुच्यादयो यथा-योगं प्रयोजकाः। —साहित्य दर्पण, १०।३७ (व्याख्या)।

२. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय ३, 'रसाभास का मूलाधारः अनौचित्य' प्रकरण।

३. विभावाद्यौचित्येन हि विना का रसवत्ता कवेरिति।
—ध्वन्यालोक ३।१४ की लोचन टीका से।

पूर्व नायक-नायिका आदि के साधारण हो जाने के कारण उनमें हमारी पूज्य बुद्धि उत्पन्न ही नहीं होगी ? पर यह ठीक नहीं है। क्योंकि जिस स्थान पर सहृदय व्यक्ति को रस की जागृति प्रमाण-सिद्ध प्रतीत होती है, उन्हीं नायक-नायिका आदि में साधारणीकरण की कल्पना की जाती है, अन्यथा अपनी माता के विषय में अपने पिता के प्रेम-वर्णन करने पर भी रस की प्रतीति होने लगेगी।[1]

स्पष्टतः आचार्य जगन्नाथ ने साधारणीकरण के लिए (रस की जागृति के लिए) उसका प्रमाण सिद्ध होना अनिवार्य कहा है। रस की जागृति का प्रमाण से सिद्ध होने का अर्थ किसी भी प्रकार के अनौचित्य के न होने से है। यदि रस प्रकरण में कोई अनौचित्य आ जाता है तो वह प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं कहा जा सकता। समाज द्वारा अनुमोदित कृत्य ही प्रमाण सिद्ध होता है। पंडितराज के अनुसार प्रमाण सिद्धि के बिना रस की जागृति सम्भव नहीं और न साधारणीकरण की ही उससे सम्भावना है। रसाभास के प्रसंग में वामन झलकीकर के अनुसार जब तक अनौचित्य का परिज्ञान नहीं होता तब तक सामाजिक साधारणीकरण के ही उपाय से वर्णन में तल्लीन रहता है।[2] अनौचित्य का परिज्ञान हो जाने के उपरान्त साधारणीकरण का शिथिल हो जाना स्वाभाविक है।

इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निम्नोक्त स्थल द्रष्टव्य हैं—

(१) उनके अनुसार 'पात्र द्वारा भाव की व्यंजना करने में कवि के दो रूप होते हैं—सहज और आरोपित। यदि व्यंजित किये जाने वाले भाव का आलम्बन सामान्य है—ऐसा है जो मनुष्य मात्र के चित्त में वही भाव उत्पन्न कर सकता है—तो समझना चाहिए कि कवि अपने सहज रूप में उसे प्रकट कर रहा है। जैसे रावण के प्रति राम का क्रोध।

(२) आरोपित भाव कवि अनुभव नहीं करता, कल्पना द्वारा लाता है। आश्रय की स्थिति में अपने को समझ कर आलम्बन के प्रति कवि भी यदि उसी भाव का अनुभव करता है, जिस भाव का आश्रय करता है तो कवि उस भाव का प्रदर्शन सहज रूप में करता है। यदि कवि का भाव उदासीन है या अनौचित्य ज्ञान के कारण विरक्त है तो आश्रय के भाव का प्रदर्शन वह केवल आरोपित या आहार्य रूप में करता है। ऐसे स्थल पर रसाभास या भावाभास ही मानना चाहिए। क्योंकि इससे कवि या श्रोता के मन की अनौचित्य-जन्य विरक्ति के कारण भाव में त्रुटि आती है।[3]

---

१. (क) न च साधारणीकरणादाराध्यत्वज्ञानानुत्पत्तिरिति वाच्यम्। यत्र सहृदयानां रसोद्बोधः प्रमाणसिद्धस्तत्रैवसाधारणीकरणस्य कल्पनात्। अन्यथा स्वमातृविषयक-पितृरतिवर्णनेऽपि सहृदयस्य रसोद्बोधापत्तेः। —रसगंगाधर, रसदोष प्रकण।
(ख) तत्र रसाद्याभासत्वं रसत्वादिना न समानाधिकरणम्, निर्मलस्यैव रसादित्वात्। —रसगंगाधर, रसाभास प्रकरण।

२. देखिए-प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० २८।

३. रसमीमांसा, पृ० ९१।

शुक्ल जी के इस उद्धरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि रसाभास के स्थल कवि द्वारा अनुभूत न होने एवं केवल आहार्य अथवा आरोपित होने के कारण मनुष्य-मात्र के चित्त में वही भाव नहीं उत्पन्न कर सकते—अर्थात् उनका साधारणीकरण नहीं होता। क्योंकि न तो उसकी पूर्णतः किसी के साथ सहानुभूति हो पाती है और न किसी के साथ तादात्म्य ही। उनका कथन है कि "साधारणीकरण के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव-व्यंजना करने वाला पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है, जिसमें आश्रय किसी काव्य या नाटक के पात्र के रूप में आलम्बन रूप किसी दूसरे पात्र के प्रति किसी भाव की व्यंजना करता है और श्रोता (या पाठक) उसी भाव का रस रूप में अनुभव करता है। पर रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहां के साहित्य-ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ है। उसका भी विचार करना चाहिए। किसी भाव की व्यंजना करने वाला, कोई क्रिया या व्यापार करने वाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता (या दर्शक) के किसी भाव का—जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का आलम्बन होता है। इस दशा में श्रोता या दर्शक का हृदय उस पात्र के हृदय से अलग रहता है—अर्थात् श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नहीं करता जिसकी व्यंजना पात्र अपने आलम्बन के प्रति करता है, बल्कि व्यंजना करने वाले उस पात्र के प्रति किसी और ही का अनुभव करता है।"[१]

आचार्य शुक्ल के इस उद्धरण से हम भी सहमत हैं किन्तु यह विवेचन पुराने आचार्यों ने भी किया है। रस के अतिरिक्त रसाभास की जो स्वीकृति हुई है वह आचार्य शुक्ल के विवेचन से पूर्णतया मेल खाती है। उनकी इस दशा से भिन्न स्थिति तथा रसाभास की स्थिति में हमें कोई अन्तर नहीं दिखलाई देता। आनन्दवर्धन एवं जगन्नाथ के उपर्युक्त कथन रसाभास के प्रसंग में ही ग्राह्य हैं।

इस दशा के विषय में उनका कथन है कि—यह दशा भी एक प्रकार की रस दशा ही है—यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलम्बन का साधारणीकरण नहीं रहता। जैसे, कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जागेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी। बल्कि श्रोता या पाठक उस पात्र के शीलद्रष्टा या प्रकृतिद्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक होगा। पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।[२] आगे उन्होंने लिखा है कि "जहां पाठक या दर्शक किसी काव्य या नाटक में सन्निविष्ट पात्र या आश्रय के शीलद्रष्टा के रूप में स्थित होता है वहां भी पाठक या द्रष्टा के मन में कोई न कोई भाव थोड़ा-बहुत अवश्य जगा रहता

---

१. रसमीमांसा, पृ० ३१३।
२. वही, पृ० ३१३-१५।

है; अन्तर इतना ही पड़ता है कि उस पात्र का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन नहीं होता; बल्कि वह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलम्बन रहता है। इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलम्बन अवश्य होता। है; अतः पात्र का स्वरूप कवि के भाव का आलम्बन प्रायः हो जाता है। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य दशा की अनुभूति (जिसे आचार्यों ने रस कहा है) दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियां हैं। प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग सम्हाले रहता है। द्वितीय में अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन कर आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है।[१]

शुक्ल जी अपने इस विवेचन के आधार पर निम्नोक्त तथ्य प्रस्तुत करना चाहते हैं :

—काव्य में एक स्थिति ऐसी होती है कि कोई अधम पात्र उत्तम पात्र के प्रति क्रोध आदि भाव प्रकट करता है तब हमारी सहानुभूति उसके साथ नहीं होती।

—ऐसी अवस्था में श्रोता या पाठक उस अधम पात्र के शीलद्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा। अतः उसके प्रति वह घृणा आदि भाव रखने लगता है।

—उसका यह प्रभाव-ग्रहण रसात्मक होगा।

—किन्तु यह रसात्मकता मध्यम कोटि की ही होगी।

—ऐसी अवस्था में वह अधम पात्र सहृदय के किसी भाव का आलम्बन होता है। साधारणीकरण के सिद्धान्तानुसार वह आलम्बन के प्रति आश्रय वाले भाव नहीं रखता।

—उस समय उसका तादात्म्य रति के भाव के साथ होता है।

—वह अपनी सत्ता पृथक् बनाये रखता है। इसमें मग्न होकर वह अपने को भूल नहीं जाता।

उपर्युक्त सभी तथ्य सर्वथा स्पष्ट हैं पर निम्नोक्त बातें विचारणीय हैं :

(१) उसका यह प्रभाव ग्रहण रसात्मक होगा अर्थात् रसाभास के स्थलों के पढ़ने के उपरान्त जब पाठक आश्रय के प्रति किसी विशेष भाव को रखता है तो उसका वह विशेष भाव रसात्मक अर्थात् आनन्ददायक होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य शुक्ल ने रसाभास को अंगी रस का उपकारक होने के कारण रसात्मक स्वीकार कर लिया है। निश्चय ही रसाभास के स्थलों को पढ़ कर पाठक को एक प्रकार का आह्लाद होता है। जब पापी रावण पतिव्रता सीता के प्रति प्रेम प्रदर्शित करता है तो एक ओर वह हमारी घृणा का पात्र रहता है और दूसरी ओर सीता का अस्वीकारात्मक उत्तर सुनकर हम आह्लाद का अनुभव करते हैं तथा रावण के

१. वही, पृ० ३१३-१५

असामर्थ्य एवं व्यग्रता पर प्रसन्न हो उठते हैं। इसी प्रकार यदि कोई युवती केवल गाउन की सिकुड़न के कारण महान् शोक प्रकट करती है अथवा एक जूते की जोड़ी के लिए नानाविध कष्ट सहती है तो एक और वह उपहास की पात्री बनती है और दूसरी ओर हम कवि की इस कल्पना से किञ्चित् चमत्कृत भी हो उठते हैं। असम्भव घटनाओं (अतिशयोक्ति आदि अलंकारों) के वर्णनों के साथ किसी प्रकार का तादात्म्य स्थापित न करके भी कवि की उस प्रकार की कल्पना से आह्लादित अवश्य होते हैं। इसे एक प्रकार की रसात्मकता कह सकते हैं।

(२) आचार्य शुक्ल ने इस आह्लाद अथवा रसात्मकता को मध्यम कोटि का बतलाया है। हमारा इस विषय में थोड़ा मतभेद है। इसमें सन्देह नहीं कि यह रसात्मकता शृंगार, वीर, भयानक आदि रसों से सर्वथा भिन्न है। पर भिन्नता और कोटि में परस्पर भेद है। भिन्नता प्रकार की वाची है और कोटि श्रेणी की। अर्थात् जब हम यह कहते हैं कि यह पदार्थ उत्तम कोटि का है और यह मध्यम कोटि का तो उसका अर्थ यह होता है कि मध्यम कोटि के पदार्थ में कोई कमी है, यदि उस कमी को पूरा कर दिया जाय तो वह भी उत्तम कोटि का पदार्थ बन जाएगा, और जब हम यह कहते हैं कि यह पदार्थ उस पदार्थ से भिन्न प्रकार का है तो उसका अर्थ यह होता है कि उन दोनों पदार्थों में कुछ असमानता है। अतः हम यह तो मान सकते हैं कि रसाभास से प्राप्त आनन्द (आह्लाद अथवा रसात्मकता) रस के आनन्द से मध्यम प्रकार का अर्थात् उसकी तुलना में कम आनन्ददायक है पर यह हम स्वीकार नहीं करना चाहते कि इन दोनों आनन्दों में कोई समानता है।

(३) हां, वेद्यान्तर स्पर्शशून्यता की दृष्टि से यह स्थिति मध्यम कोटि की अवश्य है। जितने लीन हम किसी रस के स्थल में होते हैं उतने इस रसाभास की अवस्था में नहीं होते। इसका कारण यह है कि रसाभास के उदाहरणों में बुद्धि का योग रहता है जो कि चित्त की तन्मयता में व्याघात पहुंचाता है।

निष्कर्ष यह कि रसाभास-प्रसंग में साधारणीकरण व्यापार रस प्रसंग की अपेक्षा इतना अधिक सुगठित नहीं होता, और इसी के ही अनुरूप हमें इस प्रसंग से रस प्रसंग के समान आनन्दानुभूति भी प्राप्त नहीं होती। किन्तु यह आनन्द आता अवश्य है, क्योंकि रस का आस्वाद (आनन्द) वस्तुतः अपनी आत्मा का ही आनन्द है। चित्त के वेद्यान्तर स्पर्श शून्य हो जाने के उपरान्त आत्मा अपने ही स्वरूप का उपभोग करता है। रसाभास की स्थिति में भी प्रमातृ चेतना के बाह्य बन्धन शिथिल हो जाते हैं, अतः यह स्थिति भी आनन्दात्मक ही होती है। निश्चय ही यह स्थिति पूर्ण रस के आनन्द की स्थिति से भिन्न होती है, किन्तु यह आनन्दयुक्त अवश्य है। इसी कारण इसे रसध्वनि का एक भेद स्वीकार किया गया है।

× × ×

रसाभास का लक्षण

उपर्युक्त सभी प्रसंगों पर प्रकाश डालने के उपरान्त रसाभास का लक्षण निम्नोक्त

शब्दों में प्रस्तुत किया जा सकता है—"रति आदि के आस्वाद अथवा ज्ञान के उपरान्त अनौचित्य के कारण जब रस सामग्री क्षीण हो जाती है, और उससे सहृदय के चित्त में (जिस रस के विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभावों का संयोग होता है, उसके स्थान पर) उपहास, घृणा, आदि भाव (अत्यन्त साधारण रूप से) जागरित होते हैं तो उसे रसाभास कहते हैं।"

इसी प्रसंग में एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या रस के अतिरिक्त रसाभास को भी काव्य का आत्मा स्वीकार किया जाए? अब हम इसी प्रश्न का समाधान करेंगे।

रसाभास : काव्य का आत्मा, उपचार से

आनन्द वर्द्धन ने असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य के आठ भेद किये हैं, जिनमें रसाभास भी परिगणित है। ये सभी आत्मपद के अधिकारी माने गये हैं।[1]

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः॥ —ध्वन्यालोक २-३

विश्वनाथ का भी कथन है कि रस, भाव, रसाभासा, भाव प्रशम, भावोदय, भावसन्धियां एवं भावशबलता ये सब आस्वादित होने के कारण रस कहाते हैं।[2]

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः॥ —सा० दर्पण, ३। २५९-६०।

रूप गोस्वामी का भी यही कथन है—उत्तमास्तु रसाभासः कैश्चिद्रसतयोदिताः (हरिभक्ति रसामृत सिन्धु ९-१२४) किन्हीं रसाभासों को रसता के कारण उत्तम कहा है।[3]

यहां पर किसी को यह शंका हो सकती है कि यदि सभी रस हैं तो उन्हें पृथक्-पृथक् संज्ञा देने की आवश्यकता क्यों हुई। इसका उत्तर देते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि यदि एक पेया विभिन्न द्रव्यों से तैयार की जाए और उन सब द्रव्यों का एक ही रस तैयार हो जाये तथा उनकी सम्मिलित सुगन्धि का भी उपभोग किया जा रहा हो फिर भी पृथक् करके लोग कहने लगते हैं कि इस द्रव्य में शुद्ध जटामांसी द्रव्य की विशेष गन्ध आ रही है। अभिप्राय यह कि आस्वाद की कुछ भिन्नता के कारण उसे भिन्न संज्ञा प्रदान की जाती है। रस ध्वनि वहीं होती है जहां विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भाव के संयोग से स्थायिभाव की प्रतिपत्ति हो और आस्वादयिता स्थायी भाव के अनुशीलन से ही आस्वाद का अनुभव करे। रस इत्यादि अर्थ अंगी के रूप में

---

१. साथ ही यह कारिका भी देखिए—
भावाः सर्वे तदाभासा रसाभासश्च केचन।
अमी प्रोक्तारसभिज्ञैः सर्वेऽपि रसनाद्रसाः॥ ह० भ० र० सि० ९ २४ २५।

२. यथा गन्धयुक्तिज्ञैरेकरससंमूर्छिता मोदोपभोगेऽपि शुद्धमांस्यादिप्रयुक्तमिदं सौरभमिति। —ध्व० लोचन, पृ० १७९।

३. रसध्वनिस्तु स एव योऽत्र मुख्यतया विभावानुभावव्यभिचारिसंयोजनोदितस्थायिप्रतिपत्तिकस्य प्रतिपत्तुः स्थाय्यंशचर्वणाप्रयुक्त एवास्वादप्रकर्षः। —वही।

प्रकाशित होकर असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य नामक ध्वनि कहलाते हैं। ये अर्थ मानो वाच्य के साथ अवभासित होते हैं और वे अंगी के रूप में अवभासित होकर ध्वनि की आत्मा बनते हैं।[1] मानो से अभिप्राय है कि क्रम के रहते हुए भी उसका लक्षित न होना। सार यह कि सभी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के भेद होने से आत्मपद के अधिकारी हैं।[2] किन्तु यहां यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि एक ओर रस और दूसरी ओर भाव, रसाभास आदि सात काव्यांगों में आनन्द का तारतम्य स्पष्ट है, अतः रसाभास में भी आत्मतत्व की स्वीकृति उसी अनुपात में कम होनी चाहिए। किन्तु फिर भी यदि इसमें रस के ही समान आत्म-तत्त्व की स्वीकृति की जाती है तो केवल उसी परिवार से सम्बद्ध होने के कारण ही। हमारे विचार में भाव, रसाभास आदि में आत्मतत्व की स्वीकृति उपचार रूप से ही करनी चाहिए, प्रमुख रूप से नहीं।

कुन्तक ने ऊर्जस्वि अलंकार के खण्डन के प्रसंग में लिखा है कि रसाभास में अनौचित्य होने के कारण वह हेय है।[3] किन्तु इसके विपरीत जगन्नाथ का स्पष्ट मत है कि यदि कोई अनौचित्य रसपरिपाक में साधक हो तो वह ग्राह्य होगा—'यावता त्व-नौचित्येन रसस्य पुष्टिस्तावत्तु न वार्यते' (रसगंगाधर, रसदोष प्रकरण)। उन्होंने इस प्रसंग में एक उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसमें रावण के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए ब्रह्मा आदि देवताओं की निन्दा की गई है:

ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयताम्।
स्वल्पं जल्प बृहस्पते! जडमते! नैषा सभा वज्रिणः॥
वीणां संहर नारद! स्तुतिकथालापैरलं तुम्बुरो।
सीतारल्लकभल्लभग्नहृदयः स्वस्थो न लङ्केश्वरः॥[4]

जगन्नाथ का इससे आशय यह है कि यद्यपि इस प्रकार की ब्रह्मा, वृहस्पति आदि विषयक निन्दा अनुचित है किन्तु रावण की सभा में प्रयुक्त इस प्रकार के कथन अन्ततः सहृदय के चित्त में रावण के प्रति घृणा जागरित करते हैं। और यह घृणा उन देवताओं के प्रति सहृदय की भक्ति को और अधिक बढ़ाती है। अतः काव्य में अनौचित्य का वर्णन भी अनिवार्य है। विदूषक में वर्णित अनौचित्य प्रायः हास्य रस का

---

१. रसादिरर्थो सहेव वाच्येनावभासते।
सर्वाङ्गित्वेनावभासमानो ध्वनेरात्मा। —वही, पृ० १८०।

२. इव शब्देनासंलक्ष्यता विद्यमानत्वेऽपि क्रमस्य व्याख्यातः —ध्व०लो०, १८०।

३. वक्रोक्ति जीवित

४. तुलनार्थ देखिए :—

पढ़ो विरंचि मौन वेद जीव सौर छंडि रे।
कुबेर बेर कै कही न यक्ष भीर भंडि रे॥
दिनेश जाय दूरि बैठ नारदादि संग ही।
न बोलु चंद मंद बुद्धि इन्द्र की सभा नहीं॥

—रामचन्द्रिका, रावण अंगद संवाद।

पोषक होता है ।[१] इसी प्रकार यदि किसी दुश्चरित्र महन्त के चरित्र-शोधन के लिए उस पर कटाक्ष किया गया हो तो वह उचित होगा, यथा—

कंचन सचय में निपुन रखत कंचनि मान ।
कैसे बनै महंत नहीं महि में महिमावान ।।[२]

इसी प्रकार मनुष्य द्वारा विष्ठा, वमन आदि का भक्षण एक अनौचित्य है, किन्तु इससे जुगुप्सा का पोषण होता है । अभिप्राय यह कि यदि अनौचित्य से कोई रस पुष्ट हो तो उसे ग्रहण कर लेना उपयुक्त है । रसाभास के स्थल अन्ततः अंगीरस के उपकरक होते हैं—अतः अनौचित्य काव्य का बहिष्करणीय विषय नहीं हो सकता ।

इस प्रश्न पर अन्य दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है । आचार्य शुक्ल ने एक स्थान पर लिखा है—'कवि के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सर्वत्र पूर्ण रस ही लाया करे।" इसकी व्याख्या उन्होंने स्पष्ट रूप से कहीं नहीं की । पर हमारा विचार है कि चरित्र के प्रभाव को अधिक क्षीण अथवा अधिक प्रबल करने के लिये रस की उपेक्षा करके रसाभास के स्थलों की योजना भी कवि को करनी पड़ती है । काव्य में सभी प्रकार के चरित्र होते हैं—अच्छे भी और बुरे भी । रसाभास के स्थल बुरे चरित्रों को और अधिक बुरा बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं । तात्पर्य यह कि यदि रावण को दुष्ट पात्र के रूप में चित्रित करना अभीष्ट है तो कवि जानबूझ कर उससे ऐसे काम कराएंगे जिनसे उसके कार्यों का अनौचित्य प्रकट हो सके ।

इस सम्बन्ध में यह बात स्पष्ट है कि यदि कोई सम्पूर्ण काव्य केवल रसाभास ही उत्पन्न करता है और उस काव्य का उपसंहार भी रसाभास में ही हुआ है तो वह काव्य नहीं हो सकता, कम से कम उसे उत्तम काव्य कोई भी नहीं कहेगा । किन्तु रसाभास का प्रयोग चरित्रों पर प्रकाश डालने के लिए होता है । मानव मन की विविधता को प्रकट करने के लिए कवि को अनौचित्य का वर्णन करना ही पड़ता है । कवि लोग इसका सहारा इसीलिए लिया करते हैं । इनके प्रयोग से पात्रों का चरित्र अधिक स्पष्ट हो जाता है । और उससे अंगी-रस के निष्पन्न होने में भी सहायता मिलती है । कोई भी कवि केवल रसाभास का प्रयोग नहीं करता । रसाभास काव्य की आत्मा है इससे यह अभिप्राय कदापि नहीं लेना चाहिए कि रसाभास अथवा अनौचित्य काव्य का लक्ष्य है । वरन् इसका अर्थ यह है कि काव्य में प्रमुखतः प्रबन्ध काव्यों में प्रसंगानुकूल रसाभास की स्थिति अनिवार्य है ।

---

१. 'अले, ले, सद्दः समुप्पाडिअ हरियकुसगन्थिमयाच्छमालापइवित्ति विस्संभिअ बालविहंदः कअणा बह्मणा' इत्यादि विदूषकवचनेपि रेशब्दादिप्रयोगस्य तत्तथा, हास्यानुगुणत्वात् । —रसगंगाधर, रसदोष प्रकरण ।

२. रसकलस, पृ० ७२ ।

तृतीय अध्याय

रसाभास के विभिन्न आधार

रसाभास का मूलाधार : अनौचित्य

आनन्द वर्द्धन का कथन है कि अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का कोई अन्य कारण नहीं है :

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् । —ध्वन्यालोक, ३।१४ (वृत्ति) ।

अर्थात् अनौचित्य ही एक मात्र ऐसा कारण है जो कि आभास की आधार-भूमि है। अभिनवगुप्त, मम्मट, हेमचन्द्र, जयदेव, रुय्यक, विश्वनाथ केशवमिश्र, जगन्नाथ, नरेन्द्रप्रभ सूरि आदि आचार्यों ने भी यही धारणा प्रस्तुत की है।[1] इधर हिन्दी के आचार्यों में कुलपति मिश्र, चिन्तामणि त्रिपाठी, सोमनाथ, प्रतापसाहि, पद्माकर, जनराज, कवि हरिचण दास सरदार कवि, तथा भानु कवि ने भी मम्मट आदि संस्कृत के आचार्यों के अनुकरण पर अनौचित्य को ही रसाभास का मूलाधार स्वीकार किया है :

(क) अनुचित है रसभाव जहां ते कहिये आभास । —रस रहस्य, ३।६८ ।

(ख) अनुचित त्रिषय करति जु है सोइ रस आभास ।

—कविकुलकल्पतरु, पृ० २१४ ।

---

१. (क) औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो, व्यभिचारिण्याभावः अनौचित्येन तदाभासः । —ध्वन्यालोक, लोचन, पृ० ७८ ।

(ख) तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः । —काव्यप्रकाश, ४।३६ ।

(ग) अनौचित्याच्च । —काव्यानुशासन, अध्याय २, पृ० १२३ ।

(घ) अनौचित्या रसाभासा भावाभासाश्च कीर्तिताः ।

—चन्द्रालोक, पृ० २१६ ।

(ङ) आभासत्वम विषयप्रवृत्यानौचित्यात् । —अलंकार सर्वस्व, सू० ८३ व्याख्या ।

(च) अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः । —सा० दर्पण, ३।२६२ ।

(छ) अनौचिती च महान् रसदोषः । —अलङ्कार शेखर, ८।२, पृ० ८८ ।

(ज) अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम् । —रसगंगाधर, रसाभास प्रकरण ।

(झ) आभासा रसभावानामनौचित्यप्रवर्त्तनात् । —अलंकार महोदधि, पृ० ९६ ।

(ग) अनलायक रस वरनिये जहं कवित्त में आय ।
रसाभास तासों कहैं सकल रसिक सुख पाय ।

—रस पीयूष निधि, १८।१६ ।

(घ) जहां अनुचित रसभाव को रसाभास तहं जानि ।
रस ग्रन्थन अवगाहि कै कविजन कहत बखानि ।।

—काव्य विलास ३।७८ ।

(ङ) रसाभास अनुचित करम करब अयोग्य विलास ।

—पद्माभरण, २६३ ।

(च) कै अनुचित रसभावजित ते कहिये आभास ।

—कविता रस विनोद, पृ० ७६ ।

(छ) रसाभास अनुचित करे । —चमत्कार चन्द्रिका, ४५४, पृ० ७३ ।

(ज) जहां अनुचित रस होय तहां रसाभास । —मानस रहस्य, पृ० ४० ।

(झ) रसाभास अनुचित कथन । —रसरत्नाकर, पृ० १०४ ।

शास्त्र अथवा लोक का अतिक्रमण अनौचित्य कहाता है । उद्भट, जगन्नाथ एवं काव्य प्रकाश के टीकाकार वामन झलकीकर ने प्रत्यक्ष रूप से तथा अन्य आचार्यों ने परोक्ष रूप से इसी तथ्य का उल्लेख किया है ।[1] शास्त्र एवं लोक में अनेक प्रकार के विधि-निषेध प्राप्त होते हैं ।[2] ये विधि-निषेध देश एवं काल के अनुसार परिवर्तनशील होते हैं । किन्तु इधर कवि को देश एवं काल की सीमाओं से ऊपर उठा हुआ बतलाया गया है । किन्तु यदि कवि को शास्त्र एवं लोक द्वारा निर्धारित विधि-निषेधों के वन्धन में बन्ध कर साहित्य की रचना करनी पड़े तो उसकी प्रतिभा को कुण्ठित करना होगा । इन विधि-निषेधों को अपनाकर कवि काव्य की अक्षुण्ण चेतना को निर्धारित करने में असफल ही सिद्ध होगा । प्रतिभावान् कवि सदा मार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों के बन्धन को तोड़ कर ही काव्य-रचना करता है । धर्म एवं समाज द्वारा निर्धारित नैतिकता-अनैतिकता विषयक धारणाएं सार्वभौम नहीं होतीं । कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी ।

(१) दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के प्रति प्रणय भाव प्रकट करने की स्थिति को कण्व के समान स्वीकार न कर यदि कोई पिता अपने सम्मान एवं कुल के प्रति अशोभनीय समझता हुआ उसे समाज और न्याय के दरबार में अपराधी सिद्ध करने का प्रयास करे तो यह स्थिति भले ही लोक में वाञ्छनीय एवं समुचित समझी जाय किन्तु

---

१. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० १०-१६

२. ब्राह्मणस्य मृगया, बाहुजस्य प्रतिग्रह :, शुद्रस्य निगमाध्ययनम् ।···दरिद्राणामाढ्याचरणम्, आढ्यानां दरिद्राचारः ।···। तत्रापि तत्र-भवन्भगवन्नित्यादिभिः संबोधनैर्मुनिगुरुदेवताप्रभृतय एव न राजादयः, जात्योत्तमैर्द्विजैरेव नाधमैः शूद्रादिभिः, परमेश्वरेत्यादिसंबोधनैश्चक्रवर्तिन एव न मुनिप्रभृतयः संबोध्याः ।

—रसगंगाधर, रसदोष प्रकरण ।

अभिज्ञान शाकुन्तलम् में कवि द्वारा नियोजित परिस्थितियां एवं वातावरण कण्व जैसे व्यवहार की ही अपेक्षा करेंगे। मान लीजिए यदि कोई कवि कण्व को न्याय की मांग करता हुआ प्रदर्शित करे तो भी यह निश्चित है कि प्रत्येक सहृदय कण्व और समाज द्वारा की जा रही आलोचनाओं के विरुद्ध शकुन्तला और दुष्यन्त के सम्बन्ध को और दृढ़ कर देने की कामना करेगा।

सच तो यह है कि काव्य में नैतिकता की परिभाषा परिवर्तित हो जाती है। सामाजिक नैतिकता का आधार भावी आशंकाएं अथवा उनसे होने वाली हानियों की सम्भावनाएं हैं जबकि काव्य की नैतिकता मानवमात्र की हृत्तन्त्रियों से ही सम्बन्धित है। इस प्रकार के भाव प्रायः प्रत्येक मनुष्य के चित्त में रहते हैं और वे यह भी सोचते हैं कि यदि हमारा किसी से इस प्रकार का सम्बन्ध हो जाए तो वह सर्वथा दृढ़, पवित्र एवं भावी प्रत्येक प्रकार की हानि से विरहित होगा। अतः इस प्रकार की घटनाएं सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध होती हुई भी सहृदय के चित्त में व्याघात उत्पन्न नहीं करतीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि शास्त्र एवं लोकगत मान्यताएं ही औचित्य नहीं हैं। इस बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक अन्य उदाहरण देना अनिवार्य है।

(२) भारतीय विचारधारा के अनुसार पत्नी का अपने पति की सेवा करना परम धर्म है।[१] परलोक की इच्छा करने वाली नारी को उपदेश है कि वह पति के विरुद्ध कभी कोई काम न करे।[२] पति चाहे दुःशील हो, स्वच्छन्दगामी हो, गुणशून्य हो तो भी उसे उसकी देवता की भांति पूजा करने एवं उसकी सेवा करने का आदेश दिया गया है।[३] किन्तु इतिहास साक्षी है कि चन्द्रगुप्त ने अपने बड़े भाई रामगुप्त की हत्या कर उसकी पत्नी ध्रुवस्वामिनी से उसकी इच्छा से विवाह किया।[४] शास्त्रीय मनोवृत्ति वालों को यह पुनर्लग्न भले ही असम्भव, विलक्षण एवं कुरुचिपूर्ण मालूम हो, किन्तु जिन्होंने इस घटना पर आधारित जयशंकर प्रसाद द्वारा विरचित ध्रुवस्वामिनी नाटक पढ़ा है, उन्हें यह सम्बन्ध स्वाभाविक एवं उचित प्रतीत होता है। इसमें उन्हें अनौचित्य की लेशमात्र भी गन्ध नहीं मिलती। द्राक्षासव सर में डूबे, कुबड़ों, बौनों और नपुंसकों के नृत्य में लीन विलासी, मद्यप एवं क्लीब रामगुप्त का जो चित्र प्रसाद जी ने चित्रित किया है, उसके प्रति पाठक आरम्भ से ही घृणा करने लगता है। इस

---

१. (क) सुशेवा पत्ये। अथर्ववेद १४।२।२६।
(ख) नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥ —मनुस्मृति, ५।१५५।

२. पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किंचिदप्रियम्। —वही, ५।१५६।

३. (क) विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥ —वही, ५।१५४।

४. ध्रुवस्वामिनी (सूचना)।

पर भी वह ध्रुवस्वामिनी के मुख से यह सुनकर कि "मैं तुम्हारी होकर रहूंगी"[१], पाठक का चित्त विगलित हो जाता है। इसके विपरीत इसके उत्तर में रामगुप्त का यह कथन कि "तुम उपहार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूं। इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति है।"[२] पाठक उसके प्रति तीव्र रोष प्रकट करने की स्थिति में हो जाता है। और ऐसे समय जब ध्रुवस्वामिनी के मन में चन्द्रगुप्त के प्रति आकर्षण जागरित होता है, और वह अकस्मात् ही कह उठती है—"इस वक्षस्थल में दो हृदय हैं क्या? जब अन्तरंग 'हां' करना चाहता है, तब ऊपरी मन 'ना' क्यों कहला देता है"[३] पाठक थोड़ा भी वैरस्य अनुभव नहीं करता। इस प्रकार चन्द्रगुप्त के मुख से यह सुनकर की 'ध्रुवदेवी मेरी है। हां, वह मेरी है, इसे मैंने आरम्भ से ही अपनी सम्पूर्ण भावना से प्यार किया है'[४], पाठक कुतूहल का अनुभव करता है। ध्रुवस्वामिनी अपने पति के विरुद्ध कुमार चन्द्रगुप्त का ही पक्ष लेती है।[५] वह अपने को न महादेवी शब्द से सम्बोधन करवाना चाहती है, और न रामगुप्त की सहधर्मिणी ही कहलवाना।[६] रामगुप्त के मुख से यह सुनकर कि 'तुम्हारा परपुरुष में अनुरक्त हृदय अत्यन्त कलुषित हो गया है। तुम काल-सर्पिणी-सी स्त्री हो। ओह, तुम्हें धर्म का तनिक भी भय नहीं?' पाठक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके विपरीत पुरोहित के मुख से यह सुनकर कि 'रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राजकिल्विषी क्लीव है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं,' वह हर्ष अनुभव करता है। रामगुप्त का सर्वनाश करने की कामना करने लगता है। यद्यपि प्रसाद जी ने रामगुप्त को मरवा कर चन्द्रगुप्त का ध्रुवस्वामिनी से विवाह प्रदर्शित नहीं किया, किन्तु वह स्वयं सिद्ध है। यदि वे ऐसा कर देते तो यह पाठक को और अधिक काम्य होता।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से हमने यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि अनौचित्य से अभिप्राय सदा शास्त्र एवं लोकगत मान्यताओं का अतिक्रमण नहीं है और न अनैतिकता ही है। काव्य में अनैतिक कहे जाने वाले तत्त्व अनेक बार किन्हीं परिस्थितियों के वशीभूत होकर पाठक को ग्राह्य हो जाते हैं। एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत कर इस प्रसंग को समाप्त करते हैं:

(३) रामचरित मानस में मर्यादा पुरुषोत्तम राम छिप कर बालि का वध करते हैं। इस प्रसंग के किसी भी पाठक को तत्क्षण राम का यह कार्य अनुचित प्रतीत नहीं होता। राम के मुख से यह सुनकर कि:

---

१. ध्रुवस्वामिनी, पृ० २८।
२. ध्रुवस्वामिनी, पृ० ३३।
३. ध्रुवस्वामिनी, पृ० ५७।
४. ध्रुवस्वामिनी, पृ० ६०।
५. ध्रुवस्वामिनी, पृ० ६३।
६. ध्रुवस्वामिनी, पृ० ६३।

> अनुजबधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी।
> इन्हहि कुदृष्टि बिलोकै जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई॥
>
> —रामचरित मानस, किष्किधा काण्ड, ९।४।

पाठक राम की इस भावना के साथ पूर्ण तादात्म्य करता है। उसे तो उस समय जिस किसी प्रकार से वालि का वध करवाकर सुग्रीव की सेना को सीता का पता लगाने के लिए भेजना होता है। पर नैतिकता की दृष्टि से राम के इस कार्य पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा हुआ है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन का अभिप्राय यह कदापि नहीं कि काव्य में अनैतिक तत्त्व भी नैतिक बन जाते हैं, अपितु यह है कि नैतिकता परिस्थिति, व्यक्ति, देश, काल आदि सापेक्ष होती है। मनुष्य द्वारा समझी जाने वाली नैतिकता-अनैतिकता सम्बन्धी धारणाएं सार्वभौम नहीं हो सकतीं। सम्भव है कि अनौचित्य का मानदण्ड लोक-व्यवहार को स्वीकार करने का अर्थ प्रकारान्तर से यही हो कि उसमें देश एवं काल के अनुकूल परिवर्तन होते हैं। कवि इनकी उपेक्षा करके एक बार तो सहृदय को रस का आस्वाद करवा देता है, किन्तु अगले ही क्षण सहृदय का विवेक जागरित होने पर वह रस आभास में परिवर्तित हो जाता है। ऊपर उद्धृत प्रसंगों में से द्वितीय प्रसंग का अध्येता यदि कोई ऐसा व्यक्ति है जो कि पत्नी का धर्म कोढ़ी एवं वेश्यागामी पति की सेवा भी स्वीकार करता है—और उसके इस विषय में भाव अत्यधिक बद्धमूल एवं सुदृढ़ हैं तो उसे वह प्रसंग रस का आभास ही प्रतीत होगा। कोई साहित्यकार क्षणमात्र के लिए भले ही उसे प्रभावित कर ले, किन्तु वह सदा इस प्रकार की अनुभूति नहीं कर सकेगा। मञ्च पर प्रदर्शित नायक-नायिका के गाढ़ आलिङ्गन एवं चुम्बन का दृश्य भारतीय रंगमंच पर वर्ज्य घोषित किया गया है और इसका प्रदर्शन अनैतिकता है, किन्तु पाश्चात्य रंगमंच पर वहां की लोक-परम्परा के अनुकूल इसका अनैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत इसका अभाव वहां सहृदय को खटकता है। इस प्रकार के दृश्य सहृदय के संस्कार के अनुकूल हुए तो वह रस की उपलब्धि कर लेगा और यदि उसके प्रतिकूल हुए तो उसे रस की प्राप्ति न हो सकेगी।

रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारि-भाव के संयोग से होती है। पर यह रस केवल सहृदय के चित्त में ही निष्पन्न होता है। सहृदय उस विदग्ध पुरुष को कहते हैं जिसके हृदय-मुकुर पर काव्य के प्रत्येक बिम्ब का प्रतिबिम्ब सर्वथा स्पष्ट बने।[1] संसार में अनेक हृदयहीन व्यक्ति उपलब्ध होते हैं। उनके चित्त में रस के निष्पन्न होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, सहृदय के चित्त में वासना रूप से स्थित रस के निष्पन्न होने में भी एक महान् कठिनाई है और वह है उसके चित्त के परम्परागत संस्कार, उसकी नैतिक और आध्यात्मिक मान्यताएँ, उसका दृष्टिकोण और उसकी विचारधाराएँ, उसकी सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियां आदि।

---

१. येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। —ध्वन्यालोक १।१ लोचन-टीका, पृ० ३८।

किन्हीं विशिष्ट संस्कारों अथवा विचारधारा आदि से परिबद्ध काव्य के अध्येता के सम्बन्ध में एक दृष्टिकोण यह है कि उसे सहृदय ही न माना जाए। सहृदय तो पूर्वाग्रहों से सर्वथा मुक्त होना चाहिए। यदि कोई पाठक अपने संस्कार विशेष के कारण कवि के भाव के साथ साधारणीकरण नहीं कर पाता तो उस समय उसकी सहृदयता दुष्ट होती है। किन्तु अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत लक्षण के अनुसार व्यक्ति के हृदय-मुकुर पर काव्य के प्रत्येक बिम्ब का प्रतिबिम्ब बन सकने की क्षमता ही उसकी सहृदयता की कसौटी है। यदि कोई पाठक काव्य के किसी भी अंश से चमत्कृत हुआ है और उसने उससे रस की उपलब्धि की है तो यह उसके सहृदय होने का प्रमाण है। यदि उपर्युक्त दृष्टिकोण को ठीक मान लिया जाय तो एक ही व्यक्ति कभी सहृदय और कभी असहृदय कहलाएगा। यदि कवि अथवा साहित्यकार किसी वर्ग विशेष की विचारधारा अथवा संस्कारों के विरुद्ध है तो उसमें यह क्षमता होनी चाहिए कि वह अपने वर्णन से व्यक्ति को पूर्वाग्रहों से मुक्त कर सके। यदि वह उन्हें पूर्वाग्रहों से मुक्त करने में अक्षम रहता है तो यह उसकी असफलता अथवा अकुशलता का प्रमाण है। इससे पाठक की सहृदयता को दुष्ट मानना अनुचित है। कोई भी पाठक कवि के भाव को ग्रहण करने के लिए अपने को पूर्वाग्रहों से मुक्त कर काव्य का अध्ययन आरम्भ नहीं करता, वरन् कवि ही अपनी वर्णन-शक्ति से उसे पूर्वाग्रहों से मुक्त करता है। 'मातृदेवोभव' के आदर्श को अक्षरशः स्वीकार करने वाला भारतीय पाठक भी कवि द्वारा नियोजित परिस्थितियों के प्रवाह में भरत द्वारा कैकेयी की भर्त्सना को अनुचित नहीं मानता। अज्ञेय ने 'शेखर: एक जीवनी' में मौसेरे भाई-बहन का जो सम्बन्ध चित्रित किया है वह उच्चादर्श के विपरीत है, पर अनेक पाठक उससे विचलित नहीं होते। किन्तु कवि की अपनी इस वर्णन-शक्ति की भी कुछ सीमाएं हैं। वह अपनी इस शक्ति का प्रयोग केवल उन्हीं संस्कारों के विरुद्ध कर सकता है जो कि व्यक्ति की बुद्धि अथवा उपचेतना में खण्डित हो चुके होते हैं। जिन संस्कारों के प्रति पाठक पूर्णतः निष्ठ है अथवा जिनको उसकी बुद्धि अथवा उपचेतना ठीक मानती है, उनका विरोध करना असम्भव है। कुशल कवि विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभाव की सम्यक् योजना कर क्षण मात्र के लिए उसे भले ही रसास्वाद करवा दे किन्तु यदि कवि का भाव उसके बद्ध संस्कारों के सर्वथा प्रतिकूल हुआ तो वहां उसे शीघ्र ही अनौचित्य का परिज्ञान हो जाएगा। रस के निष्पन्न होने के लिए पूर्ण साधारणीकरण का होना अनिवार्य है और यह पूर्ण साधारणीकरण अपने अनुकूल पात्रों एवं अनुकूल परिस्थितियों के साथ ही हो सकता है। प्रतिकूल पात्र एवं परिस्थिति के साथ नहीं। शील तथा प्रकृति की इसी विचित्रता को ध्यान में रख कर भरत ने स्वीकार किया है कि नाना शील तथा प्रकृति के लोगों को भिन्न-भिन्न रसों का आनन्द आता है। यथा, शूर बीभत्स, रौद्र तथा वीर रस का; बालक, मूर्ख एवं स्त्रियां हास्य का; कामी जन या तरुण शृंगार का; विरागी शान्त का आस्वाद लेते हैं।[1] अभिनवगुप्त ने भी स्वीकार किया है कि सहृदयों में प्रवृत्तियों का नियन्त्रण

१. नाट्यशास्त्र, २७।५७-६०, (देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय १, पृ० ९-१०)

तथा अतिरेक दोनों ही पाये जाते हैं, जिन लोगों में किसी तामसी प्रवृत्ति का अतिरेक होता है वे सत्त्व से प्रभावित नहीं होते और अकारण अन्याय रूप में उपस्थित राक्षसादि के क्रोध का भी आस्वाद ले लेते हैं।[1] चाहे कवि अपने भाव को कितनी ही प्रबलता के साथ प्रकट क्यों न करे; वह सहृदय के तद्विरोधी संस्कारों को (यदि वे संस्कार परम्परागत एवं बद्धमूल हैं तो) अपने अनुकूल नित्य रूप से मोड़ने में प्रायः असमर्थ रहता है। हां क्षण-भर के लिए भले ही वह सहृदय को रस में आप्लावित कर ले। 'मेघनादवध' नामक काव्य प्रत्येक भारतीय पाठक के लिए इसी कारण रस उत्पन्न करने में असमर्थ रहा है क्योंकि वह उसके संस्कारों के सर्वथा प्रतिकूल है।

एक उदाहरण देखिए—एक भारतीय और विदेशी सहृदय एक साथ किसी नाट्यशाला में प्रविष्ट हुए। वहां पहुंच कर दोनों ने देखा कि रावण नामक पात्र सीता के प्रति अपना अनुराग प्रकट कर रहा है। कवि ने इस प्रसंग में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की सम्यक् योजना कर रखी है। रावण के रति-युक्त उसी प्रकार के वाक्य हैं जिस प्रकार के वाक्य एक प्रेमी-प्रेमिका के प्रति प्रकट किया करता है। इस सम्पूर्ण दृश्य को देख कर भारतीय को रसाभास और विदेशी को रस की अनुभूति होगी। किन्तु यदि विदेशी ने भी इस घटना का पूर्व भाग देखा हो और उसे ज्ञात हो कि यह पात्र दुष्ट पात्र है तो उसे भी रस की अनुभूति नहीं होगी। एक भारतीय पाठक की भांति रसाभास ही होगा।

इस सम्बन्ध में कवीन्द्र रवीन्द्र का यह कथन द्रष्टव्य है—यदि कोई रामचन्द्र को नीच और रावण को साधु के रूप में चित्रित करेगा, तो क्या दोष न होगा? दोष होगा, परन्तु वह दोष इतिहास के पक्ष में नहीं—काव्य के पक्ष में होगा। सर्वजन विदित सत्य को एकदम उलटा कर देने से रसभंग हो जाता है—और मानो पाठकों के सिर पर एकदम डण्डा आ पड़ता है।

यही नहीं, यदि किसी झूठ बात को भी सर्व साधारण लोग सत्य मानते हुए चले आ रहे हों और यदि इतिहास-सत्य का पक्ष लेकर काव्य इसके विरोध में हस्तक्षेप करे तो यह काव्य का दोष होगा। कल्पना कीजिए कि यदि आज बिना किसी सन्देह के यह सिद्ध हो जाय कि मदिरासक्त अनाचारी यदुवंश ग्रीक जातीय था और श्रीकृष्ण स्वाधीन, वनबिहारी बांसुरी बजाने वाला ग्रीस का ग्वाला था; यदि यह सिद्ध हो जाए

---

१. (क) न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति। केवलं कस्यचित् काचिदधिका चित्तवृत्तिः काचिदूना। कस्यचिदुचितविषयनियन्त्रिता, कस्यचिदन्यथा। तत्कदाचिदेव पुमर्थोपयोगिनी व्युपदेश्या। तद्विभावकृतश्च-उत्तमादि-प्रकृत्यादि व्यवहारः। —हि० अ० भा०, पृ० ४८०।

(ख) ननु सामाजिकानां तथाभूतराक्षसादि दर्शने कथं क्रोधात्मक आस्वादः? उच्यते······हृदयसंवाद आस्वादः। क्रोधे च हृदयसंवादस्तामसप्रकृतीनामेव सामाजिकानामिति दानवादिसदृशास्तन्मयीभूता एवान्यायकारिविषयं क्रोधमास्वादयन्तीति न किंचिदवद्यम्। —हि० अ० भा०, पृ० ५९१।

कि उसका रंग उसके बड़े भाई बलदेव के रंग समान गोरा था, यदि यह प्रमाणित हो जाय कि निर्वासित अर्जुन एशिया माइनर के किसी ग्रीक राज्य से यूनानी राजकन्या सुभद्रा का हरण कर लाया था और द्वारका समुद्रवर्ती एक उपद्वीप था, यदि यह प्रमाणित हो जाय कि निर्वासन के समय पाण्डवों ने विशेष रण-विज्ञानवेत्ता प्रतिभाशाली ग्रीसीय वीर कृष्ण की सहायता से अपने राज्य का उद्धार किया था और उसकी अपूर्व विजातीय राजनीति, युद्ध-नैपुण्य और कर्मप्रधान धर्म तत्त्व से विस्मित हो कर भारत में उनको अवतार मान लिया गया था तो भी वेदव्यास का महाभारत विलुप्त नहीं होगा और कोई नवीन कवि साहसपूर्वक काले को गोरा नहीं बना सकेगा।[1]

जैन कवियों ने रामायण की कथा के साथ जो बलात्कार किया है, सीता को कभी रावण की, कहीं दशरथ की पुत्री बतला दिया है, अथवा वह कई स्थलों पर रावण की प्रेमिका के रूप में चित्रित की गयी है, अयोध्या लौट आने के उपरान्त भी वह रावण की स्मृति को भुला नहीं पाती, उसका चित्र आदि बनाती है—इन सबके साथ पाठक तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता।[2] ये कल्पनाएं उसके चित्त में वैरस्य को जन्म देती हैं।

इसी प्रकार आनन्द कुमार का 'अंगराज' में पाण्डवों को छली-कपटी एवं दुर्जन सिद्ध करने का प्रयत्न व्यर्थ रहा है—

"कुरु शासन में प्रबल हुआ था षड्यन्त्री समुदाय।
महीपाल धृतराष्ट्र अंधता कारण था निरुपाय॥
पाण्डुपुत्र उसे मानकर स्थानापन्न नरेश।
स्वयं राजसत्ता पाने को उत्सुक थे सविशेष॥
× × ×
पाण्डु कुमारों को असह्य था दुर्योधन उत्थान।
रहे कूट योजना बनाते नित वे पूर्व समान॥

सहृदय इस प्रकार के विचारों से प्रभावित नहीं हो पाता।

यह सर्वथा स्पष्ट है कि सोमनाथ के मन्दिर पर चढ़ाई करके मूर्तिभञ्जन करते हुए महमूद को देखकर हिन्दू तथा मुसलमान, वीर तथा कायर, एक-सी अनुभूति प्राप्त न कर सकेंगे। प्रह्लाद पर हरिण्यकशिपु के अत्याचारों को देखकर नास्तिक-आस्तिक तथा जलियां वाला बाग में निरीह भारतीयों पर गोरों द्वारा किये गये अत्याचार को देखकर कोई गोरा और भारतीय एक-से प्रभावित नहीं होंगे। जायसी कृत गोरा-बादल युद्ध-वर्णन से हिन्दुओं और मुसलमानों को वीर रस की समान अनुभूति नहीं होगी। भारतीय पौराणिक गाथाओं एवं तुलसी जैसे समर्थ कवि द्वारा चित्रित राम की अलौकिक घटनाओं को आज का बुद्धिवादी व्यक्ति उसी रूप में ग्रहण

१. साहित्य, (ऐतिहासिक उपन्यास) रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अनुवाद—वंशीधर विद्यालंकार, द्वि० सं०, १९४९।
२. देखिए : रामकथा (कामिल बुल्के)।

नहीं करेगा, जैसा कि सामान्य भारतीय करता है। उत्तर रामचरित नाटक में राम द्वारा शूद्र मुनि का हनन देखकर शूद्र तथा ब्राह्मण एक-सा अनुभव प्राप्त नहीं करेंगे। निसन्देह शूद्र राम के विरोध में और द्विज उनके पक्ष में अपने भाव रखेंगे। झांसी की रानी लक्ष्मी बाई की वीरता यूरोपवासियों में वही अनुभूति जागरित न करेगी जो वह भारतवासियों में करती है। सहृदय भेद से अनुभूति की भिन्नता को समझने के लिए एक अन्य प्रसंग देखिए :—

जॉर्ज पंचम के सुपुत्र एडवर्ड अष्टम का सिम्पसन के साथ घनिष्ठ प्रेम हो गया। सिम्पसन ने अपने पहले पति से सम्बन्ध-विच्छेद कर एडवर्ड से विवाह कर लिया। वहां की परम्परा के अनुसार राजकुमार को सिंहासन पर बैठने के उत्तराधिकार से वंचित होना पड़ा। उसके माता-पिता अपने वात्सल्य के कारण अपने पुत्र के इस प्रेम के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं और एक ऐसा मार्ग अन्विष्ट करना चाहते हैं कि उसका प्रणय भी स्थिर रहे और उससे राजगद्दी का अधिकार भी न छिने। पर उस राज्य के सम्पूर्ण धर्माधिकारी एडवर्ड के इस प्रेम की घोर भर्त्सना करते हैं। अपने देश की चली आ रही परम्परा पर व्याघात समझ कर उसे राजगद्दी का अधिकार नहीं देना चाहते। उनकी दृष्टि में यह प्रेम सम्बन्ध उस राजघराने की प्रतिष्ठा के सर्वथा प्रतिकूल है। वे उसके परिणय को विफल कर देना चाहते हैं। परिणामतः उसे राजगद्दी पर बैठने का अधिकार नहीं दिया जाता। किन्तु विवाह के कुछ समय पश्चात् उसकी प्रेमिका कुछ इस प्रकार के विचार प्रकट करती है कि मैंने यह विवाह केवल इसलिए किया था कि मैं एक राज्य की पटरानी बनूंगी। कोई कवि इस सम्पूर्ण प्रसंग को काव्य में उपनिबद्ध कर सकता है। पर इसको पढ़ने के उपरान्त सहृदय की स्थिति क्या होगी, यह विचारणीय है?

(क) आरम्भ में सहृदय की एडवर्ड के साथ सहानुभूति हो सकती है, उसकी बलिदान भावना निश्चय ही सराहनीय है। किन्तु उसके द्वारा राजघराने की प्रतिष्ठा की उपेक्षा करना, उसके प्रति सहानुभूति नहीं रखने देता और ऐसी अवस्था में सामान्य पाठक तटस्थ होकर देखने लगता है कि आगे क्या होता है? उसका तादात्म्य किसी के भी साथ न होगा। न एडवर्ड के साथ न धर्माधिकारियों के साथ। उसके चित्त में प्रेम और धर्म (कर्तव्य) दोनों का समान महत्त्व है। यदि कवि काव्य के अन्त में किसी एक पक्ष पर अधिक बल दे तो भी वह दूसरे पक्ष के प्रति पूर्ण उपेक्षा और कवि के अभीष्ट पक्ष से पूर्णतः सहमत न होगा।

(ख) यदि पाठक इंगलैण्ड का हुआ, जिसे अपने देश की उक्त परम्परा का पूर्ण परिज्ञान है और जो राजधर्म के प्रति निष्ठा रखता है, अपने धर्माधिकारियों की बात को ईश्वर-वाक्य मान कर उनके विरुद्ध कुछ भी नहीं देखना चाहता तो कवि एडवर्ड के प्रेम को चाहे कितनी ही प्रबलता के साथ प्रकट कर ले उसका साधारणी-करण एडवर्ड के साथ नहीं हो सकता। उसके साथ सामान्य सहानुभूति तो हो सकती है पर उसके प्रेम में वह तन्मय नहीं हो सकता।

(ग) कुछ पाठक (सहृदय) इस प्रकार के भी हो सकते हैं जो कि प्रेम को

केवल दीवानापन मानते हों। उनकी दृष्टि में प्रेम का कोई विशेष महत्त्व ही न हो और वे इसे केवल मस्तिष्क की सनक या पागलपन समझते हों। उनकी दृष्टि में एडवर्ड का प्रेम एक मूर्खता होगा। उनका तादात्म्य राजघराने की प्रतिष्ठा के साथ होगा और यदि कवि ने उस राजधर्म की काव्य में उपेक्षा की है तो उसे रसाभास की अनुभूति होगी।

(घ) और यदि पाठक प्रेम की एकनिष्ठता एवं उसकी पवित्रता के पीछे धर्म में परिवर्तन कर देने के पक्ष का हुआ तो इसकी बराबर यही इच्छा बनी रहेगी कि राजधर्म में परिवर्तन कर दिया जाए और इसका विवाह भी हो तथा गद्दी भी मिले।

केवल संस्कार भेद के कारण ही विभिन्न सहृदय भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुभूति प्राप्त करते हैं। कवि क्षण-मात्र के लिए उन्हें अपनी ओर मोड़ने में सफल हो सकता है, किन्तु अन्ततः पाठक संस्कार की भिन्नता के कारण उससे भिन्न अनुभूति ही करते हैं। पाठक जब काव्य का पठन आरम्भ करता है तो वह नायक-नायिका की परस्पर मिलन और परिणय आदि की कल्पना और अभिलाषा भी कर लेता है। दूसरे शब्दों में काव्य का साध्य भी वह नायक-नायिका के परस्पर मिलन को ही समझता है। यदि कोई कवि नायक और नायिका का परस्पर सम्बन्ध प्रेमी-प्रेमिका का प्रदर्शित न कर भाई-बहन का सा सम्बन्ध दिखला दे या मां-पुत्र का सम्बन्ध प्रदर्शित कर दे और नायिका का प्रेम काव्य के किसी अन्य व्यक्ति से प्रकट कर दे तो रस पूर्णतः निष्पन्न नहीं होगा। कल्पना कीजिए कि वाल्मीकि सीता का प्रेम राम के प्रति चित्रित न दिखला कर लक्ष्मण के प्रति चित्रित कर देता तो पाठक के चित्त में एक रेखा-सी खिंच जाती। हमारे विचार में इस का एक कारण कवि-परम्परा में नायक-नायिका का परस्पर प्रेम प्रदर्शित किया जाता रहना है। हमारे संस्कारों में ये दोनों आरम्भ से ही पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका हैं। आधुनिक काव्य में शनैः-शनैः नायक-नायिका विषयक उपर्युक्त धारणा परिवर्तित हो रही है अतः कुछ समय के उपरान्त उसके अन्य सम्बन्ध भी पाठक को ग्राह्य होंगे।

प्रत्येक व्यक्ति की कुछ आन्तरिक अतृप्त आकांक्षाएं होती हैं। कवि की भांति सहृदय भी इन आन्तरिक आकांक्षाओं की पूर्ति काव्य में करना चाहता है। यदि उसकी इस इच्छा के विरुद्ध काव्य में कुछ प्रदर्शित किया गया तो वह उस प्रसंग में कभी भी रस नहीं ले सकता। उदाहरणार्थ—प्रत्येक सहृदय काव्य में नायिका को सुन्दर देखना चाहता है। यदि नायिका भद्दी शक्ल की, बड़े-बड़े दांतों वाली अथवा मोटी नाक वाली हुई तो चाहे वह कितनी भी सुशीला क्यों न हो और सुन्दर नायक उससे कितना भी प्रेम क्यों न करता हो, दोनों एक दूसरे के प्रेम में कितने भी उन्मत्त क्यों न हों और कवि उनके प्रेम का साहचर्य से विकास दिखलाकर शरत्कालीन चांदनी रात्रि के एकान्त में नौका विहार करता दिखला दे तो भी उसकी भौंडी शक्ल सहृदय को आनन्द न लेने देगी? और उसके मस्तिष्क में एक रेखा सी खिंच जाएगी जोकि बारम्बार उसके आनन्द में व्याघात उत्पन्न करेगी। वस्तुतः इसका कारण यह है कि अन्य गुणों के समान रूप भी एक गुण है। यदि नायिका रूपवती हो पर दया-दाक्षिण्यादि गुणों में

से किसी एक गुण से विरहित हो तो भी सहृदय की वही अवस्था होगी जो कि उसके कुरूप होने पर है।

अभिप्राय यह कि अनौचित्य का आधार सहृदय के संस्कार अथवा उसकी चित्तवृत्तियां हैं। उसके इन संस्कारों पर लोक और शास्त्र का गहरा प्रभाव होता है। कुशल कवि अनेक बार उन संस्कारों को मोड़ लेने में समर्थ सिद्ध होता है और अनेक बार असफल भी रह जाता है। अतः अनौचित्य के सम्बन्ध में नागोजी का यह कथन अत्यन्त उपयुक्त है कि इसका ज्ञान सहृदय पुरुषों के सद्व्यवहार से हो सकता है। रामचन्द्र गुणचन्द्र का मत है कि वह कर्म जो सहृदयों के मन में विचिकित्सा अर्थात् शंका अथवा सन्देह का कारण बने वह अनौचित्य है।[1] अर्थात् उनको जिसमें यह अनुचित है ऐसी बुद्धि हो, वही अनुचित है।[2] हिन्दी के आचार्यों में उजियारे कवि का भी यही कथन है:

जिहिं सुनतहि उद्वेग मन होइ सु अनुचित जांनि।
लोक रीति परसद्धि जग तिहिं अब्र कहतु वषांनि॥

—जुगल प्रकाश, ५५।

अभिनवगुप्त का यह कथन कि 'अतएव संवित्सत्तत्त्वनिपुणैश्चिरन्तनै रस-भाव-तदाभास व्यवहारस्तत्रक्रियते (हि० अ० भा०, पृ० ५१९) उक्त धारणा का ही पोषक है। इसका अर्थ यह है कि अनुभूति-प्रवण प्राचीनों (मर्मज्ञ संवित् सत्तत्त्व-निपुण आचार्यों) ने रस, भाव, तदाभास (रसाभास, भावाभास) आदि की स्थिति अनुभूति के सूक्ष्म भेदों पर आधारित की है।[3] इसकी व्याख्या समग्र रूप में यह की जा सकती है कि कोई भी व्यक्ति अपनी अनुभूति के आधार पर सदा आवश्यक नहीं कि किसी एक स्थल पर उसी काव्य रूप (रस, भाव, तदाभास आदि में से किसी एक) को ही स्वीकार करे, वह किसी अन्य को भी मान सकता है। उदाहरणार्थ किसी प्रसंग में कोई मर्मज्ञ आचार्य यदि रत्याभास माने तो दूसरा वहीं उससे उत्पन्न हास्य रस मान सकता है और कोई तीसरा वहीं केवल 'उपहास' की ही स्वीकृति कर सकता है। इस विभिन्नता का एक मात्र कारण है—प्रत्येक की अनुभूति की भिन्नता।

---

१. सहृदयानां विचिकित्साहेतु कर्मानौचित्यम्। —हिन्दी नाट्य दर्पण, पृ० ३२४। (रामचन्द्र गुणचन्द्र ने यद्यपि इस अनौचित्य शब्द का प्रयोग रस दोषों के प्रसंग में किया है, तथापि अनौचित्य के इस प्रभाव की संगति इस प्रसंग में अधिक उपयुक्त बैठती है।)

२. यत्र तेषामयुक्तमिति धीरिति। —रसगंगाधर, प्रथम आनन, रसाभास प्रकरण।

३. संवित् शब्द का अर्थ चैतन्य है। शैव दर्शन में यह ईश्वर के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ चैतन्यशील परमेश्वर है, यथा—

विश्वात्मिकांतदुत्तीर्णं हृदयं परमेशितुः।
परादिशक्ति रूपेणस्फुरन्तीं संविदनुमः॥ —क्षेमराज।

(इसी आधार पर हमने 'संवित्सत्तत्व' का अर्थ अनुभूति प्रवण अथवा मर्मज्ञ किया है।)

इस प्रकार अनौचित्य का मुख्य आधार सहृदय है। भारतीय सहृदय को दृष्टि में रखकर जगन्नाथ ने अनौचित्य का उल्लेख किया है, जो कि इस प्रसंग में उद्धरणीय है। उनके अनुसार अनुचित होने का अर्थ है कि जिन-जिन जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति और व्यवहार आदि सांसारिक पदार्थों के विषय में जो-जो लोक और शास्त्र से सिद्ध एवं उचित द्रव्य-गुण अथवा क्रिया आदि हैं, उनसे भिन्न होना :

(क) जाति के विरुद्ध : जैसे—बैल और गाय आदि का तेज, बल एवं पराक्रम आदि और सिंह आदि का सीधापन आदि।

(ख) काल के विरुद्ध: जैसे—ठण्ड के दिनों में जल-विहार आदि और गरमी के दिनों में अग्नि-सेवन आदि।

(ग) देश के विरुद्ध : जैसे—स्वर्ग में बुढ़ापा, रोग आदि और पृथ्वी में अमृत-पान आदि।

(घ) वर्ण के विरुद्ध : जैसे—ब्राह्मण का शिकार खेलना, क्षत्रिय का दान लेना, और शूद्र का वेद पढ़ना।

(ङ) आश्रम के विरुद्ध : जैसे—ब्रह्मचारी और संन्यासी का ताम्बूल चबाना और स्त्री को स्वीकार करना।

(च) अवस्था के विरुद्ध : जैसे—बालक और बूढ़े का स्त्री सेवन और युवा पुरुष का वैराग्य।

(छ) स्थिति के विरुद्ध : जैसे—दरिद्रों का भाग्यवानों जैसा आचरण और भाग्यवानों का दरिद्र के समान आचरण।

(ज) प्रकृति के विरुद्ध : जैसे—साहित्य शास्त्र के अनुसार (नायक की) तीन प्रकार की प्रवृत्तियां होती हैं—कुछ दिव्य (देवता-रूप इन्द्र आदि), कुछ अदिव्य (मनुष्य-रूप दुष्यन्त आदि) और कुछ दिव्यादिव्य (जो स्वर्गीय होने पर भी अवतार रूप होने से मनुष्य हैं, राम, कृष्ण आदि) होते हैं। इन तीनों के चार-चार भेद हैं :

१. धीरोदात्त : जिनमें उत्साह प्रधान होता है।
२. धीरोद्धत : जिनमें क्रोध प्रधान होता है।
३. धीर ललित : जिनमें स्त्री विषयक प्रेम प्रधान होता है।
४. धीर शान्त : जिनमें वैराग्य प्रधान होता है।

इस तरह बारह प्रकार के नायक हुए। प्रत्येक के उत्तम, मध्यम और अधम भेद होने से ये छत्तीस प्रकार के हो जाते हैं।[1] एक नायक की प्रकृति का वर्णन दूसरे

---

१. तच्च जाति-देशकाल-वर्णाश्रम-वयोऽवस्था-प्रकृति-व्यवहारादेः प्रपंचजातस्य तस्य तस्ययल्लोकशास्त्रसिद्धमुचितद्रव्य-गुण-क्रियादि तद्भेदः। जात्यादेरनुचितं यथा—गवादेस्तेजोबलकार्याणि पराक्रमादीनि, सिंहादेश्च साधुभावादीनि। स्वर्गे जराव्याध्यादि, भूलोके सुधासेवनादि। शिशिरे जल-विहारादीनि ग्रीष्मे वह्निसेवा।

में करना अनुचित है। अन्य अनौचित्यों की कल्पना विद्वान् लोग स्वयं कर सकते हैं।[१]

यदि जगन्नाथ के उक्त कथन का अर्थ संकुचित दृष्टि से न लें, तो ज्ञात होगा कि किसी न किसी रूप में ये सभी बातें भारतीय सहृदय की बुद्धि के प्रतिकूल पड़ती हैं। सम्भव है, इनमें से किसी एक के वर्णित होने पर पूर्णतः रसाभास न हो, किन्तु ये रसाभास के सहायक अवश्य हैं।

यहां अनौचित्य का उल्लेख करने का प्रयोजन केवल इतना था कि ये रसाभास के मूल-आधार हैं। किसी घटना विशेष को अनुचित समझने अथवा निर्दिष्ट करने का आधार सहृदय के चित्त का उद्वेलन है। ऊपर वर्णित अनौचित्य के अतिरिक्त कतिपय अन्य काव्य-प्रसंग भी ऐसे हैं जो सहृदय का मानसिक उद्वेलन नहीं कर पाते, जितना कि रस की स्थिति में होना चाहिए। इसी आधार पर निम्नोक्त प्रसंगों को विभिन्न आचार्यों ने रसाभास के अन्तर्गत स्वीकार किया है।

(क) तिर्यक्-गत-भाव
(ख) निरिन्द्रिय-गत-भाव
(ग) विरोधी रस का आगमन
(घ) अंगरस की प्रमुखता

अब इनका क्रमशः विवेचन करते हैं।

(क) तिर्यक्-गत-भाव

भामह ने पशु-पक्षियों द्वारा दौत्यकर्म को अयुक्तिमत् दोष माना है।[२] सम्भवतः

ब्राह्मणस्य मृगया, बाहुजस्य प्रतिग्रहः, शूद्रस्य निगमाध्ययनम्। ब्रह्मचारिणो यतेश्च ताम्बूलचर्वणं, दारोपसंग्रहः। बालवृद्धयोः स्त्रीसेवनम्, यूनश्च विरागः। दरिद्राणामाढ्याचरणम्, आढ्यानां दरिद्राचारः। प्रकृतयो दिव्याः, अदिव्याः दिव्यादिव्याश्च। धीरोदात्तधीरोद्धतधीरललितधीरप्रशान्ता उत्साह क्रोधकामिनी-रतिनिर्वेदप्रधाना उत्तममध्यमाधमाश्च। तत्र रत्यादीनां भयातिरिक्तस्थायिभावानां सर्वत्र समत्वेऽपि, रतेः संभोगरूपाया मनुष्येष्विवोत्तमदेवतासु स्फुटीकृतसकलानुभववर्णनमनुचितम्। क्रोधस्य च लोकभस्मीकरण पटोर्दिनरात्रिव्यत्ययाद्यनेकाश्चर्यकारिणो दिव्येष्विवादिव्येषु। आलम्बनताराध्यत्वस्यानुभावगतमिथ्यात्वस्य च प्रतीत्या रसानुल्लासापत्तेः। —रसगंगाधर, प्रथमानन, रसदोष प्रकरण।

१. एषा हि दिगुपदर्शिता। अनया सुधीभिरन्यदप्यूह्यम्। —वही।

२. अयुक्तिमद्यथा दूता जलभृन्मारुतेन्दवः।
तथा भ्रमरहारीतचक्रवाकशुकादयः।।
अवाचोऽव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः।
कथं दौत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते।।
यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते।। —काव्यालंकार १।४२, ४३, ४४।

इन्हीं से प्रभावित होकर परवर्ती आचार्यों में भोजराज[1], काव्य प्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर[2], हेमचन्द्र[3], विश्वनाथ, शिंगभूपाल, नरेन्द्रप्रभ सूरि[4] एवं नरसिंह[5] ने तिर्यक्-गत-भाव को रसाभास के अन्तर्गत परिगणित किया है। किन्तु कुन्तक, काव्य-प्रकाश के टीकाकार सुधा सागरकार, विद्याधर हरिपाल[6], कुमार स्वामी[7] तथा राज चूड़ामणि[8] तिर्यक्-गत-भाव को रसाभास स्वीकार न कर रस ही मानते हैं। इनमें से क्रमशः विद्याधर, सुधासागरकार, शिंगभूपाल, विश्वनाथ, नरेन्द्रप्रभ सूरि द्वारा प्रस्तुत यह प्रसंग विचारणीय है। शेष आचार्यों ने इसका उल्लेख मात्र किया है, उसमें कोई नवीनता नहीं है।

विद्याधर का कथन है कि पशु-पक्षी आदि में रसाभास की परीक्षा असम्भव है, क्योंकि उनमें भी विभावादि (रस सामग्री) की योजना हो सकती है। तिर्यक्-गत-रति भाव को रसाभास इसलिए माना गया है कि पशु-पक्षी आदि विभावादि के ज्ञान से शून्य होते हैं अतः वे रस का आस्वाद करने में असमर्थ हैं किन्तु मनुष्यों में भी कुछ ऐसे ही होते हैं, तब वहां भी रस के अभाव का प्रसंग उत्पन्न होगा। वस्तुतः रस का कारण विभावादि की विद्यमानता है उनका ज्ञान नहीं, अतः तिर्यगादि में भी रस स्वीकार करना चाहिए,[9] उदाहरणार्थ :

ददौ सरः पङ्कजरेणुगन्धि, गजाय गण्डूष जलं करेणुः।
अर्धोपभुक्तेन विसेन जायां, सम्भावयाभास रथाङ्गनामा ॥

अर्थात् हथिनी ने तालाब के कमल के पराग से गन्ध युक्त कुल्ली के पानी को हाथी के लिए दिया, चकवा पक्षी ने आधे खाये बिस से पत्नी का सत्कार किया। यहां पर गज आलम्बन-विभाव से उत्पन्न, वसन्तादि उद्दीपन-विभाव से उद्दीप्त, सुरभि गण्डूष, जल

---

१. सरस्वती कण्ठाभरणम्, ५।३०।
२. काव्यप्रकाश, टीका, पृ० १२१।
३. निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासौ। — काव्यानुशासनम्, २।५४।
४. तिर्यगादिष्विन्द्रियवर्जितेष्वपि च नायकत्वारोपात् रसाभासा भावाभासाः।
—अलंकार महोदधिः, पृ० ९७।
५. नञ्जराज यशोभूषण, पृ० ३८।
६. नम्बर ऑफ रसाज, पृ० १४५ पर उद्धृत हरिपाल का मत। हरिपाल तिर्यक्-गत-रति को सम्भोग रस मानते हैं।
७-८. रस सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण, पृ० २४८ पर उद्धृत कुमार स्वामी तथा राज-चूड़ामणि का मत।
९. तेष्वपि विभावादि संभवात्। विभावादिज्ञानशून्यास्तिर्यञ्चो न भाजनं भवितुमर्हन्ति रसस्येति चेन्न। मनुष्येष्वपि केषुचित्तथाभूतेषु रसविषयभावाभावप्रसंगात्। विभावादि सम्भवो हि रसं प्रति प्रयोजको न विभावादि ज्ञानम्। ततश्च तिरश्चामप्यस्त्येव रसः।
—एकावली, पृ० १०५।

आदि अनुभाव से प्रकाशित (पुष्ट), हर्ष आदि व्यभिचारि भाव से उपचित (परिपक्व) हाथी-हथिनी की संभोग श्रृंगार में रति प्रतिपन्न है। इसी प्रकार रथांग विषय में भी रस सामग्री विद्यमान है।[1]

इसी प्रकार सुधा सागरकार का कथन है कि वृत्तिकार[2] ने निम्नोक्त स्थल पर तिर्यगादि में स्थित भावों को रस के उदाहरण के रूप में स्वीकार किया है, यथा :

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥

—अभिज्ञान शाकुन्तलम् १।७।

अर्थात् गर्दन मोड़कर (ग्रीवाभङ्ग द्वारा) बार-बार रथ को फिर-फिर कर देखता हुआ यह हिरन कितना सुन्दर लग रहा है। बाण के घातक भय से वह अपने पिछले शरीर के अर्द्धभाग को पूर्ण रूप से सिकोड़ कर आगे के भाग से सटाए कैसा भागा जा रहा है। थकावट से चूर उसका मुंह खुल पड़ा है जिससे आधी चबाई हुई कुशा मार्ग में गिरती चली जा रही है। और देखो तो सही, उसके लम्बी-लम्बी छलांगें भरने से लगता है कि जैसे धरती पर इसके पैर पड़ते ही नहीं। आकाश में ही उड़ता जा रहा है।

वस्तुतः तिर्यगादि में रसाभास होता है ऐसा स्वीकार करना केवल सम्प्रदायानुसरण मात्र है, लीक पर चलना है, क्योंकि ऐसा भोजराज ने कहा था। अतः सभी ने स्वीकार करना शुरू कर दिया।[3]

परन्तु इन मतों के विरुद्ध शिंगभूपाल तिर्यक्-गत-भाव को रस स्वीकार नहीं करते हैं। उनका विचार है कि 'श्रृंगार के लिए आलम्बन का विचार सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह आलम्बन साधारण नहीं हो सकता। श्रृंगार को शुचि तथा उज्ज्वल माना गया है। यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाए कि पशु-पक्षी को

---

१. अत्र गजेनावलम्बनविभावेन जनिता वसन्तादिभिरुद्दीपनविभावैरुद्दीपिता सुरभिगण्डूषजलदानानुभावप्रकाशिता, हर्षादिर्व्यभिचारिभिरुपचिता करेणोः संभोगश्रृंगारितां प्रतिपन्नैव रतिः। एवं रथाङ्गविषयापि। —एकावली, पृ० १०५।

२. ध्वन्यालोक के कारिका भाग के लेखक का नाम कुछ विद्वानों के अनुसार अभी तक अज्ञात है अतः उसे ध्वनिकार नाम से स्मरण किया जाता है। ये विद्वान् ध्वन्यालोक की वृत्ति का प्रणेता आनन्दवर्द्धन को मानते हैं और इसे वृत्तिकार भी कहते हैं। सुधासागरकार का आशय वृत्तिकार से आनन्दवर्द्धन ही है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कुछ विद्वान् ध्वनिकार और वृत्तिकार को एक ही व्यक्ति मानते हैं और वह है—आनन्दवर्द्धन।

३. इदं च परिगणनं सम्प्रदायानुसरणमात्रम्।···इति सरस्वतीकण्ठाभरणादिविसंवादात्। —का० प्र० टी०, पृ० १२१।

भी अपनी कला तथा रति का बोध रहता है तब भी सामाजिक के चित्त संवाद का प्रश्न नहीं सुलझता। सामाजिक ही काव्य का आस्वाद लेता है। और वह काव्य विभावादि से संयुक्त होता है, ये विभावादि काव्य में अलौकिक कहे जाते हैं। पशु आदि की रति को विभाव कहना उचित नहीं। उनकी स्थिति केवल लौकिक-कारण-कार्य के रूप में वर्णित हो सकती है, अपनी जाति के योग्य धर्म के अनुसार हाथी का हथिनी के प्रति विभावत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता, वह केवल कारण स्वरूप उद्दीपन माना जाएगा। जाति के योग्य धर्म के द्वारा ही विभावत्व सिद्ध नहीं होता, विभावत्व तभी सिद्ध हो सकता है जब वह भावक के चित्त में उल्लास उत्पन्न करे, विभाव ज्ञान का ही नाम औचित्य विवेक है, उससे शून्य पशु आदि विभावत्व को प्राप्त नहीं होते।[1] तिर्यगादि के भाव को रसाभास मानना उसकी अयोग्यता के कारण है।[2] विश्वनाथ ने भी तिर्यक्-गत रति को रसाभास स्वीकार किया है :

मल्लीमतल्लीषु वनान्तरेषु वल्ल्यन्तरे वल्लभमाह्वयन्ती।
चञ्चद्विपञ्चीकलनादभङ्गीसंगीतमङ्गीकुरुते स्म भृंगी॥

चमेली अथवा कुटज के रमणीय वनों के बीच लताओं के ऊपर अपने प्रियतम को आमन्त्रित करती हुई किसी भ्रमरी ने रमणीय वीणा के समान मधुर स्वर से गाना (गूंजना) प्रारम्भ किया। इसी प्रकार कुछ अन्य उदाहरण देखिए, जो कि तिर्यक्-गत-भाव को रसाभास मानने के पक्ष में विभिन्न आचार्यों ने प्रस्तुत किए हैं—

—अपनी प्रिया के पीछे जाते हुए भ्रमर ने कुसुम पात्र में साथ-साथ मधु का पान किया, शृंग के स्पर्श जनित आनन्द से मुंदी आंखों वाली मृगी को कृष्णसार (मृग विशेष) खुजलाने लगा :

मधुद्विरेफः कुसमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृंगेण संस्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥

काव्यानुशासन, पृ० २।५४ (व्याख्या)।

—हे चक्रवाकि! कम होती हुई दिन की शोभा मन को पीड़ित कर रही है, आओ, आलिंगन करो, रात्रि अकेली ही बिताओ, मैं देवाधीन परतन्त्र होकर ही आपको छोड़ रहा हूं, न कि दूसरे में आसक्त, क्रुद्ध अथवा प्रेम से रहित होने के कारण :—

आपृष्टासि व्यथयति मनो दुर्बला वासर श्री-
रेह्यालिंग क्षपय रजनीमेकिका चक्रवाकि!
नान्यासक्तो न खलु कुपितो नानुरागच्युतो वा
दैवाशक्तस्तदिह भवतीमस्वतन्त्रस्त्यजामि॥

—का० अ० २।५४ (व्याख्या)।

---

१. अथ स्वजातियोग्ये धर्मे वस्तुनो न विभावत्वम्। अपि तु भावक चित्तोल्लासहेतुभीरतिविशिष्टैरेव।... किंच विभावज्ञानं नाम औचित्यविवेकः, तेन शून्याः तिर्यञ्चो न विभावतां यान्ति। —रसार्णव सुधाकर, पृष्ठ २०६-७।

२. अयोग्यत्वकृतं प्रोक्तं नीचतिर्यगाश्रयम्। —रसार्णव सुधाकर, पृ० २०७।

—आज सूर्य-कन्या यमुना के किनारे धन्य, अत्यन्त प्रसन्न एवं अद्भुत इन घोड़ियों को तो देखो, श्रीकृष्ण के अपांग (कटाक्ष) से पवित्र जो केशव के शरीर पर कामयुक्त दृष्टि समर्पित कर रही है ।

पश्याद्भुतास्तुङ्गमुदः तुरङ्गीः
पतङ्गकन्यापुलिनेद्य धन्याः ।
याः केशवाङ्गे तदपाङ्गपूताः
सानङ्गरङ्गां दृशमर्पयन्ति ।।

—हरि भक्तिरसामृत सिन्धु, ६।१२। (उदाहरण) ।

—मेरी सखिवर कौन खग, हौं मैं जलद नवीन।
गरुड बरन को छोड़ि श्री, रामवरन मम लीन ।।

—प्रेम सुधारत्नाकर, १७६ ।

तिर्यक्गत भाव को रसाभास स्वीकार करने के पक्ष में दो तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं—(१) प्रथम यह कि पशु-पक्षी आदि का पारस्परिक भाव प्रदर्शन सभ्य पुरुषों की भांति नहीं होता, अतः दृश्य काव्य में रस निष्पत्ति के लिये इनका भावों का प्रदर्शन प्रायः असम्भव ही है और यदि ऐसा प्रयत्न किया गया तो वह स्थिति रसाभास की होगी । (२) रसावस्था के लिये केवल विभावादि की विद्यमानता ही अनिवार्य मान लें तो पूज्य जनों की रति में अथवा अन्य किसी रस के क्षीण आलम्बन में भी इस प्रकार की रस सामग्री प्रस्तुत की जा सकती है । पर वहां रस नहीं होता । अभिप्राय यह कि तिर्यगादि अनुचित विभाव हैं, अतः इनमें भाव प्रदर्शन रसाभास का जनक होता है । (३) आचार्य शुक्ल ने तिर्यक्-गत भाव को रसाभास मानने का एक अन्य कारण प्रस्तुत किया है । उनका कथन है—"आचार्यों ने तिर्यक् विषयक रति भाव का जो उल्लेख रसाभास के भीतर किया उससे यह स्पष्ट लक्षित हो जाता है कि जिस भाव के प्रति कवि या श्रोता का मन उदासीन है उसको भी रसाभास या भावाभास के ही भीतर रखना चाहते थे। मृगी के प्रति मृग जिस रति भाव का अनुभव करता है वह अनुचित नहीं है, बात यह है कि मृगी रूप आलम्बन में मनुष्य श्रोता या पाठक अपने दांपत्य रति की पूर्ण चरितार्थता का अनुभव नहीं कर सकता।"[1]

किन्तु इन तर्कों के विरुद्ध हमारा विचार है कि तिर्यगादि में भी रस की स्थिति सम्भव है, कोई कवि अत्यन्त सरलतापूर्वक यह प्रदर्शित कर सकता है कि एक मार्जार अथवा वानर अपने शिशु की रक्षा के लिए अपने आपको बलिदान करने की क्षमता रखता है, वह अपने शिशु का इतना ध्यान रखता है, उससे इतना प्रेम करता है कि कोई मनुष्य भी वैसा करने में असमर्थ है । नानाविध कष्ट सह कर वह उसे जीवित रखने का प्रयास करता है। जिस स्थान पर वे रहते हैं, उस स्थान के अकस्मात् आपद्ग्रस्त हो जाने पर वह अपने बच्चे को छोड़कर भाग खड़ा नहीं होता

१. रसमीमांसा, पृ० ६१-६२।

वरन् अपने कष्ट की विना परवाह किए प्राण हथेली पर लेकर उसकी रक्षा करता है। सहृदय उसकी इस निष्ठा से अनिवार्य रूप से प्रभावित होगा और उसके चित्त में वात्सल्य का संचार होगा। गौ की रंभाने की आवाज में मनुष्य को द्रवित करने की शक्ति विद्यमान है।[1] उसके बच्चे को किसी दूसरे प्राणी द्वारा सता दिये जाने के कारण उसके मन में उस प्राणी के प्रति क्रोध भी उत्पन्न होगा और वह उस प्राणी का वध करने के लिए अपने चित्त में एक तीव्र उत्साह भावना से भी भर जाएगा; कुशल कवि उनके वर्णन से क्रोध और वीरता दोनों ही भावों को सहृदय के चित्त में उद्दीप्त कर सकता है। सिंह, गज आदि, सर्प-नेवला आदि की प्राणघातक घमासान लड़ाई में भयानक रस का संचार अत्यन्त सरलतापूर्वक होगा। पशुओं द्वारा इस प्रकार के कार्य भी सम्पन्न कराये जा सकते हैं, जिन्हें कि मनुष्य करने में असमर्थ हो। परिणामतः उससे आश्चर्य और तज्जन्य अद्भुत रस की निष्पत्ति सम्भव है। शूकर आदि द्वारा विष्ठा, वमन आदि के भक्षण से बीभत्स का संचार प्रायः अनिवार्य है। गौ आदि सीधे-सादे पशुओं के जीवन को अत्यन्त शान्त एवं सरल प्रदर्शित कर शान्त और भक्ति को रस तक नहीं तो भाव कोटि तक अवश्य ही लाया जा सकता है। बगुला भक्त यदि शान्त रस का आश्रय नहीं तो इसका कारण यह है कि वह शूद्र की भांति शान्त रस का उपयुक्त आश्रय नहीं है।

संस्कृत साहित्य के कथा काव्य पञ्चतन्त्र एवं हितोपदेश में पशु-पक्षियों से सम्बन्धित इस प्रकार की अनेक कथाएं विद्यमान हैं जो पाठक के चित्त में उत्साह, भय आदि का संचार करने में समर्थ सिद्ध हुई हैं। भूषण ने शिवाजी के युद्ध के उपमान पशु-पक्षी आदि के युद्धों से दिये हैं। जिसका अर्थ स्पष्टतः यह है कि वे उत्साह, भय आदि उत्पन्न करने में मनुष्य की तुलना में कहीं अधिक सक्षम हैं। कुछ उदाहरण देखिए :

—दावा द्रुम दंड पर, चीता मृग झुण्ड पर
भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों म्लेच्छ वंश पर सेर शिवराज है॥

—भूषण, शिवाबावनी।

—गरुड़ को दावा सदा नाग के समूह पर,
दावा नागजूह पर सिंह सिरताज को॥
दावा पुरहूत को पहारन के कुल पर
पच्छिन के गोल पर दावा सदा बाज को॥
'भूषण' अखंड नव खंड महि मण्डल में,
तम पर दावा रवि किरन-समाज को।

---

१. वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर 'उशतीरिव मातरः' गौ का अपने वत्स के प्रति स्नेह उपमान रूप में आया है, यथा—ऋग्वेद १०।६।२।

पूरब पछाँह देस दच्छिन ते उत्तर लौं,
जहाँ पादसाही तहाँ दावा सिरताज को ।।

—भूषण शिवाबावनी,३५।

—निकसत म्यान ते मयूखें प्रलै भानु कैसी,
फारे तम तोम से गयन्दन के जाल को ।
लागति लपकि कंठ बैरिन के नागिनि सी,
रुद्रहि रिझावै दै दै मुण्डन के माल को

—छत्रसाल दशक

पशु-पक्षी आदि का सम्बन्ध मनुष्य से सदा से रहा है। अतः मनुष्य इन्हें देखकर सदा प्रभावित हुआ है। वियोग की अवस्था में नायक को उन्माद हो जाता है। उसे शरीर की सुधि जाती रहती है, और तब वह मानव-शरीरांगों के उपमानों में प्रेयसी की झलक देखता है :

रोके मृग मारग बिलोके मृगराज मृग।
भेद मृग खोजत है बेद मृगनैनी के।।

—सुखसागर तरंग,५६०।

देव की वियोगिनी के लिए पपीहा और मोर की पुकार और प्रकृति का आन्दोलन उसकी स्मृति को जागरित करके आत्मविस्मृत कर देने वाला है :

बोलि उठो पपीहा कहूं पीवसू देखिवे को सुनिके धुनुधाई।
मोर पुकारि उठे चहुं और सुदेव घटा घिरी के चहुं छाई ।।
भूली गई तिय को तन की सुधि देखि उते बन भूमि सुहाई।
सांसनि सौं भरि आयो गरो अरु आंसुन सो अखियां भरि आईं ।।

इसी प्रकार वह वसन्त में पिक की हूक के भय से विहार करने नहीं जाती :

देव कहै बिन कन्त बसन्त न जाऊं कहूं घर बैठी रहूं री।
हूक दिये पिक कूक सुने विष पुंज निकुंजनी गुंजत भौंरी ।। —देव

मतिराम का नायक कोकिल की काकली को अपनी प्रेयसी की वाणी समझ लेता है। सखी उसकी नायिका से कहती है :

बिकल लाल कौं बाल तू क्यों न बिलोकति आनि ।
बोल कोकिलनि सौं कहै, बोल तिहारे जानि ।।

—रसराज, ४१७ ।

यहां यह उल्लेखनीय है कि आचार्यों ने सिद्धान्त रूप में (सम्भवतः परम्परा के ही कारण) तिर्यक्-गत भाव को भले ही रसाभास में परिगणित किया हो किन्तु व्यवहार में वे इससे भाव अथवा रस की उत्पत्ति स्वीकार करते रहे हैं। विश्वनाथ ने उन्माद अवस्था का स्वरचित जो उदाहरण दिया है, उसमें भ्रमर को ही सम्बोधित किया गया है :

भ्रातर्द्विरेफ, भवता भ्रमता समन्ता-
त्प्राणाधिका प्रियतमा मम वीक्षिता किम् ।

(झंकारमनुभूय सानन्दम्)

ब्रूषे किमोमिति सखे, कथयाशु तन्मे

किं-किं व्यवस्यति कुतोऽस्ति च कीदृशीयम् ।।—साहित्य दर्पण ३।१६०(व्याख्या)

रूपगोस्वामी का तो स्पष्ट कथन है—

न तस्या दोषोऽयं यदिह विहगं प्रार्थितवती ।

न कस्मिन् विश्रम्भं दिशति हरिभक्तिप्रणयिता ।। हंसदूत ।।८ ।।

मनुष्य ही पशु-पक्षी से प्रभावित नहीं हुआ, पशु-पक्षी भी सदा मनुष्य से प्रभावित होते रहे हैं और मनुष्य की ही भांति उनमें भाव जागरित हुआ है। अश्व एवं श्वान अपनी सेवा से प्रसन्न होकर स्वामि-भक्ति का अपूर्व परिचय देते रहे हैं। अपने स्वामी के निमित्त अपने प्राणों की परवाह न कर सहृदय के चित्त में एक प्रबल बलिदान की भावना भरने में सदा ये सफल हुए हैं। चेतक का अपने स्वामी महाराणा प्रताप के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देना इसी प्रकार का एक दिव्य उदाहरण है। कृष्ण-जन्म के आनन्द से उल्लसित सुरभिवर्ग के थनों से दुग्धधारा बहने लगती है, उनके मथुरा चले जाने पर वे कृश-गात और परम-दुखारी हुई हैं :

ऊधो इतनी कहियौ जाइ ।

अति कृसगात भई ये तुम बिनु परम दुखारी गाइ ।। —सूर सुषमा, १४६ ।

दशरथ के मरने पर पक्षी सन्तप्त हुए हैं (अयोध्या कांड)। राम के वन गमन पर उसके घोड़े शोकातुर हुए हैं।[1] शकुन्तला को जाता देख कर हरिण उसका वस्त्र पकड़ कर खड़े हो गये हैं।[2] इनको शोक-सन्तप्त देख कर सहृदय का चित्त और अधिक द्रवित हुआ है। भ्रमर पद्मिनी नायिका के पीछे लगे हैं।[3] कपोत एवं शुक सन्देश-वाहक एवं

---

१. (क) आली ! हौं इन्हहिं बुझावौं कैसे ?

लेत हिये भरि-भरि पति को हित, मातुहेतु सुत जैसे ।।

बार-बार हिहिनात हेरि उत, जो बोलै कोउ द्वारे ।

अंग लगाइ लिए बारेतें करुनामय सुत प्यारे ।।

लोचन सजल, सदा सोवत-से, खान-पान बिसराए ।

चितवत चौंकि नाम सुनि, सोचत राम-सुरति उर आए ।।

तुलसी प्रभु के विरह बधिक हठि राजहंस से जोरे ।

ऐसेहु दुखित देखि हौं जीवति राम-लखन के घोरे ।।

—गीतावली, अयोध्याकाण्ड, ८६ ।

(ख) तदपि दिनहिं दिन होत झांवरे, मनहु कमल हिम-मारे । —वही, ८७ ।

२. यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां

तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे ।

श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति

सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ।। —अभिज्ञान-शाकुन्तल, ४।१४ ।

३. देव जू भौंरन घेरि लई चहुं ओर ते भोर चकोरन घेरी । —देव ।

(रूप वर्णन के प्रसंग में इस प्रकार के स्थल उद्दीपक सिद्ध होते हैं)

दूत के रूप में पाठक को सदा आकृष्ट करते रहे हैं। रासो आदि ग्रन्थों में शुक-शुकी के मुख से नायक-नायिका के संभोग का वृत्तान्त सुनकर पाठक विशेष रूप से चमत्कृत होता है। बिहारी की विरहिणी का वृत्तान्त भी हमें तोते से ही ज्ञात होता है। वकदूत (महामहोपाध्याय अजितनाथ न्याय-पंचरत्न, १३२६ बंगाब्द), कोकिल-सन्देश (उद्दण्ड कवि, १५वीं शताब्दी), चकोर-सन्देश, चातक-सन्देश, पिक-सन्देश, (दधीच ब्रह्मदेव शर्मा), कीर-दूत (रामगोपाल), मयूर-सन्देश (रंगाचार्य), शुक-सन्देश, (यादवचन्द्र विद्यारत्न, १७८६ शक-संवत्), हंसदूत (रूपगोस्वामी, १६वीं शताब्दी), भ्रमर-सन्देश (महालिंग शास्त्री, २०वीं शताब्दी ईसवी) तथा काकदूत (गोरे गोपाल शिरोमणि, २०वीं शताब्दी, विक्रमी) आदि काव्यों में पक्षियों के माध्यम से विरहजन्य उद्गारों को भेजा गया है और इनसे पाठक प्रभावित भी हुआ है। हिन्दी में सत्यनारायण कविरत्न ने अपने भ्रमरदूत में एक भ्रमर के माध्यम से यशोदा के सन्देश को कृष्ण के पास भिजवाया है। 'ढोला मारू रा दूहा' में मारवाणी क्रौञ्च पक्षियों के माध्यम से ढोला को सन्देश भिजवाती है। 'पद्मावत' में नागमती द्वारा यह कहे जाने पर :

पिय सों कहेउ सँदेसड़ा, ए भौंरा, ए काग।
सो धनि विरहें जरि मुई, तेहिक धुआं हम लाग ॥

—पद्मावती, नागमती-वियोग-खण्ड, ३०।९

सहृदय द्रवित हुआ है और उसे इसमें थोड़ा भी वैरस्य प्रतीत नहीं हुआ। संस्कृत में भी इस प्रकार के काव्यों की दीर्घ परम्परा रही है[1] और उन्होंने अपने काव्य में इसका समर्थन भी किया है। कृष्ण कवि का कथन है—

कन्दर्पेण व्यथितहृदयोन्मत्तुल्या ययाचे
प्रज्ञाहीनं वचनरहितं निश्चलं श्रोत्रहीनम्
दौत्यं कर्तुं मुरहरपदो लक्ष्मणं पक्ष्मलाक्षी ॥ (—पदांकदूत।३।)

इस सन्दर्भ में नरेन्द्रप्रभसूरि का यह कथन विचारणीय है जिसमें उनका मत है कि रसाभास तिर्यगादि के श्रृंगार में ही होता है, अन्यों में नहीं।[2] हमारी सम्मति में पशु-पक्षी आदि में दाम्पत्य-भाव की अभिव्यक्ति का वर्णन भी सम्भव है। आदि कवि वाल्मीकि काम मोहित क्रौञ्च मिथुन से ही प्रभावित हुए थे।[3] कवियों ने मनुष्य के विरह का उपमान चकवा-चकवी आदि के विरह को माना है।[4]

---

१. देखिए, संस्कृत के सन्देश काव्य।

२. इदं च तिर्यगादिगतमाभासत्वं श्रृंगारविषयमेव, नान्यरसविषयम्, 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' इत्यादावप्याभासत्वप्रसङ्गात्। —अलंकारमहोदधिः, पृ० ६७।

३. मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

४. एषापि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम्।
गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साययति ॥ —अभिज्ञान-शाकुन्तल, ४।१६।

कुशल कवि पशुओं में रतिभाव का प्रदर्शन कर उससे पाठक को अत्यन्त सरलता पूर्वक प्रभावित कर लेता है। देखिए, सिंह के सिंही में अनुरक्त होने पर सम्पूर्ण जंगल के प्राणी निर्भय होकर विचरण करने लगे हैं :

> कः कः कुत्र न घुर्घुरायितघुरीघोरो घुरेत्सूकरः
> कः कः कं कमलाकरं विकमलं कर्तुं करी नोद्यतः
> के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः
> सिंहीस्नेहविलासबद्धवसतिः पञ्चाननो वर्तते ॥[1]

अर्थात् जब सिंह स्वप्रिया सिंही के प्रेम-विलास के कारण एक देशवास करने लगा तो जंगल के प्राणी स्वच्छन्द हो गये, शूकर नासिका से घुर्घरा कर भयंकर शब्द करने लगा, हाथी कमलों के उत्पत्ति स्थान को कमलों से रहित करने लगे और भैंसे वनों को उखाड़ने लग गये (मानो किसी राजा के व्यसनी होने पर प्रजा में खलबली मच गयी हो)। इस प्रकार के स्थल सिंह का सिंही के प्रति तीव्र अनुराग प्रकट करते हैं, और पाठक के सम्मुख सिंह-सिंही की रति का चित्र भी उपस्थित हो जाता है। कुन्तक का मत है कि अमुख्य चेतन (सिंहादि तिर्यक् योनि के प्राणियों) का मनोहर रूप भी रसोद्दीपन सामर्थ्य के कारण कवियों की वर्णना का विषय होता है।[2] हरिण अपने सींग से जब हरिणी को खुजलाता है तो पाठक इस दृश्य को कुतूहल से देखता है। हां, चींटे और चींटी का अथवा गली के कुत्ते और कुतिया का परस्पर चिपटा-चिपटी का वर्णन यदि वैरस्य का जनक है, तो उसका कारण अधमपात्रनिष्ठ रति है।

इसी प्रसंग में बालज़ाक द्वारा रचित 'रेगिस्तान का प्रणय' शीर्षक कहानी का उल्लेख करना अनिवार्य है। एक पुरुष का व्याघ्री के साथ प्रणय भाव का यह एक अद्भुत उदाहरण है। लेखक ने इन दोनों की परस्पर रति का, एक दूसरे के साथ आलिंगनबद्ध होने तथा चुम्बनादि करने का जो वर्णन किया है वह अत्यन्त कुतूहल-जनक है। उस निर्जन स्थान में वे दोनों एक-दूसरे के अभिन्न साथी हैं। एक दूसरे को अपना हितैषी तथा सर्वस्व मानते हैं। व्याघ्री की आंखों में वैसा ही प्रणय भाव झलकता है जैसा कि किसी नारी में हो सकता है। अन्त में उसे जैसे ही पुरुष के रतिभाव में कुछ सन्देह प्रतीत होता है, उसमें स्त्री-सुलभ-ईर्ष्या जाग उठती है और वह पुरुष से उसकी कृतघ्नता का पूरा प्रतिकार लेती है। अंग्रेज़ी साहित्य में इस प्रकार की अनेक कहानियां उपलब्ध हैं। विशेष रूप से शिकार के आधार पर लिखी गई कहानियों में पशुओं में सभी प्रकार के भाव चित्रित किए गए हैं और वे पाठक को प्रभावित भी करती हैं। डॉ० आज़म करेबी की 'कुर्बानी' नामक कहानी में बच्चे का बकरे के प्रति निश्छल प्रेम तथा जैनेन्द्रजी की गौ कहानी में गाय के प्रति प्रेम से रसानुभूति ही होती है।

---

१. काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, २२४ श्लोक (मम्मट ने इसे पतत्प्रकर्षता का उदाहरण माना है)।

२. वक्रोक्ति जीवित। ३।८।

हमारे विचार में सम्भवतः हास और विस्मय ही ऐसे भाव हैं, जो पशुओं में उदित नहीं हो सकते। हर्षातिरेक पशु-पक्षियों को होता जरूर है, किन्तु हँसी उन्हें नहीं आती। शायद इसीलिए पाश्चात्य दर्शन-वेत्ता बुर्गसां ने हँसी को ही पशु और मनुष्य के बीच की लक्ष्मण रेखा माना है। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि उनके क्रियाकलापों को देख कर अथवा पढ़ कर हमें हास्य अथवा अद्भुत रसों की अनुभूति नहीं होती। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि वे हास और विस्मय स्थायिभावों के आश्रय नहीं बनते।

(ख) निरिन्द्रियगतभाव

रसाभास का एक कारण अनुचित विभाव अथवा अयोग्य विषयता है।[१] आचार्यों ने निरिन्द्रिय अर्थात् वृक्षादि-गत-भावों को भी अनुचित विभाव माना है। उनका कथन है कि इनमें भाव को ग्रहण करने की योग्यता का सर्वथा अभाव है। सर्वप्रथम आचार्य भामह ने प्राकृतिक उपादानों द्वारा सम्पादित दौत्य-कर्म को अयुक्तिमत् दोष कहा था।[२] सम्भवतः इन्हीं से प्रभावित होकर परवर्ती आचार्यों ने इसे रसाभास माना है। हेमचन्द्र का स्पष्ट मत है कि 'निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासौ, (२।५४) इसी प्रकार भोजराज एवं नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी इस प्रकार के भाव-प्रदर्शन को रसाभास स्वीकार किया है।[३] हिन्दी के आचार्यों में श्री रमाकान्त शर्मा का कथन है कि 'बिन प्रान जो वृक्षादिक हैं तिन्ह में असत्य' (प्रेमसुधा रत्नाकर, १७४—व्याख्या)। पं० रामदहिन मिश्र ने इसी आधार पर पन्त जी के छायावादी काव्य को रसाभास के अन्तर्गत परिगणित किया है।[४]

काव्य में प्रकृति का प्रयोग आलम्बन, आश्रय (मानवीकरण), उद्दीपन, अप्रस्तुत (अलंकार), प्रतीक एवं उपदेशात्मक इन छः रूपों में होता है। इनमें से प्रतीक का अप्रस्तुत में तथा उपदेशात्मक का अप्रस्तुत अथवा आलम्बन में अन्तर्भाव किया जा सकता।

विश्व साहित्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि प्रकृति का व्यापक विस्तार एवं उसका नानारूपात्मक सौन्दर्य कवि की स्वानुभूति का विषय रहा है। मानव उसकी क्रोड़ में विकसित हुआ है अतः उसकी ओर उसका आकर्षण स्वाभाविक है। वह उससे आह्लादित होता है। उसे देख कर आनन्द अनुभव करता है और अनेक बार उसी में तल्लीन हो जाता है। कवियों ने अपनी अन्तर्दृष्टि से अपनी इस स्वानु-

---

१. असंमतावलम्बित्वादयोग्य विषयत्वतः।
रसाभासस्तथा भावाभासाश्च स्युरनुक्रमात्। —साहित्यसार, पृ० १३९।

२. काव्यालंकार १।४२-४४ (देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ५९।)

३. (क) सरस्वती कण्ठाभरण ५।३०; (ख) अलंकार महोदधि, पृ० ९६-९७

४. देखिए—काव्य दर्पण, रसाभास प्रकरण।
पाश्चात्य काव्य शास्त्र में भी प्रकृति के भावनात्मक चित्रों में चैतन्याभास या 'भावाभास' (पैथेटिक फैलसी) नामक दोष की कल्पना की गयी है।

भूति को काव्य में अभिव्यक्त किया है। प्रकृति ने उसके चित्त में सभी भावों को उद्दीप्त किया है। रीतिकाल में विरह-दग्ध नायक-नायिका प्रकृति से विशेष रूप से प्रभावित हुए हैं। कुछ उदाहरण देखिए :

(क) चन्द के उदोत होत नैन-कंज तपे कंत।
छायो परदेस देह दाहनि दगतु है।
× ×
कहा करौं ? मेरी बीर, उठी है अधिक पीर,
सुरभी-समीर सीरो तीर सों लगतु है। —रसराज, ११४।

(ख) पोछति है कर सौं किसलै गहि बूझति स्याम सरीर गुपालहि।
भोरी भई है मयंक-मुखी, भुज भेंटति है भरि अंक तमालहि॥
—रसराज, ४१६।

(ग) देखत क्यों न अपूरब इन्दु में द्वै अरविन्द रहे गहि लाली।
त्यों 'पदमाकर' कीर-वधू इक मोती चुगै मनों ह्वै मतवाली॥
ऊपर तें तम छाइ रह्यौ रवि की दब तें न दबै खुलि ख्याली।
यों सुनि बैन सखी के विचित्र भए चित चक्रित से बनमाली॥
—जगद्-विनोद, ६०२।

(घ) धीर-धरौ किन मेरे गुबिन्द घरीक में जौ या घटा घहरै है।
आपुहि तें तजि मान तिया हरुवै-हरुवै गरुवै लगि जैहै।
—जगद्-विनोद १३३।

(ङ) ए रे मति-मन्द चन्द आवति न तोहि लाज,
है कै द्विजराज काज करत कसाई के।

प्रकृति से नायिका पति के न आने का कारण पूछती है—

(च) तजत गेह अरु गेहपति, मोंहि न लगी विलंब।
हरि विलंब आई सु कत, क्यों नहिं कहत कदंब॥
—जगद्-विनोद, २०१।

प्रिय की सम्बन्ध भावना से नायिका को प्रत्येक वस्तु प्रिय ही प्रतीत होती है। तमाल के वृक्षों का स्पर्श उसके लिए प्रिय के आलिंगन के सदृश ही सुखद हो जाता है :

"सोचत नैन विशालन के जल बाल सुभेंटति बाल तमालहिं"
—सुखसागरतरंग, ५८३।

रहस्य बनकर तो यह प्रकृति ईश्वर का आभास कराने में विशेष सहायक सिद्ध हुई है। शास्त्रीय दृष्टि से इसप्रकार के प्रकृति-काव्य में प्रकृति आलम्बन होती है और कवि अथवा पात्र स्वयं उन भावों का आश्रय। प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण में प्रकृति के अनेक रेखा-चित्र तथा संश्लिष्ट एवं कलात्मक चित्रण प्रस्तुत किए गए हैं। इसी प्रकृति-चित्रण में ही स्वर्ग की कल्पना की गई है। अनेक स्थलों पर प्रकृति के अटूट नियमों से उपदेश ग्रहण किया गया है। इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण को रसाभास मानना अनुपयुक्त है। यह प्रकृति

का सर्वथा निरपेक्ष चित्रण है। प्रकृति मौन है, मनुष्य आश्रय ही उससे प्रभावित है। इसप्रकार के किसी वर्णन से यदि रसाभास की अनुभूति हो तो इसका कारण मनुष्य स्वयं होगा। वही उससे प्रभावित है। ऐसी स्थिति में वहां रसाभास का कारण मनुष्य की व्यथा अथवा हर्षादि भावों का अतिरेक होगा। इसीप्रकार अप्रस्तुत अथवा प्रतीक रूप में चित्रित प्रकृति भी सामान्यतः रसाभास की विषय-परिधि में नहीं आनी चाहिए। एक उदाहरण देखिए :

होत प्रभात चल्यो चहै प्रीतम
सुन्दरि के हिये में दुख भारे।
चन्द-सो आनन दीप सी दीपति
स्याम सरोज-से नैन निहारे। —रसराज, ३४।

नायिका का चन्द्र के समान मुख, दीपशिखा के समान दीप्ति और कमल के समान नेत्र हैं।[1] यहां चन्द्रादि निरिन्द्रिय पदार्थों पर चेतनता का आरोप नहीं किया गया, वरन् मुख आदि चेतन अंगों को जड़ पदार्थों के तुल्य माना गया है। फिर भी इससे ये चेतन अंग जड़वत् प्रतीत न होकर सौन्दर्य-विशेष से मण्डित हुए हैं। यही कवि का लक्ष्य था। किन्तु यदि ये उपमान अप्रसिद्ध अथवा असंगत हुए तो उनसे रसाभास की सम्भावना हो सकती है। नयी कविता के उपमान रसानुभूति कराने में पूर्णतः सक्षम नहीं रहे।

यहां यह उल्लेखनीय है कि अप्रसिद्ध अथवा असंगत उपमानों के वर्णन से रसाभास होने का कारण निरिन्द्रियगतभाव नहीं है। आचार्यों ने रसाभास की सम्भवना वहां की है जहां कवि प्रकृति की अनुभूति के साथ अपने मानवीय जीवन का प्रतिबिम्ब भी उसमें समन्वित करता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह जड़ प्रकृति में चेतनता का आरोप करता है : 'इन्द्रियवर्जितेष्वपि च नायकत्वारोपात्'। (अलंकार महोदधि, पृ० ६७) उसे पवन में शक्ति का वेग, पत्तियों में प्राणों का स्पन्दन और सरिता में जीवन का प्रवाह दिखाई देता है। और अनेक बार वह प्रकृति को मनुष्य ही मान बैठता है। उसे वृक्ष पुरुष रूप में और लता स्त्री रूप में दिखाई देती है। उसकी कल्पना में सरिता प्रियतमा के रूप में नीरनिधि से मिलने दौड़ी जा रही है। इस दृष्टि से प्रकृति में भाव

---

१. इसी प्रकार के कुछ अन्य स्थल देखिए—
 (क) कवित्त रत्नाकर—३। ५१,५३।
 (ख) बिहारी बोधिनी—८२, ११६, ३१३, ५०, २८६, २८७, २४६, ६५५।
 (ग) मतिराम ग्रन्थावली—२६, ३४, १७१, ११२, १६३।
 (घ) ललित ललाम—६७, ३३१, २०३।
 (ङ) रसराज—३०४, २६, २२, २३५, २३६, २१८।
 (च) सुखसागरतरंग—३६८, २४१, ३०१, ६१, २६७, ३२२, ४३३, ६१२।
 (छ) जगद् विनोद—१८३, २४६, १५।
 (ज) नवरस तरंग—२४, १८२।

प्रदर्शन दो प्रकार का है—(१) प्रथम वहां, जहां प्रकृति ही आलम्बन है और प्रकृति ही आश्रय और आश्रय प्रकृति ने मानववत् अनुभूति की है। (२) द्वितीय वहां, जहां प्रकृति मानव के सुख-दुःख से प्रभावित हुई है और उसने भी मानवीय भावों को अनुभव किया है। दोनों प्रकार के उदाहरण देखिए :

१. प्रकृति का प्रकृति के प्रति भाव-प्रदर्शन (मानकरण) :

हेमचन्द्र एवं नरेन्द्रप्रभसूरी के अनुसार यदि निरिन्द्रिय वृक्षादिकों में सम्भोग का आरोप किया जाएगा तो इसे संभोगाभास मानना चाहिए, यथा :

पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालौष्ठमनोहराभ्यः ।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥

—कुमारसंभव ३।३९ ।

पर्याप्त पुष्प-स्तबक-रूप स्तनों वाली, नवीनपत्र-रूपी होठों वाली सुन्दर लता-रूपी वधुओं ने वृक्षों की झुकी हुई शाखा-रूपी भुजाओं के बन्धनों को प्राप्त किया। इसी प्रकार निशा और शशि का परस्पर मिलन सम्भोगाभास माना है :

अङ्गुलीभिरिवकेशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥

—कुमारसंभव ८।६३।

चन्द्रमा अपनी किरणों द्वारा, अंगुलियों से केशपाश के समान अन्धकार को बांध कर अर्द्धविकसित कमल नेत्र वाले रात्रि के मुख का मानो चुम्बन कर रहा है। इसी प्रकार विप्रलम्भ-भाव का आरोपण करने से इन आचार्यों ने विप्रलम्भाभास माना है :

(क) वेणीभूतप्रतनुसलिला तामती तस्य सिन्धुः ।
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिः शीर्णपर्णैः ॥
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती,
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥ —मेघदूत पूर्व० २९ ।

(ख) अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः ।
अहो ! दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः ॥

—अलंकारमहोदधिः, पृ० ९७ ।

रूपगोस्वामी ने लता को पुलकित प्रदर्शित किया है—

सखि ! मधु किरती निशम्य वंशीं
मधुमथनेन कटाक्षिताऽथ मृद्वी ।
मुकुलपुलकिता लतावलीयं-
रतिमिह पल्लवितां हृदि व्यनक्ति ॥

—हिन्दीभक्तिरसामृतसिन्धु, ९।१२ ।

हे सखि ! मधुवर्षण करने वाली वंशी को श्रवण कर एवं मधुमथन श्रीकृष्ण के द्वारा कटाक्षों से अवलोकित, कोमल एवं कली रूपी रोमांचों से युक्त यह लतावली हृदय में पल्लवित रति को प्रकट कर रही है। इसी प्रकार पुलिन्दी में भी भाव प्रदर्शित किया है :

कालिन्दी पुलिने पश्य पुलिन्दी पुलकाञ्चिता।
हरेर्दृक्चापलं प्रेक्ष्य सहजं या विघूर्यते ॥

अर्थात् यमुना किनारे रोमाञ्चित पुलिन्दी को देखो जो कि हरि की स्वाभाविक नेत्र चंचलता को देखकर विघूर्णन कर रही है।

इसी प्रकार हिन्दी कवियों में सेनापति ने एक स्थल पर प्रकृति के चित्र से मानवीय भावोल्लास का साम्य प्रस्तुत किया है :

फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानौं मोती अनगन हैं।
तिमिर हरन भयौ, सेत हैं बरन सब
मानहु जगत छीर-सागर मगन हैं।

—कवित्त-रत्नाकर, ३।४०।

यहां प्रकृति की मग्नता मानवीय सुख की व्यञ्जक हो उठी है। सैयद गुलामनबी द्वारा कृत वसन्त का उल्लेख देखिए :

कहुं लागत बिगसन कुसुम कहुं डोलत है वाइ
कहूं बिछावति चाँदनी मधुरितु दासी आई
सरवर माहि अन्हाइ अरु, बाग बाग बिरमाइ
मंद मंद आवत पवन, राजहंस के भाइ ॥

—रस-प्रबोध ६४६,६५०।

इसमें प्रकृति की क्रियाशीलता में मानवीय आरोपों का वातावरण प्रस्तुत किया गया है। देव की प्रतिभा प्राय: मानवीय भावों और संचारियों की योजना में प्रकट होती है, परन्तु प्रकृति के परम्परा-प्राप्त रूप में भी इन्होंने कुछ स्थलों पर भाव-व्यञ्जना सन्निहित की है :

सुनि के धुनि चातक मोरनि की चहुँ ओरनि कोकिल कूकनि सों।
अनुराग भरे हरि बागन मैं सखि रागत राग अचूकनि सों ॥
कवि देव घटा उनई जु नई बन भूमि भई दल दूकनि सों।
रंगराती हरी हहराती लता झुकि जाती समीर की झूकनि सों ॥

—भाव विलास (वनवेलि उदाहरण)

यहां प्रकृति के यथार्थ वर्णन में उसकी क्रिया एवं गति द्वारा उसका भावोल्लास व्यञ्जित किया गया है। वह अनुरागमयी वेणु के साथ मानवीय भावों को अपने में छिपाए है। इसी प्रकार ठाकुर कवि के पावस-वर्णन में मानवीय व्यथा-सम्बन्धी अनुभावों और भावों को प्रकृति पर प्रतिघटित किया गया है :

घन घहरान लागे अंग सहरान लागे
केकी कहरान लागे बन के विलासी जे।
बोलि बोलि दादुर निरादर सौं आठोजाम,
ग्रीषम की देन लागे बहुर बिहासी जे।

ठाकुर कहत देखो पावस प्रबल आयो,
उड़त दिखान लागे बगुल उदासी जे ।
दाबे से दबे से चारो औरन छए से वीर
बरस रहन लागे बदरा विसासी जे ।

उपर्युक्त सभी वर्णनों में प्रकृति के प्रति प्रकृति ने मानवीय भावों की अनुभूति की है।[1]

२. मानव से प्रभावित प्रकृति :

नायिका के रूपातिशय को प्रकट करने के लिए कवियों ने प्रकृति को भी उससे प्रभावित दिखलाया है। प्रकृति नायिका की रूप-प्रभा से प्रभावित होकर और अधिक सौन्दर्य धारण कर लेती है :

जुवति जुनाइ सों न कछु और भेद अवरेखि
तिय आगम पिय जानिगो, चटकि चांदनी पेखि। —जगत्-विनोद, २४६।

अभिसारिका नायिका संकेत स्थल को जा रही है, उसके शरीर की सुगन्धि, मधुपों की भीड़, पदतल की लालिमा और चन्द्रमुख की प्रभा से प्रकृति के वृक्ष तथा पल्लव तद्गत सुरभि एवं रूप प्राप्त करते हैं। चन्द्रमुख की दीप्ति से मार्ग में चन्द्रिका खिल जाती है और उसके आगे-आगे वसन्त ऋतु होती जाती है :

तन को सुबासु बासु बहति समीर तहाँ,
अलिन की भीरन अवलि छवि छ्वै रही।
नये-नये नीके लगैं किसलै लगन आली,
पगन की लाली द्रुमजालिन सम्बै रही।
सुधा सुख सींचीं मुख चंद की मरीचिन तें,
बीथिन प्रवीन बेनी चांदनी सी ह्वै रही।
उमंगे अनंग-मन कंत को मिलन जाति,
आगे-आगे बन में बसन्त ऋतु ह्वै रही॥

—नवरसतरंग, १७४।

देव ने भी नायिका के सौन्दर्य का तद्गुण अलंकार द्वारा इसीप्रकार का वर्णन किया है। उनकी नायिका जल में जहां-जहां तैरती है, वहां-वहां उसकी वेणी और पदलालिमा से त्रिवेणी की-सी छवि होती है :

पैरै जहांई जहाँ वर बाल, तहाँ-तहाँ ताल में होत त्रिवेनी। इसी प्रकार वृषभानु-सुता के आते ही ब्रज की दशा देखिए :

कंजन कलिनमयी कुंजन अलिनमयी
गोकुल की गलिन नलिनमयी ह्वै गई॥—देवसुखसागर-तरंग, १०७।

---

१. इसी प्रकार छायावादी काव्य के कुछ उदाहरण देखिए—
—प्रेम-डूबा रवि अस्ताचल, सन्ध्या के दृग छल-छल —निराला गीतिका, ७८।
—हास्य-विकल खिलखिलाती क्यों तू ? इतनी हंसी न व्यर्थ बिखेर।
—कामायनी।

इन सभी कवियों में चमत्कार की प्रवृत्ति विशेष है। इस कारण यह ऊहात्मक ही अधिक है। पद्माकर ने वसंत की परम्परागत योजना में यही रूप प्रस्तुत किया है :

पात बिन कीन्हे ऐसी भान्ति गन बेलिन के,
परत न चीन्हे जे ये लरजत लुंज हैं।
कहैं पदमाकर बिसासी या बसंत कैं,
सु ऐसे उतपात गात गोपिन के भुंज हैं।
ऊधौ यह सूधौ सो संदेसौ कहि दीजौ भले
हरि सौं हमारे ह्यां न झूले बन-कुंज हैं।
किंसुक गुलाब कचनार औ' अनारन को,
डारन पै डौलत अँगारन के पुंज हैं।

—जगद्-विनोद, ३८२।

इसमें भावों के सम पर जो प्रकृति का उल्लेख हुआ है वह स्वयं ही प्रेरक तथा उद्दीपक है। सेनापति भी जेठ की गरमी का वर्णन इसी उत्तेजक-रूप में करते हैं—

गगन गरद धूँधि दसो दिसा रही रूँधि,
मानों नभ भार की भस्म बरसत है।
बरनि बताई, छिति व्योम की तताई जेठ,
आओ आतताई पुट पाक सौं करत है।

—कवित्त-रत्नाकर, ३।१५।

अलाव तापते हुए लोगों का वर्णन जहां कवि की प्रौढ़ोक्ति ने उसे और भी व्यंजक बना दिया है—

सीत कौं प्रबल सेनापति कोपि चढ़्यौ दल,
निबल अनल, गयौ सूर सियराइ कै।
हिम के समीर तेई बरसैं विषम तीर,
रही है गरम भौन कौनन में जाइ कै।।
धूम नैंन बहैं, लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिए सौं लगाइ रहैं नैंक सुलगाइ कै।
मानो भीत जानि, महा सीत तैं पसारि पानि,
छतियां की छाँह राख्यौ पाउक छिपाइ कै।।

—कवित्त-रत्नाकार, ३।४५।

प्रेमसुधारत्नाकर में इसी प्रसंग का ही एक उदाहरण मिलता है, जो कि द्रष्टव्य है—

एकहु बार न छांह मम, सेवित श्री रघुवीर।
मति सोचै दंडक सुतरु, आवत हैं धरु धीर।।१७५।।

जड़ प्रकृति में भाव वहन करने की क्षमता का अभाव है। अतः उपर्युक्त प्रकार के उदाहरणों में रसाभास स्वीकार करने का कारण असम्भावना अथवा अतिशयोक्ति है। किन्तु इस प्रकार के चित्रण उद्दीपन रूप में वर्णित होने पर अनौचित्य की परिसीमा में नहीं आते। सभी काव्यचार्यों का यही मत है। शिंगभूपाल ने उद्दीपन के चार

भेद कर के प्रकृति के वर्णन को तटस्थ उद्दीपन के रूप में चित्रित करने का उल्लेख किया है।[1] हिन्दी रीति काव्यचार्यों में केशव को छोड़कर प्रायः सभी ने इसे उद्दीपन माना है।[2] केशव ने उसे आलम्बन के अन्तर्गत परिगणित किया है।[3] किन्तु अन्य आचार्यों से वे भिन्न नहीं हैं। वस्तुतः उन्होंने नायिका के साथ पृष्ठ-भूमि को भी आलम्बन के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया है और केवल शारीरिक उद्दीपक क्रियाओं को ही उद्दीपन के अन्तर्गत परिगणित किया है।[4] इस प्रकार यह वस्तुतः आलम्बन और उद्दीपन की

---

१. अथ शृंगारस्योद्दीपन विभावः
उद्दीपनं चतुर्धा स्यादालम्बनसमाश्रयम्।
गुणचेष्टालङ्कृतयस्तटस्थाश्चेति भेदतः॥
अथ तटस्थाः —
तटस्थाश्चन्द्रिका धारा गृहचन्द्रोदयावपि।
कोकिलालापमाकन्दमन्दमारुत षट्पदाः॥
लतामण्डपभूगेह दीर्घिकाजलदारवाः।
प्रसादगर्भसङ्गीतक्रीडाद्रि सरिदादयः॥
—रसार्णव सु० (पृ० १६२, ८७, ७८, ८६)।

२. (क) उद्दीपन के भेद बहुसखी वचन है आदि।
समय साजलौं वरनिये कविकुल की मरजादि॥
—कृपाराम, हिततरङ्गिणी। ११।

(ख) गीत नृत्य उपवन गवन आभूषन जल केलि।
उद्दीपन शृंगार के विधु बसन्त बन वलि॥ —देव, भावविलास (उद्दीपन भेद)

(ग) भिखारीदास ने काव्य निर्णय (४।१७) में प्रकृति को विभाव के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है।

(घ) अथ उद्दीपन में षट्-ऋतु मध्ये बसन्तऋतुवर्णनम्
—रसप्रबोध, पृ० ८३ (सैयद गुलामनबी)

३. अथ आलम्बन-स्थान-वर्णने
दंपति जोबन रूप जाति लच्छनजुत सखिजन।
कोकिल कलित बसंत फूलि फल दल अलि उपबन॥
जलचर जलजुत अमल कमल कमला कमलाकर।
चातक मोर सु सब्द तड़ित धनु अंबुद अंबर॥
सुभ सेज दीप सौगंध गृह पान गान परिधान मनि।
नव नृत्य भेद बीनादि सब आलम्बन केसव बरनि॥ —रसिकप्रिया, ६।६।

४. अवलोकन आलाप परिरंभन नख-रद-दान।
चुम्बनादि उद्दीप हैं, मर्दन परस प्रवान॥ —रसिकप्रिया, ६।७।
सब विभाव द्वै भांति के केशवदास बखानि।
आलम्बन इक दूसरो, उद्दीपन मन आनि॥

परिभाषाओं का अन्तर है। इस बात से सभी सहमत प्रतीत होते हैं कि प्रकृति में भाव-प्रदर्शन साध्य रूप में न होकर साधन रूप में होना चाहिए। पात्र में जिस प्रकार के भावों की व्यंजना करना कवि को अभीष्ट होता है उसी प्रकार के भाव वे प्रकृति में भी दिखला दिया करते हैं। उदाहरणार्थ—यदि दुष्यन्त-शकुन्तला का परस्पर आलिंगन अथवा प्रेमालाप दिखलाना हो तो उनके स्थान पर अथवा उनके साथ ही साथ वृक्ष-लता का तथा शुक-शुकी का परस्पर उसी प्रकार का व्यवहार दिखलाना रस को निष्पन्न करने में उद्दीपन का काम देता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने रसौचित्य में प्रकृति-वर्णन को उद्दीपन के रूप में चित्रित करने को कहा है और उन्होंने इसकी पुष्टि के लिए श्री हर्ष का निम्नोक्त पद्य उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया है :

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुरसनं प्रारब्ध-जृम्भांक्षणा-
दायासंश्वसनोद्‌गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यान लतामिमां समदनां नारीमिवान्यां, ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥[1]

इसमें वासवदत्ता के ईर्ष्या विप्रलंभ भाव की कल्पना की गई है। नवीन मालती लता को ललित वनिता के तुल्य कल्पित कर उसमें विरह-दशा का आरोप किया गया है। इस प्रकार उपमा द्वारा एक रुचिर औचित्य की सृष्टि हुई है, और उसमें चमत्कार-जनक दीप्ति का जन्म है। कालिदास के निम्नलिखित पद्य में भी यही बात है :

बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥[2]—कुमारसंभव ३।२९।

यह कुमारसम्भव का प्रसंग है। प्रस्तुत पद्यार्थ के बाद भगवान् शंकर का पार्वती के प्रति अभिलाषा श्रृंगार वर्णित हुआ है, उससे पूर्व यहां वसन्त कामुक के और वनस्थली कामनियों के रूप में कल्पित हैं। ढाक की लाल-टेढ़ी कलिकाओं की नखक्षत के रूप में उत्प्रेक्षा है। प्रस्तुत प्रसंग दूर तक श्रृंगार रस का है, उसी के अनु-रूप उपमानगत वस्तु समूह कल्पित हैं।

हिन्दी रीति कवियों ने प्रकृति का वर्णन इसी साधन रूप में ही प्रस्तुत किया है। वर्षा ऋतु में सहेट स्थल के नष्ट होने पर नायिका के रोने का जो कारण मतिराम

जिन्हैं अतन अवलंबई, ते आलंम्बन जानि।
जिनतें दीपति होति है, ते उद्दीप बखानि॥ —रसिकप्रिया, ६।४-५।

१. अर्थात् इस उद्यान लता की कलिकायें बढ़कर ऊपर उठ आई हैं, इसकी कांति पीली पड़ गई है, जम्भाई लेकर दीर्घ श्वासों से मानो क्षण भर के लिए यह अपनी थकान को प्रकट कर रही है। इसे आज मदन पीड़ित नारी की तरह देखकर देवी वासवदत्ता का मुख कोपारुण हो जाएगा।

२. अर्थात् ढाक के अत्यधिक लाल-लाल फूल पूरे विकसित नहीं हुए थे। इसलिए बालेन्दु की भांति टेढ़े दिखाई देते थे, ऐसा लगता था कि वनस्थलियों का जो वसन्त से समागम हुआ है उसमें उन्हें सद ताजे नखक्षत लग गए हैं।

ने प्रस्तुत किया है, वह द्रष्टव्य है :

> आई ऋतु पावस अकास आठौं दिसन मैं,
> सोहत स्वरूप जलधरन की भीर को
> 'मतिराम' सुकवि कदंबन की बासजुत,
> सरस बढ़ावैं रस परस समीर को।
> भौन तें निकसि वृषभानु की कुमारि देख्यो,
> ता समै सहेट को निकुंज गिर्यो तीर को।
> नागरि के नैननि तैं नीर को प्राह बढ़्यो,
> निरखि प्रवाह बढ़्यो जमुना के नीर को ॥—रसराज, ८६।

सहेट स्थल के जलमग्न होने का तो नायिका को दुःख है ही, किन्तु अधिक नहीं क्योंकि थोड़े समय में दूसरा स्थान बनाया जा सकता है, किन्तु व्यग्रता इस बात से बढ़ी है कि इसी क्षण प्रकृति मिलन के उपयुक्त मधुर वातावरण उत्पन्न कर रही है। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण देखिए—प्रिय के मिलन की आशा न रखने पर वे निकुञ्ज जो किसी समय सुखमय थे, अब नायिका के भावों को कितने उच्छ्वासमय बना देते हैं :

> ह्वां मिलि मोहन सों, 'मतिराम' सुकेलि करी अति आनँदवारी।
> तेई लता-द्रुम देखत दुःख चलै अँसुवा अँखियान तें भारी॥
> आवति हौं जमुना-तट कौं नहिं जान परै बिछुरे गिरिधारी।
> जानति हौं सखि आवत चाहत कुंजन तें कढ़ि कुंजबिहारी॥
> —रसराज, ११८।

प्रिय जिन कुञ्जों के पीछे से निकल कर नायिका के साथ प्रेमालाप करता था, वे अब भी हैं, और नायक के न होने से वे उनके अभाव को, और उन पुरानी कामक्रीड़ाओं की मधुर स्मृति को कष्टमय बना रही हैं।[1] इन कवियों ने उद्दीपन रूप में अत्यन्त मनोहारी ऋतु वर्णन किए हैं।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि उद्दीपन रूप में प्रकृति का

---

१. इसी प्रकार के कुछ अन्य स्थल देखिए—
   (क) बिहारी बोधिनी—२६३, ४८६, ४९३, ५११, ५३५, ५८२।
   (ख) भूषण ग्रन्थावली—२०, २२, २४।
   (ग) रसराज—८६, २८५, ११६, २०२, ११४, ११८, २१०, २६७।
   (घ) सुखसागर तरंग—१३५, ८१, १३६, २५३, १५८, ५६८, ५८५।
   (ङ) जगद्विनोद—२३६, २०३, ३८७, ३०६, ३१४, १८५, ३७८।
   (च) नवरस तरंग (बेनी)—२७८, २८, २२५, १२३, ३८६, ४९२।
   (छ) कवित्त रत्नाकर—३५, २६।
   (ज) पावस शतक—२७।
   (झ) भाव विलास—३।
२. कुछ स्थल देखिए—
   (क) बिहारी बोधिनी, ५६०, ५६५।

चित्रण रसाभास का विषय नहीं हो सकता। इस रूप में प्रकृति कथानक की परिस्थिति और घटना स्थिति आदि के रूप में चित्रित होकर उपयुक्त मनःस्थिति का वातावरण उपस्थित करती है। अनेक बार मनःस्थिति के समानान्तर चित्रित होने से इससे मनः-स्थिति की अज्ञात भावना का संकेत मिलता है। भावोद्दीपक रूप में तो यह चित्रित होती ही है।

किन्तु आश्रय अथवा मानवीकरण रूप में भी प्रकृति का चित्रण निम्नोक्त रीति से रसाभास का विषय नहीं बनता

(१) यदि कवि का लक्ष्य प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र वसु के इस सिद्धान्त का उपस्थापन हो कि प्रकृति चेतन है, उसमें भी मनुष्य की भांति सुख-दुःख के भावों को अनुभव करने की क्षमता विद्यमान है। समर्थ कवि इस लक्ष्य को ले कर काव्य-रचना कर सकता है और इसी दृष्टिकोण को समझने की इच्छा से उस काव्य को पढ़ने वाला पाठक उसे पढ़ कर रसानुभूति करने में समर्थ होगा। भावानुभूति तो अवश्य ही करेगा। किन्तु यह एक सम्भावना मात्र है अन्यथा न तो कवि इस धारणा को लक्ष्य में रख कर काव्य-निर्माण करते हैं, और न पाठक ही प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी रचनाओं को इसी दृष्टिकोण से पढ़ते हैं।

(२) यदि कवि का लक्ष्य इस दार्शनिक मत का उपस्थापन हो कि समस्त चराचर जगत् में एक ही तत्त्व व्याप्त है और सहृदय भी इसी धारणा को स्वीकार करता हो तो भी प्रकृति का चेतनावतरण व्यवहार रसाभास का विषय नहीं होगा। किन्तु कोई आध्यात्मिक वृत्ति का सहृदय ही उस रीति से रसग्रहण करने में समर्थ होगा, सामान्य सहृदय के लिए इस प्रकार के वर्णन को यथावत् स्वीकार कर लेना सम्भव नहीं है।[१]

(३) यदि कवि अत्यन्त भावुक हो, तो वह अपने कौशल से प्रकृति में भाव वहन करवा कर अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ सिद्ध होता है। कवियों ने जिस मानवीकरण अलंकार का प्रयोग किया है वह सहृदय के चित्त को उद्वेलित करने में प्रायः सक्षम रहा है। उदाहरण के लिए कबीर की निम्नोक्त साखियाँ देखिए—

—माटी कहै कुम्हार को तू क्या रूंदे मोहि॥
इक दिन ऐसा होयगा मैं रूंदूंगी तोहि॥

(ख) भूषण ग्रन्थावली, १९, २१।
(ग) रसराज, २१०, २११।
(घ) सुख सागर तरंग, १५०, १७१।
(ङ) जगद् विनोद, ३७८, ११६।
(च) कवित्त रत्नाकर, तीसरी तरंग के अन्तर्गत, ११, १२, २९, ३१, ३३, ३७, ३८, ५४, ५५।

१. देखिए, रस सिद्धान्त, पृ० ३१३

—माली आवत देखि के कलियाँ करें पुकार।
फूली फूली चुनि गईं काल्हि हमारी बार॥
—कबीर ग्रन्थावली, साखी, १६।३४।

इस प्रकार की रचनाएं अनेक बार प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत होती हैं। छायावाद का कवि इस प्रकार की कविता करके पाठक को प्रभावित करने में सफल रहा है। इन कवियों ने निरिन्द्रिय-प्रकृति में भाव-प्रदर्शन जिस रूप में किया है उसमें यथार्थ का भी अंश है :

—कभी अचानक भूतों का सा प्रकटा विकट महा आकार।
कड़क-कड़क जब हंसते हम सब थर्रा उठता है संसार॥
—बादल (पन्त)।

उधर गरजतीं सिन्धु लहरियां, कुटिल काल के जालों सी।
चलती आ रहीं फेन उगलती फन फैलाए व्यालों सी॥
—कामायनी (प्रसाद)।

इस प्रकार की रचनाओं से पाठक के सम्मुख अत्यन्त भावपूर्ण चित्र उपस्थित होता है। यदि निरिन्द्रियगतभाव को रसाभास स्वीकार कर लिया गया तो विश्व के बहुत से साहित्य के साथ अन्याय करना होगा। छायावादी कवियों की प्रतिभा जो कि अमूर्त तत्त्वों में मूर्तीकरण एवं निर्जीव तत्त्वों को सजीव करने में प्रकट हुई है—का तिरस्कार करना होगा। मेघदूत (कालिदास), अनिलदूत (रामदयाल तर्करत्न), इन्दुदूत (विनय विजयगणि), चन्द्रदूत (विमलकीर्ति), घनवृत्त (रामचन्द्र), पदाङ्कदूत (कृष्णसार भौम), पान्थदूत (भोलानाथ घरामर), पद्मदूत (सिद्धनाथ विप्र), रथाङ्गदूत, भ्रमरगीत आदि काव्यग्रंथों के महत्त्व को समाप्त कर देना होगा। जब व्यक्ति का कोई मनुष्य साथी निकट नहीं होता तब वह प्रकृति को ही अपना साथी बना लेता है, और प्रकृति उसका पूर्ण साथ निभाती है। घनानन्द का उद्गार देखिए :

ए रे बीर पौन, तेरो सबै और गौन, बीरी
तो सौ और कौन, मनै ढरकौंहीं बानि दे।
जगत के प्रान, ओछे बड़े सौं समान घन-
आनन्द निधान, सुखदान दुखियानि दे॥
जान उजियारे, गुन-मारे अन्त मोही प्यारे
अब ह्वै अमोही बैठे, पीठि पहिचानि दे।
बिरह-बिथाह को मूरि-आंखिन मैं राखौं पूरि,
धूरि तिन पायन की हा हा! नेकु आनि दे॥
—घनानन्द कवित्त, ७०।

इस प्रकार के वर्णन से रस ग्रहण करने के पक्ष में डॉ० नगेन्द्र का कथन है कि "इस प्रकार के चित्रों में कवि की अपनी भावना का आरोप रहता है—प्राकृतिक पदार्थ तो प्रतीक मात्र हैं, मूल भावना तो कवि की है, अतः सहृदय कवि के साथ तादात्म्य कर रस के आस्वादन में समर्थ हो जाता है।……। इस प्रकार की कविता में रस-व्यंजना

सीधी अभिधा-लक्षणा से नहीं होती, वरन् प्रतीकों से होती है, अतः यह रस-व्यंजना सामान्य रस-व्यंजना की अपेक्षा अप्रत्यक्ष और उसी मात्रा में गूढ़ एवं सूक्ष्मतर होती है। परन्तु होती यहां भी रस की ही व्यंजना है—रसाभास की नहीं—अचेतन अथवा अमानव प्रकृति पर मानव भावना के आरोपण से रसानुभूति बाधित या दूषित नहीं होती, प्रायः गूढ़ और अप्रत्यक्ष हो जाती है। इस प्रकार के काव्य में रसाभास नहीं वरन् रस का ही संचार रहता है।"[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विविध प्रकृति-वर्णनों से प्रभावित मान्य रसों के अतिरिक्त एक प्रकृति-रस की स्थापना की है। उन्होंने प्रकृति के प्रत्यक्ष और काव्य-निबद्ध दोनों रूपों के आस्वाद में रस की सत्ता मानी है—(१) जिस समय दूर तक फैले हरे-भरे टीलों के बीच से घूम-घूम कर बहते हुए स्वच्छ नालों, इधर-उधर उभरी हुई बेडौल चट्टानों और रंग-बिरंगे फूलों से गुछी हुई झाड़ियों की रमणीयता में हमारा मन रमा रहता है, उस समय स्वार्थमय जीवन की शुष्कता और विरसता से हमारा मन कितनी दूर रहता है। यह रस-दशा नहीं तो क्या है?······(२) जबकि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावों के आलम्बन हैं, तब इस शंका के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा कि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कौन-सा रस है? (रसमीमांसा, पृ० १४३)।

इस प्रकृति-रस का स्थायी भाव है रति। शुक्ल जी ने इसे साहचर्य्यजन्य मानते हुए भी वासनागत माना है क्योंकि मानव की अपनी आदिम सहचरी प्रकृति से प्रेम अब एक संस्कार बन गया है। प्रकृति-रस में स्पष्टतः ही प्रकृति आलम्बन है, उद्दीपन नहीं है; उसे उद्दीपन मात्र मानने वालों का शुक्ल जी ने विरोध किया है। शुक्ल जी का तर्क स्पष्ट है—काव्य में प्रकृति-वर्णन पढ़कर हम निश्चय ही भावमय आनन्द से विभोर हो जाते हैं—यह भावमय आनन्द ही रस है, अतः प्रकृति-काव्य निश्चय ही रसात्मक होता है। उसके विरुद्ध यह तर्क असंगत है कि 'आश्रय, आलम्बन आदि सम्पूर्ण रस सामग्री प्रकृति-काव्य में नहीं मिलती अथवा प्रकृति के प्रति रतिभाव एकांगी है, आलम्बन की प्रतिक्रिया से वह पुष्ट नहीं हो पाता' क्योंकि केवल आलम्बन-वर्णन भी तो रस-परिपाक के लिए पर्याप्त हो जाता है।

मराठी में विष्णुशास्त्री चिपलूणकर, रा० भि० जोशी, तथा वि० वा० भिडे ने उदात्त रस के रूप में प्रकृति-रस की ही स्थापना की है। चिपलूणकर ने उदात्त रस का शास्त्रीय विवेचन तो नहीं किया, किन्तु कालिदास आदि संस्कृत कवियों ने प्रकृति-काव्य का विश्लेषण करते हुए अनेक स्थलों पर इसका स्वतन्त्र रूप में उल्लेख किया है। रा० भि० जोशी ने उदात्त रस के अन्तर्गत प्रकृति के केवल चित्ताकर्षक वर्णन को ही स्वीकार किया है; किसी प्रसंग अथवा पर्वत, अरण्य इत्यादि स्थलों का, वनश्री का अत्यन्त यथावत् और चित्ताकर्षक वर्णन जहां किया जाता है वहां उदात्त रस होता है। किन्तु वि० वा० भिडे ने 'उदात्त' शब्द के अर्थ का भी निर्वाह करते हुए प्रकृति के भव्य रूपों के वर्णन को ही उदात्त रस के अन्तर्गत ग्रहण किया है। प्रकृति के भव्य दृश्यों

१. देखिए, रस-सिद्धान्त, पृ० ३१३

अर्थात् आकाश, समुद्र, नदी, पर्वत, अरण्य इत्यादि की शान्त स्थिति का वर्णन अथवा पंचमहाभूतों के क्षोभ का वर्णन करने अथवा सुनने के लिए अन्त:करण की जो वृत्ति बनती है, उसे उदात्त रस कहते हैं ।[1]

हम मान्य रसों के अतिरिक्त पृथक् रूप से किसी प्रकृति रस को मानने के तो पक्ष में नहीं हैं पर इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट है ही कि प्रकृति का वर्णन भी रसमय होता है । हमारी सम्मति में कुन्तक का यह कथन कि बहुत से जड़ पदार्थों का मनोहर रूप भी रसोद्दीपन सामर्थ्य के कारण कवियों के वर्णन का विषय रहा है—(व० जी० ३।८) सर्वथा उपयुक्त है । संस्कृत कवियों ने अपने काव्यों में इस बात का समर्थन किया है—

—कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु —कालिदास, मेघदूत, १।५

—दूतं मोहात्पवनमहृदं प्राहिणोदश्रुनेत्रः ।
प्रायो मोहो भवति भविनां बोधशून्यत्वहेतुः ।। —वादिचन्द्र, पवनदूत, १।५

—विश्लेषेण क्षुभितमनसां मेघ-शैल-द्रुमादौ ।
याञ्चादैन्यं भवति किमुत क्वापि संवेदनार्हे ।।
—वेदान्तदेशिक, हंससंदेश, ११।५

(ग) विरोधी-रस का आगमन

आनन्दवर्द्धन, मम्मट, विश्वनाथ एवं जगन्नाथ ने विरोधी रसों से रसाभास होने का उल्लेख तो नहीं किया किन्तु इससे रसापकर्ष होने की चर्चा की है । आनन्द-वर्द्धन ने रसभंग होने का एक कारण विरोधी रसों के विभावादि का ग्रहण माना है ।[2] इसी प्रकार मम्मट एवं विश्वनाथ ने भी प्रतिकूल-विभावादिग्रह अथवा परिपन्थिरसांग-परिग्रह को रसदोषों के अन्तर्गत परिगणित कर प्रकारान्तर से विरोधी रसों के एकत्र वर्णन का विरोध किया है । क्षेमेन्द्र का कथन है कि विरोधी रस को असमय उठा देने से स्थायिभाव की वही अवस्था होती है जो एक बार खड्ड में गिर पड़े हाथी की, वह फिर अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकता ।[3] जगन्नाथ का इस विषय में स्पष्ट मत है कि यदि कवि प्रस्तुत रस का अच्छी तरह परिपाक करने का इच्छुक है तो वह रस-युक्त काव्य में प्रस्तुत रस के विरुद्ध रसाङ्गों का वर्णन न करे । यदि वह विरुद्ध रस के तत्त्वों का वर्णन करेगा तो या तो विरोधी रस प्रस्तुत रस का बाध कर लेगा अथवा सुन्दोपसुन्द-न्याय से दोनों ही नष्ट हो जाएंगे । और इससे किसी भी रस की अनुभूति

---

१. देखिए, रस सिद्धान्त, पृ० २४७

२. (क) ध्वन्यालोक, ३।१७-१८
(ख) काव्यप्रकाश, ७।६१ ।
(ग) साहित्यदर्पण ७।१३ ।

३. विरुद्धवर्णन-उदितेन हि अनौचित्येन स्थायी (कुञ्जर इव श्वभ्र-पतितः) पुनरुत्थातुं न उत्सहते ।—औचित्य-विचार-चर्चा, १७-१८ ।

न हो सकेगी।[1]

रूप गोस्वामी के अनुसार विरोधी रसों का सम्मिलन विरसता (कटुता) को उसी प्रकार उत्पन्न करता है जैसे कि स्वच्छ पानकादि रस में क्षार एवं कड़वे पदार्थों का मिश्रण :

जनयत्येव वैरस्यं रसानां वैरिणा युतिः
सुमृष्टपानकादीनां क्षारतिक्तादिना यथा ।।

—हि० भ० र० सि०, ८।३१।

उनका मत है कि यह रसविरोधिता प्रायः रसाभास के अन्तर्भूत हो जाती है—

प्रायेणेयं रसाभासकक्षायां पर्यवस्यति। —हि० भ० र० सि० ८।३३।

रूप गोस्वामी ने किस रस का कौन-सा रस विरोधी है, इसका अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया है तथा उसके अनेक उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं।[2] अल्लराज ने विरोधी रसों के संयोजन को रस-हानि कहा है।[3]

शारदातनय ने स्पष्टतः विरोधी रसों के संयोजन से रसाभास स्वीकार किया है। उनके अनुसार हास्य से अभिभूत शृंगार शृंगार रस का, हास्य और वीभत्स का सम्मिश्रण हास्य-रस का, वीर तथा भयानक सम्मिलन वीर-रस का, बीभत्स तथा करुण का संश्लेष अद्भुत का, शोक एवं भय से आदिष्ट रौद्र रौद्र-रस का, हास्य तथा शृंगार से खचित करुण-रस का, वीभत्स, अद्भुत तथा शृंगार का सम्मिलन वीभत्स-रस का, वीर तथा रौद्र का संयोग भयानक-रस का एवं इसी प्रकार अनेक विरोधी रसों का सम्मिश्रण अनौचित्यपूर्ण होने के कारण उन रसों का रसाभास होता है।[4]

इधर हिन्दी के आचार्यों में आचार्य केशवदेव, उजियारे कवि एवं जगतसिंह ने इसी मान्यता की चर्चा की है। आचार्य केशव के अनुसार करुण और हास्य का बीभत्स और शृंगार का तथा वीर और भयानक-रसों का (परस्पर वर्णन) नित्य विरोध समझना चाहिए :

केशव करुना हास्य कहि, अरु बीभत्स सिंगार।
बरणो बीर भयानक हि, संतत बैर विचार।

—रसिक-प्रिया, १६।१२।

---

१. तत्र कविना प्रकृतरसं परिपोष्टुकामेन तदभिव्यञ्जके काव्ये तद्विरुद्धरसाङ्गानां निबन्धनं न कार्यम्। तथाहि सति तदभिव्यक्तौ विरुद्धः प्रकृतं बाधेत। सुन्दोपसुन्द-न्यायेन वोभयोरुपहतिः स्यात्। —रसगंगाधर, प्रथम आनन।

२. देखिए हि० भ० र० सि० ८।१-३०।

३. एकत्र वैरिणो सम्यग्रसहानेश्चकारणम्।
प्रतिपाद्यो यस्तु रसस्तमेव परिपोषयेत् ।।
न तु वैरिरसं ब्रूयाद् वैरिणां नानुभावकम्।
न विभावं न संचारिभावं नैव कदाचन ।। —रसरत्नप्रदीपिका, पृ० ३६।

४. भावप्रकाशन, पृ० १३३।

देव ने केशव-वर्णित विरोधी रसों को स्वीकार करते हुए अद्भुत और रौद्र का भी विरोध निर्दिष्ट किया है :

रिपु बिभत्स सिंगार को, अरु भय रिपु रस-वीर।
अद्भुत रिपु रौद्रहि कहत, करुन हास्य रिपु धीर ।।

—शब्दरसायन (अथ शत्रु रस)

उजियारे कवि ने भी इसी प्रसंग का प्रतिपादन सुदृढ़ शब्दों में किया है। इनका कथन है कि इनके विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों का भी एक दूसरे में वर्णन न करें :

—रस सिंगार बीभत्सु अरु वीर भयानक जानि।
रौद्र और अद्भुत तथा हास करुन पहिचानि ।।
—इनि विरोध है परसपर सह विभाव अनुभाव।
अरु संचारी भाव इनि वरजि कहैं कवि राव ।।

—जुगल-प्रकाश, ३२-३३।

उनके अनुसार ये विरोधी रस एक समय एवं एक ही स्थान पर वर्णित नहीं किए जाने चाहिए। जिस प्रकार वृक्ष की शाखा पर वानर को बिठा दिया जाता है उसका वही संयोग है अन्यत्र नहीं, और जिस प्रकार भूतल पर प्रातः और दुपहर का एक साथ वर्णन नहीं किया जाता, उसी प्रकार रसों का भी स्थान और समय का विचार करके वर्णन करना चाहिए :

—एक देस इक समय मह लषि विरोध पहिचांनि।
समय देस के भेद मनि नहि विरोध उर आंनि ।।
—जैसे तरु की डार पर वानर बैठो आइ।
तासह तँहँ संजोग है अनत विनत्यौं इत आइ ।।
—जैसे भूतल कैं विषैं धरौ भोर घट होइ।
दुपहर तहाँ न देषियै वैसैई इत जोइ ।।

—जुगल-प्रकाश, ३४-३६।

अन्त में उनका स्पष्ट अभिमत है—

निर्त गीत अरु कवित मह सब प्रवीन कवि लोइ।
भूलि न कबहूं वरनियौ रस विरोध जग जोइ ।।

—जुगल-प्रकाश, ५२।

जगत सिंह का कथन है कि जहां बीभत्स और शृंगार का (परस्पर एक साथ) वर्णन किया जाए उसे कवि लोग रस-विरोध कहते हैं। इनसे इसी प्रकार का दोष उत्पन्न होता है जिस प्रकार सिन्दूर से भरी लाल मांग को रक्त से भरा हुआ दिखला दिया हो। अतः परस्पर विरोधी रसों का वर्णन त्याग देना चाहिए।

—जहां विभत्स सिंगार म बरनो जाइ।
रस विरोध तासो कहि कवि समुदाइ ।।
—अरुन मांग पटिया कहि जानो सोइ।
रक्त भरी पद सो कहि दूषन होइ ।।

—कहै परसपर जै रस वैर विचार।
मिले होत दूषन तहँ तजत उदार॥
—साहित्य-सुधानिधि, १५।१५६॥

× × ×

अब कुछ उदाहरण देखिए। रूप गोस्वामी ने शृंगार एवं वत्सल रसों के संयोजन का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है—

चिरं जीवेति संयुज्य का विदाशीर्भिरच्युते।
कैलासस्था विलासेन कामुकी परिषस्वजे॥
—हि० भ० र० सि० ८।३१ (श्लोक)

किसी कैलास स्थित कामिनी ने बहुत दिन तक जिओ, इस प्रकार आशीर्वाद देकर अच्युत का विलासपूर्वक आलिंगन कर लिया। स्पष्टतः यहाँ शृंगार का वत्सल से योग है।

अन्य विरोधी रसों के संयोग की अपेक्षा रूप गोस्वामी के मत में वत्सल में शृंगार की गन्ध भी वैरस्य की जनक है—

शुचेः सम्बन्धगन्धोऽपि कथं चिद्यदि वत्सले।
क्वचिद्भवेत्ततः सुष्ठु वैरस्यायैव कल्पते॥
—हि० भ० र० सि० ८।३२।

कारण स्पष्ट है कि वत्सल का आलम्बन पुत्र तथा शृंगार का आलम्बन पति होता है। एक ही व्यक्ति में पुत्रत्व एवं पतित्व इन दो विरुद्ध धर्मों का समावेश होने से सहृदय के लिए सर्वथा अग्राह्य है। पुत्र अथवा पुत्री के साथ रति-सम्बन्ध की कल्पना न केवल शास्त्र-विरोधी है वरन् मनुष्य का मनोविज्ञान भी इसका पक्ष नहीं लेता। मनुष्य का अन्तरात्मा इस प्रकार के सम्बन्धों को देखकर तिलमिला उठता है। अल्लराज ने शृंगार एवं बीभत्स के संयोजन का निम्नोक्त उदाहरण दिया है—

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवतेशवसतिं जगाम सा॥

दुःसह राम रूपी कामदेव के बाण से मारी हुई सुगन्धित रुधिर और चन्दन से लिप्त वह राक्षसी यमपुरी को पहुँच गई। अल्लराज के अनुसार यहां शृंगार और बीभत्स का परस्पर वर्णन रसहानि ही करते हैं '—अत्र शृंगारबीभत्सरसौ मिथो वैरिणौ एकत्र प्रतिपादितौ रसहानिमेव कुरुतः, (रसरत्न प्रदीपिका, पृ० ३६)।

यह ताड़का की मृत्यु का प्रसंग है। ताड़का का नाम सुनते ही भारतीय पाठक के सम्मुख एक भयावह एवं घृणास्पद चित्र आ उपस्थित होता है। उसकी मृत्यु का समाचार तो और भी जुगुप्सा-जनक है। उसके रक्त के वर्णन मात्र से पाठक एक विचित्र प्रकार की दुर्गन्ध का-सा अनुभव करने लगता है। ऐसी स्थिति में उसके रक्त को सुगन्धित कहना, उसके शरीर से निकल रही भयंकर दुर्गन्ध को चन्दन बतलाना तथा उसकी मृत्यु का कारण राम रूपी कामदेव का बाण समझना पाठक की समझ से बाहर होगा। इस चित्र में बीभत्स पर शृंगार को थोप कर मानो कवि ने गन्दगी के ढेर को

किसी झीने रेशमी वस्त्र से ढकने का प्रयत्न किया हो। निःसन्देह यहां सुन्दोपसुन्द न्याय से दोनों रसों ही का चमत्कार विलुप्त हो गया है।

इस प्रसंग में रूपगोस्वामी का यह मत आलोच्य है—राधाकृष्ण के उज्ज्वल रस में तथा अवर्णनीय महाशक्ति युक्त महापुरुष (श्रीकृष्ण) आदि में अनेक रसों का समावेश आस्वाद जनक होता है—

—अधिरूढे महाभावे विरुद्धैर्विरसा युतिः।
न स्यादित्युज्ज्वले राधाकृष्णयोर्दर्शितं पुरा॥
—क्वाप्यचिन्त्यमहाशक्तौ महापुरुषशेखरे।
रसावलिसमावेशः स्वादायैवोपजायते॥

—हि० भ० र० सि० ८।४१,४२।

इस प्रसंग के उन्होंने दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं :

(१) उज्ज्वल रस में विरोधी भावों का उदाहरण उन्होंने ललितमाधव से दिया है :

दैत्याचार्यास्तदाऽऽस्ये विकृतिमरुणतां मल्लवर्याः सखायो-
गण्डौन्नत्यं खलेशाः प्रलयमृषिगणा ध्यानमुष्णास्रमम्बाः।
रोमाञ्चं सांयुगीनाः कमपि नवचमत्कारमन्तः सुरेशा—
लास्यं दासाः कटाक्षं ययुरसितदृशः प्रेक्ष्य रङ्गे मुकुन्दम्॥

—हि० भ० र० सि० ८।४२ (श्लोक)

अर्थात् रंगभूमि में मुकुन्द को देखकर कंस के आचार्य मुख में विकार को, मल्लवर लालिमा को, मित्र गण्डस्थल की उन्नति को, दुष्ट लोग प्रलय को, ऋषि लोग ध्यान को, माता गरम-गरम आंसुओं को, योद्धा रोमाञ्च को, देवेश्वर अन्तः (मन में) किसी नवीन चमत्कार को, दास लास्य को, और वनिता कटाक्ष को प्राप्त हुई। अर्थात् श्री कृष्ण को देखकर दैत्याचार्यों ने (कुबलयापीड के मद, रक्त आदि से युक्त होने से) बीभत्स का, मल्लों ने रौद्र का, सखाओं ने हास्य एवं प्रेम का, दुष्टों ने भय का, ऋषियों ने शान्त का, माता देवकी आदि ने वत्सल तथा करुण का, योद्धाओं ने वीर का, दासों ने दास्य का तथा स्त्रियों ने माधुर्य (शृंगार) का अनुभव किया।

(२) आश्रय में विभिन्न-रसों के सम्मिश्रण का उन्होंने निम्नोक्त उदाहरण दिया है :

स्वस्मिन् धुर्य्येऽप्यमानी शिशुषु गिरिधृतावुद्यतेषु स्मितास्य-
स्थूत्कारी दध्नि विस्रे प्रणयिषु विवृतप्रौढिरिन्द्रेऽरुणाक्षः।
गोष्ठे साश्रुर्विदूने गुरुषु हरिमखं प्रास्य कम्प्रः स पाया-
दासारे स्फारदृष्टिर्युवतिषु पुलकी बिभ्रदद्रिं बिभूर्वः॥

—हि० भ० र० सि० ८।४२ (श्लोक)

धुरन्धर भी अपने विषय में अहंकार रहित, पहाड़ के उठाने में उद्यत बालकों के विषय में स्मितयुक्त, दुर्गन्धित दही के विषय में (दही को देखकर) थूकने वाला, प्रेमियों के प्रेम में प्रौढ़ियुत, इन्द्र के विषय में लाल नेत्र वाला, गोष्ठ के विषय में आंसुओं से

युक्त, इन्द्र के यज्ञ का भंग कर गुरुओं के विषय में कम्प युक्त, वर्षा के विषय में नेत्रों को फैलाने वाला, युवतियों के विषय में रोमाञ्च युक्त, पर्वत (गोवर्धन) को धारण करता हुआ वह विभु तुम्हारी रक्षा करे। यह वर्णन गोवर्धन पर्वत के धारण के समय का है। यहां श्रीकृष्ण को अपने विषय में शान्त-रस का, शिशुओं को देखकर हास्य-रस का, दुर्गन्धित दही को देखकर बीभत्स का, मित्रों को देखकर सख्य का, इन्द्र को देखकर रौद्र का, गोष्ठ को देखकर करुण का, गुरुओं को देखकर भयानक का, वर्षा को देखकर अद्भुत का, स्त्रियों को देखकर मधुर (शृंगार) का अनुभव हो रहा है।

हमारी सम्मति में उपर्युक्त दोनों उदाहरण रस के न होकर भाव के हैं। सहृदय इस प्रकार के दृश्यों को देखकर प्रसंग में लीन तो हो जाएगा पर कृष्ण के प्रत्येक रूप के साथ पृथक्-पृथक् साधारणीकरण कर प्रत्येक रस का आस्वाद करने में असमर्थ रहेगा। इस प्रकार के भावों का वर्णन कृष्णादि के ही अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति को विषय बनाकर भी किया जा सकता है। विदेश से लौटे व्यक्ति को देखकर उसकी मां, पत्नी, पुत्र, मित्र, शत्रु आदि के प्रति उभरे पृथक्-पृथक् ही भाव होंगे।

केशव ने शृंगार रस के अन्तर्गत सभी रसों का समावेश करके दिखलाया है। इससे केशव ने एक ओर रूपगोस्वामी आदि भक्त आचार्यों का अनुमोदन करके राधा-कृष्ण के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है और दूसरी ओर सम्भवतः इससे इन्होंने शृंगार रस को रसराज सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उजियारे ने तो स्पष्ट घोषणा की है—

> दंपति के संजोग मैं हैं लग्यौ नव सरसाइ।
> तिहि तैं निकसौ रुधिर सौ कुंकुम सौ अधिकाइ॥ —जुगलप्रकाश ३७।

अर्थात् दम्पती के परस्पर प्रेम-वर्णन में नवों रस सरस होते हैं। वहां रुधिर और कुंकुम का एकत्र वर्णन किया जा सकता है। किन्तु केशव द्वारा प्रस्तुत उदाहरण विरोधी रसों के संयोजन की दृष्टि से सफल नहीं कहे जा सकते। अधिकांश उदाहरण शृंगार के हैं। शेष रसों की अनुभूति उनसे नहीं होती। कई तो अशास्त्रीय एवं उपहासास्पद ही बन गये हैं। उदाहरण के लिये उन द्वारा प्रस्तुत बीभत्स एवं शृंगार का उदाहरण देखिए :

> टूटे टाटि घुन-घुने घूम-घूम सेन सने,
> झींगुर झगोड़ी साँप बीछिन की घात जू।
> कंटक कलित त्रिन बलित विगंध जल,
> तिनके तल पत लता को ललचात जू।
> कुलटा कुचील गात अघ तम अघरात,
> कहि न सकत बात अति अकुलात जू।
> छेड़ी में घुसे कि घर ईंधन के घनश्याम,
> घर-घर घरनीनि जात न घिनात जू।
> —रसिक-प्रिया, १४।३१।

नायिका नायक से कहती है कि जहाँ पर टूटी हुई छान में सैंकड़ों घुन लगे हुए हैं, धुएं का गुब्बार भरा हुआ है, झींगुर, मकड़ी, सांप तथा बिच्छू निवास करते हैं, जो कांटों से भरी तथा घास-फूस से भरी तथा दुर्गन्धयुक्त है उस शय्या को तुम ललचाते हो। जो गंदे शरीर वाली काली-कलूटी स्त्रियां हैं उनके लिए आधी रात में व्याकुल होते हो। हे घनश्याम! छेड़ि (छोटी गली) और ईंधन के घर (लकड़ियों के रखने की कोठरी) में घुसते हुए तुम घिनाते नहीं। इसमें रीतिकाल के गर्हित जीवन की झांकी है। बीभत्सपूर्ण छेड़ी (संकरी गली) में राधा के मिलनेच्छुक कृष्ण के इस प्रसंग को केशव ने शृंगार रस की पृष्ठभूमि में, बीभत्स रस के उदाहरणस्वरूप उपस्थित किया है। पाठक इस जुगुप्सा-जनक वातावरण में कृष्ण को वासना के पंकिल में डूबा हुआ देखकर निरर्थक हँसी ही प्रकट कर पाता है। इसी प्रकार एक और उदाहरण देखिए :

> माता ही को मांस तोहि लागतु है मीठो मुख,
> पियत पिता को लोहू नेक न अघाति है।
> भैयन के कंठनि को काटत न कसकति,
> तेरो हियो कैसे है जु कहत सिहाति है।
> जब-जब होत भेंट मेरी मटू तब-तब,
> ऐसी सोहैं दिन उठि खाति न अघाति है।
> प्रेतिनी पिशाचिनी निशाचरी की जाति है तू,
> केशोदास की सों कहु तेरी कौन जाति है ॥३०॥
>
> —रसिक-प्रिया, १४।३०।

(सखी नायिका राधा जी से कहती है कि) तुम्हें माता ही का मांस मुख को मधुर लगता है (क्योंकि तुम 'माता का मांस खाऊं' शपथ किया करती हो) और तुम पिता का खून पीते अघाती नहीं (क्योंकि 'पिता का खून पिऊँ' भी कहा करती हो)। इसी तरह भाइयों का गला काटते तुम्हारे हृदय में तनिक भी कसक नहीं होती। (कारण भाइयों का गला काटूं' भी तुम शपथ खाते कहती हो), मुझसे तुम्हारी भेंट जब-जब होती है तब-तब तुम ऐसी ही झूठी-झूठी सौगंधें खाते हुए नहीं अघातीं। इससे मुझे ज्ञात होता है तुम प्रेतिनी, पिशाचनी या निशाचरी की पुत्री हो। तुम्हें श्रीकृष्ण की शपथ, तुम्हीं बतलाओ, तुम कौन जाति हो? हमारी सम्मति में यह उदाहरण न बीभत्स रस का है और न इससे शृंगार की ही अनुभूति होती है। इसी प्रकार शान्त एवं शृंगार का उदाहरण देखिए—

> खारिक खात न दारौ उदाखन,
> माखन हूँ सह मेटि इठाई।
> केसव ऊख मयूखहि दूखत,
> आइहौं तो पहं छांड़ि जिठाई।
> तो रद नच्छद को रस रंचक,
> चखि गये करिके हूँ ढिठाई।

ता दिन ते उन राखी उठाय,
समेत सुधा वसुधा की मिठाई।
—रसिक-प्रिया, १४।३८।

जिस दिन से वह तेरे ओठों का धृष्टतापूर्वक थोड़ा-सा रस चख गये हैं, उस दिन से उन्होंने सुधा-सहित वसुधा (पृथ्वी) भर की मिठाई को उठाकर रख दिया है। उस दिन से न तो छुहारा खाते हैं और न मक्खन अथवा दाख ही। अनार की मित्रता भी उन्होंने छोड़ दी है अर्थात् अनार भी उन्हें अच्छा नहीं लगता। वह ऊख और मयूख (शहद) की भी निन्दा करते हैं। यह बात मैं तुमसे अपने जेठेपन का ध्यान छोड़कर, कहने आई हूं। इससे कृष्ण की किसी विराग भावना का आस्वाद पाठक को नहीं होता। अतः इसे शान्त एवं शृंगार का उदाहरण कहना उपयुक्त नहीं।

देव ने भी विरोधी रसों के विरोध को मिटाने का प्रयत्न किया है, पर वे भी पूर्णतः सफल नहीं हो सके। उनके द्वारा प्रस्तुत हास्य और करुण का उदाहरण देखिए जो कि वीर रस का उदाहरण बन गया है—

आये सुने मथुरा जदुबीर, भई सुनि भीर मरै जग जोवै,
गंजि महागज मल्लनि भंजि, सबै मनरंजि अभै बल खोवै।
कंस नृसंस इतै पै बकै सबके, जिय जानि, मसान मैं सोवै;
काल को भोजन जानि परो जने, भोजन-रिंद हँसै अरु रोवै।
शब्दरसायन, (हास्य-करुण)

उजियारे कवि ने शृंगार एवं शान्त के परस्पर विरोध का जो उदाहरण प्रस्तुत कियाहै, वह भी द्रष्टव्य है—

को तू कहां हू कहां यह दूती भलौ तिहि आंनि कैं जोग सुजोरौ।
मेह की छाह लौं प्रेंम जहां तहां नैम कहां बहुतैं कहु थोरौ॥
ए उजिआरे कहां लौं कहैं यह जांनि लै री जगजीवन थोरौ।
मांनि री मांनि अजांति अजौं मुगधे उठि आंनि कह्यौ करि मोरौ॥
— जुगल-प्रकाश, ५३।

उजियारे कवि के अनुसार इस उदाहरण में निर्वेद के सभी वचन शृङ्गार के विरुद्ध हैं। इसी प्रकार चित्त के रति और शम, राग एवं विराग अवस्थाओं के भाव हैं। इन दोनों भावों का सहभाव जल (शीतलता) और अग्नि (उष्णता) इन दो विरोधी तत्त्वों के मिलन के तुल्य है। जिनके मिलने से दोनों के अपने-अपने गुण लुप्त हो जाते हैं। परिणामतः पाठक इस प्रकार के दृश्यों से किसी भी रस का आस्वाद प्राप्त नहीं कर पाता। अतः उनका सभी कवियों को परामर्श है कि इस प्रकार के विरोध-सम्पादन को अनुचित समझ कर, इसका वर्णन न करें—

इहां सवै निरवेद के वचन सिंगार विरुद्ध।
सो अनुचित चित्त जांनि करि मति वरनौं मति सुद्ध॥
—जुगल-प्रकाश, ५४।

कारण यह है कि जितने विरोधी भाव हैं वे चित्त में विपरीत स्थिति उत्पन्न

करते हैं। उत्साह में चित्त उछलता है और भय में सिकुड़ता है। हास में इसका विस्तार होता है और शोक में संकोच। अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन परस्पर विरोधी भावों का एकत्र चित्रण अनुकूल परिणाम उत्पन्न करने में असमर्थ रहता है।

× × ×

रसों के इस विरोध के दो प्रकार हैं : एकाधिकरण और नैरन्तर्य।

एकाधिकरण्यविरोधी नैरन्तर्यविरोधी चेति द्विविधो विरोधी।

—ध्वन्या० ३।२५ (वृत्ति)।

(१) एकाधिकरण के अन्तर्गत दोनों बातें आ जाती हैं—(क) किन्हीं का विरोध आलम्बन-ऐक्य से होता है। जैसे शृङ्गार और वीर रस का आलम्बनैक्य से विरोध है। उस एक ही आलम्बन विभाव से शृङ्गार और वीर दोनों का परिपोष नहीं हो सकता। इसी प्रकार हास्य, रौद्र और बीभत्स के साथ सम्भोग शृङ्गार का तथा वीर, करुण-रौद्रादि के साथ विप्रलम्भ-शृङ्गार का आलम्बनैक्येन विरोध है। (ख) किन्हीं का विरोध आश्रय-ऐक्य से होता है। जैसे वीर और भयानक-रसों का आश्रय-ऐक्य से विरोध है। एक ही आश्रय में एक साथ वीर और भयानक के स्थयिभाव भय और उत्साह उद्भूत नहीं हो सकते। (२) नैरन्तर्य विरोध (एक के पश्चात् दूसरे का तुरन्त वर्णन करना) शान्त और शृंगार रस का नैरन्तर्य विरोध है। अर्थात् शृंगार से अव्यवहित शांत रस का वर्णन दोषजनक है।

संस्कृत काव्यचार्यों ने विरोधी रसों का उल्लेख कर उनका विरोध परिहार का उल्लेख भी किया है।

आनन्दवर्धन का कथन है—

विवेक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ॥ —ध्वन्या० ३।२०

अभीष्ट रस का परिपाक हो जाने पर (१) बाध्य रूप से और (२) अंग रूप से विरोधी रसों के वर्णन से रसभंग नहीं होता।

(१) बाध्यरूपता से अभिप्राय यह है कि विवक्षित रस के अंगों का वर्णन इतना प्रबल हो कि विरोधी रस के अंगों का प्रभाव बाधित हो जाए—ऐसी स्थिति में विरोधी रस प्रकृत रस का अपकर्ष न कर उसके उत्कर्ष में ही सहायक बन जाएगा। उदाहरण के लिए कादम्बरी में महाश्वेता के प्रति पुण्डरीक की अत्यन्त आसक्ति हो जाने पर दूसरे मुनिकुमार के उपदेश-वर्णन में प्रदर्शित शान्त-रस के अंग मुख्य रस शृंगार के अंगों से बाधित हो जाते हैं और अन्त में रति स्थिर रहती है। इसलिए 'बाध्यत्वेन' उनका प्रतिपादन दोष नहीं है। मम्मट का भी इस विषय में यही मत है—'सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा' (काव्यप्रकाश, ७।६३) अर्थात् (प्रकृत रस के) विपरीत संचारिभाव (अनुभाव तथा विभाव) आदि का बाध्यत्वेन कथन करना (दोष नहीं अपितु) गुणधायक होता है। इस सम्बन्ध में रूपगोस्वामी का भी यही मत है, 'द्वयोरेकतरस्येह बाध्यत्वेनोपवर्णने (हि० भ० र० सि० ८।३४) उन्होंने इसका उदाहरण विदग्धमाधव से दिया है :

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन्मनो धित्सते।
बालाऽसौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः॥
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते।
मुग्धेयं किल तस्य पश्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥

हि० भ० र० सि० ८।३५ (श्लोक)।

मुनि मन को विषयों से हटाकर जिसमें लगाना चाहता है, यह बाला (अपने) मन को उससे हटाकर विषयों में लगाना चाहती है। हन्त! (बड़े आश्चर्य की बात है कि) योगी हृदय में जिसके स्फूर्तिलव (चमक) के लिए उत्सुक है, देखो यह मुग्धा अपने हृदय से उसको निकालना चाहती है। यद्यपि यहां शान्त एवं शृंगार दोनों का ही वर्णन हुआ है, तथापि सहृदय मुग्धा के भाव के साथ ही साधारणीकरण करता है:

यहां आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा प्रस्तुत शान्त एवं शृंगार के दो उद्धरण उद्धरणीय हैं, उनमें से प्रथम में उन्होंने अनौचित्य स्वीकार किया है:

गन्तव्यं यदि नाम निश्चितमहो गन्तासिकेयं त्वरा,
द्वित्राण्येव पदानि तिष्ठतु भवान्पश्यामि यावन्मुखम्।
संसारे घटिकाप्रणालविगलद्वारासमे जीविते,
को जानाति पुनस्त्वया सह मम स्याद्वा न वा संगमः॥ —अमरुक।

यदि जाना निश्चित ही है, तो चले जाना, शीघ्रता क्या है। दो-तीन कदम चलकर खड़े हो जाइये, जब तक मैं तुम्हारा मुंह देखती हूं। यह जीवन घटी के छेद में से बहते हुए पानी के समान है। कौन जानता है, बाद में मेरा-तुम्हारा संगम हो या न हो। इसमें प्रकृत रस शृंगार है। 'जब तक मैं मुंह देखती हूं,' वाक्य की उत्कण्ठा से उसी की परिपुष्टि भी की गई है। उसका विरोधी शान्त-भाव यहां अंग है। पर संसार की अनित्यता के वर्णन से जो वैराग्य प्रतीत होता है, उससे रतिभाव तिरस्कृत हो जाता है और उससे बड़ा अनौचित्य आ जाता है।[1] संसार की असारता एवं अचारुता के श्रवण से कठोरचित्त लोगों का भी उत्साह भंग और उदासीन हो जाते हैं। पुष्प के समान कोमल चित्त वाले विलासियों का तो फिर कहना ही क्या। अन्त में शान्त-रस का परिपोष दिखाकर यहां और भी वैरस्य उत्पन्न हो गया है। इसके विपरीत द्वितीय उद्धरण में शान्तरस परिपुष्ट नहीं हो सका, वह शृंगार से बाधित हो गया है।

माणं मुचंध देहवल्लहजणे दिट्ठिं तरंगुत्तरं।
तारुण्यं दिअहाइं पञ्च दह वा पीणत्थणत्थं मणं।
इत्थं कोइलिमंजुसि जिणामिसाद् देवस्स पंचेसुणो।
दिण्णा चित्तमहूसवेण सहसा आणब्ब सव्वंकसा॥ —राजशेखर

अर्थात् मान छोड़ो। अपने प्रिय पर कटाक्षपूर्ण दृष्टि डालो। पीन-स्तनों का स्तम्भन-कारी यौवन पांच या छः दिन ही है। कोयल के इस मंजुल स्वर के बहाने से चैत्र

---

१. **अनौचित्य-रजसा स्पृष्टो रस-संयोगः न कस्यचिद् अभिमत इत्यर्थः।**

— औ० वि० च०।

महोत्सव ने कामदेव की प्रबल आज्ञा मानो दे डाली है। इसमें मुख्य रस शृंगार है। वही प्रारम्भ से अन्त तक व्याप्त है। पर 'यौवन पांच-छः दिन ही है'—इस वाक्य से अनित्यता रूप शान्त रस की बूंदें उसके मध्य में गिर गई हैं। फिर भी वह नीरस नहीं बना क्योंकि विरुद्ध रस का परिपोष नहीं हुआ है। विरुद्ध भाव के वर्णन के अनौचित्य से तो गड्ढे में गिरे हाथी की भांति प्रधान भाव फिर उठ नहीं सकता।

इस प्रसंग में केशव द्वारा प्रस्तुत शृंगार एवं करुण का उदाहरण द्रष्टव्य है :

तेज सूर से अपार चन्द्रमा से सकुमार,
शम्भु से उदार अति उर धरियत है।
इन्द्र जू से प्रभु पूरे, राम जू से रण शूरे,
काम जू से रूप रूरे हिय हरियत है।
सागर से धीर गणपति से चतुर अति,
ऐसे अविवेकी कैसे दिन भरियत है।
नन्द मति मन्द महा पशुपासों कहौं कहा,
ऐसे पूत पाई, पशुपाल करियत है॥

—रसिक-प्रिया, १४।१८।

अर्थात् जो सूर्य से भी बढ़कर तेजस्वी, चन्द्रमा से सकुमार तथा श्री शङ्कर से भी बढ़कर उदार माने जाते हैं; जो इन्द्र से सामर्थ्यवान, श्री० राम जैसे सुन्दर स्वरूपवान् तथा हृदय को हरने वाले हैं; जो समुद्र के समान धीर, श्री गणेश जैसे चतुर हैं, उनके दिन ऐसे अविवेकियों में कैसे बीतते हैं और मन्द बुद्धि नन्द तथा यशोदा से क्या कहूं, जिन्होंने ऐसा पुत्र पाकर उसे पशुपाल बना रखा है। इसी प्रकार उन्हीं द्वारा प्रस्तुत दूसरा उदाहरण देखिए—

चंपे कैसी कली अली केशव सुवास भली,
रूप कैसी मन्जरी मधुप मन भाइये।
देव कैसी वानी अति बानी ते सयानी,
देवराज कैसी रानी जानी जग सुखराइये।
काम की कला सी चपला सी काम,
अविलासी कमलासी धरे देह पूरे पुन्य पाइये।
कौन कीने निपट कुजाति जाति ग्वार,
ऐसी राधिका कुंवरि पर गोरस बिचाइये॥

—रसिक-प्रिया, १४।१९।

अर्थात् जो चम्पक फूल की कली जैसी सुगन्ध से भरी हुई और सौंदर्य की मञ्जरी है तथा मधुप प्रेमियों के मन को अच्छी लगती है, जिसकी वाणी देववाणी जैसी है है और देवराज (इन्द्र) की रानी जैसी है और जगत को सुख देने वाली है; जो कामदेव की कला के समान, चपला जैसी, तथा देह धारण करके लक्ष्मी का अवतार जैसी है तथा जो बड़े पुण्य से मिलती है; ऐसी राधिका कुंवरि से गोरस बिकवाने वाले इन बिल्कुल गंवार ग्वालों को किसने बसाया है?

करुण रस का स्वरूप 'इष्ट नाश' स्वीकार करने वालों को तो इस उदाहरण में शोक की प्रतीति न हो सकेगी किन्तु केशव तो 'प्रिय के विप्रिय करण ते, आन करुण रस होत, (रसिक-प्रिया, पृ० १४।१७।) कहकर प्रिया के वियोग से ही करुण रस की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। यद्यपि कवियों ने कृष्ण को 'पशुपाल' ही कहा है तथा राधा से 'गोरस' ही बिकवाया है, और इनके ये चित्र ही पाठकों को प्रिय लगे हैं, किन्तु यदि कृष्ण एवं राधा से किन्हीं अत्यन्त सुकुमार नागरिक किशोर-किशोरी का अर्थ ग्रहण कर लिया जाय तो उनका यह वर्णन शोक की अनुभूति का कारण हो सकता है। परस्पर प्रेम में आबद्ध सुकुमार किशोर-किशोरी अपनी प्रेमचर्या छोड़कर एक दूसरे से पृथक् होकर जंगल में पशु चराएं अथवा घूम-घूमकर गोरस बेचें, यह किसी सहृदय को स्वीकार्य नहीं होगा। यहां द्रष्टव्य यह है कि शोक अन्ततः शृंगार से बाधित हो गया है। कृष्ण और राधा के इन कठोर कर्मों से राधा एवं कृष्ण के चित्त में उत्पन्न शोक इस बात का प्रमाण है कि उनमें परस्पर अत्यधिक प्रेम है। सहृदय अन्ततः उनकी इसी प्रेमभावना का ही आस्वाद करता है।

इसी प्रकार उन द्वारा प्रस्तुत शृंगार एवं भयानक का उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

रिस में विरस बोल, विष ते सरस होत,
जाने सो प्रबल पित्त दाखै जिन चाखी है।
केशोदास दुख दीबे लाइकरब भये तुम,
आज लहुं जी में जाकी आँखें अभिलाषी हैं।
सूधे हो सुधारिबे को आये सिखवन मोंहि,
सूधे हू में सूधी बातें मोसों उन भाखी हैं।
ऐसे में हौं कैसे जाऊँ दूरिहू धों देखी जाय,
काम की कमान सी चढ़ाइ भौंह राखी हैं।
—रसिकप्रिया, १४।२८॥

क्रोध में अप्रिय बातें विष से भी बढ़कर तीखी लगती हैं। जिसने दाखों को चखा हो वही पित्त की प्रबलता को जान सकता है। आज तुम उसे दुःख देने योग्य तो बने, जिसके नेत्रों की चाह तुम्हारे मन में आज तक है। तुम बड़े सीधे हो जो मुझे सिखाने के लिए आये हो। उसने मुझसे सीधी दशा में ही सीधी-सीधी बातें कही हैं परन्तु अब (इस क्रोध की दशा में) मैं कैसे जाऊं क्योंकि उसने काम की कमान जैसी भौंहें जो चढ़ा रखी हैं। वे दूर ही से दिखलाई पड़ती हैं। स्पष्ट है कि यद्यपि भवन-दूती अथवा सखी नायिका के पास नायक का सन्देश देने में भय का अनुभव कर रही है, नायिका भय एवं रति दोनों की ही आलम्बन है, तो भी इससे नायक-नायिका की परस्पर रति में कोई अन्तर नहीं आया।

इस प्रसंग में उजियारे कवि ने एक प्रश्न उपस्थित किया है, जो कि वस्तुतः पूर्वपक्ष है, कि जहां मदमाते (परस्पर प्रेम में अनुरक्त) दम्पती में निष्ठीवन (थूकना) का वर्णन होता है क्या वहां शृंगार और बीभत्स में सहज विरोध ही है :

मदमाते दम्पति जहां निष्ठीवन जुत जोई ।
क्यौं सिंगार वीभत्स मँहँ सहज विरोध सुहोई ।।

—जुगल प्रकाश, ४४

इसके उत्तर में उजियारे कवि का कथन है कि यद्यपि ग्लानि बीभत्स का स्थायिभाव है तथापि अनेक बार यह तटस्थ (उदासीन) होती है । परस्पर प्रेम में अनुरक्त दम्पती में वर्णित ग्लानि में कोई दोष नहीं होता :

ग्लानि कही वीभत्स कौ थाई भाव वषांनि ।
सो तटस्थ कह होति हैं दम्पति में नहिं जांनि ।।—जुगल प्रकाश, ४५

अनेक बार बीभत्स में शृंगार प्रत्यक्ष दिखलाई देता है, उदाहरणार्थ :

जौऊ मुंडमाल धरैं हिअरैं विशाल व्याल
तजतु न पांनि तैं कपाल वरजोरी है ।
× × ×
तौऊ गिरिराज महाराज की सुता की आंषि
भई रहै संभु मुष चंद की चकोरी है ।
ओरी इहि काम के चरित्र मति भोरी-मोरी
कामिनी के पैंम के विचित्र जुग जोरी है ।।४७।।

जो सिरों की माला को धारण करता है, जो छाती पर अनेक सर्पों को धारण किये है, जो अपने हाथ से कपाल का त्याग नहीं करता, वही शिव गिरी हिमालय की पुत्री पार्वती की आंखों में चांद की चकोरी समान रहता है । स्पष्टत: यहां बीभत्स में शृंगार का प्रत्यक्ष सहभाव है :

प्रगट लषहु वीभत्स मंह है सिंगार सुनि लेउ
उजिआरे कवि कहत हैं अब मुनि उत्तर देउ—जुगलप्रकाश, ४६।

इसी प्रकार का एक अन्य प्रश्न उपस्थित किया गया है—

निजपति के भूषन अधम तिन मह प्रीति संजोई
तिअ कहं निंदा होति तहं-तहं रति कैसै होइ—जुगलप्रकाशन, ४६

अर्थात् अपने पति के अधम आभूषणों के होने पर भी उससे प्रेम करने से लोक में निन्दा विषय है उसे रति स्वीकार कैसे किया जा सकता है ? किसी मैले-कुचैले वस्त्र धारण किए अपने प्रेमी के साथ कोई स्त्री प्रेम में अनुरक्त होकर उसकी निन्दा आरम्भ कर दे तो उससे भी क्या शृंगार की ही अनुभूति होगी ? इसका उत्तर यह है कि प्रेम तो प्रिय के अंगों के सम्बन्ध से उमड़ पड़ता है । स्त्री के चित्त की उसमें अनुरक्ति के वर्णन से शृंगार रस ही होता है । निन्दा का भाव शृंगार में अन्तर्भूत हो जाता है :

पिऊ अंग के सनबंध वस उपजि परन्तु हैं पैम ।
तिअ कैं चित तातैं इहां नित सिंगार कौ नैंम ।।

—जुगलप्रकाश, ४६।

इसी प्रसंग में उन्होंने एक अन्य प्रश्न भी उपस्थित किया है कि युद्धवीर मार्ग में सर्प को देखकर भयभीत हो जाता है, किन्तु उसी सर्प को रुद्र के कण्ठ में

देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता है अर्थात् सर्प भय एवं आश्चर्य दोनों का ही आलम्बन बनता है ?

> जुद्धवीर मँह होति है सर्प भीति मग जोइ ।
> त्यौंही निरषि सुरुद्र मह अचिरजु अद्‌भुत होइ ।। —जुगलप्रकाश, ।५०।

इसका उत्तर उन्होंने यह दिया कि सर्प तो भय का ही आलम्बन है, उसे रुद्र के कण्ठ में देखकर, सांसारिक व्यक्ति को आश्चर्य ही होगा :

> तहँ भुजंग तैं भीति अरु अचिरजु जग तैं जानि ।
> वैरी तैं नहि होति है यातैं नहि रस हानि ।। —जुगल प्रकाश ।५१।

इस प्रकार एक ही आलम्बन भय और आश्चर्य उत्पन्न करके भी रस हानि उत्पन नहीं करता ।

(२) अंगरूपता तीन प्रकार की हो सकती है ।

(क) नैसर्गिक

(ख) समारोपित, और

(ग) प्रधान रस के प्रति दो विरोधी रसों की अंगरूपता ।

(क) नैसर्गिक अंगरूपता वहाँ होती है जहाँ विरोधी रस के अंग—स्थायी और संचारी आदि, मुख्य रस के स्वाभाविक अंग ही होते हैं; जैसे करुण रस के अंगभूत व्याधि आदि भाव विप्रलम्भ के भी सहज अंग रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं । केशव ने शान्त एवं श्रृंगार के वर्णन में नायिका द्वारा सांसारिक वस्तुओं का परित्याग प्रदर्शित करके शान्त रस के संचारी भाव ग्लानि को श्रृंगार का स्वाभाविक अंग बना दिया है, जिससे नायिका का नायक के प्रति प्रेम-भाव और अधिक व्यक्त हो सका है, देखिए :

> देखै नहीं अरविंदनि त्यों चित,
> चन्द की आनन्द कंद निकाई ।
> कामिनि काम कथा करै कान न,
> ताकै त्रिधाम की सुन्दरताई ।
> देखि गई जब ते तुमको,
> तब ते कछु वाहि न देख्यो सुहाई ।
> छोड़ैगी देह जो देखे बिना,
> अहो दे हुन कान्ह कहूं ह्व दिखाई ।
> —रसिक-प्रिया, १४।३७।।

(सखी नायक श्रीकृष्ण से कहती है कि) वह न तो कमलों की ओर देखती है न चन्द्रमा की सुख-मूल शोभा की ओर दृष्टिपात करती है । न वह कामिनी काम-कथा पर ध्यान लगाती है । तीनों लोकों में उसकी सुन्दरता के समान किसी की सुन्दरता नहीं है । वह जब से आपको देख गई है उसे कुछ देखना अच्छा नहीं लगता । इसलिये हे कान्ह (श्रीकृष्ण)! जो वह आपको बिना देखे देह छोड़ देगी तो आप उसे कहीं पर दर्शन क्यों नहीं दे देते ? प्रभु का भक्त भी इसी प्रकार से सांसारिक पदार्थों का परित्याग करके प्रभु का स्मरण करता है तथा उसके दर्शनों की कामना करता है ।

यहां सहृदय नायिका के विराग भाव का भी आस्वाद करता है और अन्ततः कृष्ण के प्रति राग अथवा रति की अनुभूति भी उसे होती है ।

(ख) समारोपित अंगता में विरोधी रस का मुख्य रस के साथ अंगांगि-सम्बन्ध स्वाभाविक न होकर श्लेष, साम्य आदि के द्वारा आरोपित होता है । मम्मट, विश्वनाथ एवं रूपगोस्वामी ने क्रमशः 'साम्येनाथ विवक्षित' (का० प्र० ७।६५) ; 'साम्येन वचनेऽपि वा (सा० द०७।३०) तथा 'साम्येन रचनेऽपि वा, (हि० भ० र० सि० ८।३४) कहकर इसी कारण को प्रस्तुत किया है, अर्थात् साम्य (साम्यमूलक अलंकार) से विवक्षित विरोधी-रस दोष नहीं रहता । रूपगोस्वामी ने इसका निम्नोक्त उदाहरण दिया है :

विश्रान्तषोडशकला निर्विकल्पा निरावृत्तिः ।
सुखात्मा भवती राधे ! ब्रह्मविद्येव राजते ।।

—हि० भ० र० सि० ८।३६। (श्लोक)

हे राधे ! जिसमें सोलह कला विश्रान्त हो रही हैं, विकल्प से रहित एवं आवरण से शून्य तथा सुखात्मा आप ब्रह्मविद्या के समान सुशोभित हो रही हैं । यहां राधा एवं ब्रह्मविद्या में श्लेष के द्वारा समता दिखाई गई है, अतः इसका अलग-अलग अर्थ इस प्रकार है : राधा पक्ष में—विश्रान्त षोडशकला—शृंगारादि सोलह कलाएं जिसमें विश्रान्त हैं (अर्थात् शृंगारादि सोलहों कलाओं की आश्रय भूत), निर्विकल्पों—किसी भी प्रकार के विकल्प से रहित (अर्थात् प्रत्यक्ष देखने से किसी तरह के सन्देह से रहित), निरा-वृत्ति—लतादि के व्यवधान से रहित, सुखात्मा सुख स्वरूपा । यहां लतादि आवरण का न होना ही विकल्प के अभाव में कारण है क्योंकि कोई भी इन्द्रिय अतिदूर्णद बाधाओं के अतिरिक्त स्थल में ही विषय का ग्रहण कर सकता है । ब्रह्मविद्या पक्ष में—(विश्रान्त षोडशकला) जिसमें षोडशकलात्मक लिंग शरीर विश्रान्त हो गया है, (निर्विकल्पा) एवं भेद से रहित, (निरावृत्ति) सत्त्वादि गुणों के आवरण से रहित, सुख स्वरूपा । यहां शान्त एवं शृंगार दोनों का समानता से वर्णन हुआ है । अतः दोनों का ही आस्वाद पाठक के लिए ग्राह्य हैं । इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण देखिए :

राधा शान्तिरिवोन्निन्द्रं निर्निमेषेक्षणं च माम् ।
कुर्वती ध्यानलग्नं च वासयत्यद्रिकन्दरे ।।

—हि० भ० र० सि० ८।३६ (श्लोक)

अर्थात् शान्ति के समान राधा मुझे उन्निन्द्र, अपलक दृष्टि वाला एवं ध्यान में लग्न बनाती हुई, पर्वत की गुफा में रखवा रही है । यहां भी शान्त एवं शुचि (शृंगार) दोनों का समानता से वर्णन किया गया है, दोनों विरोधी रसों का एकत्र समावेश होने पर भी विरोध का अभाव है ।

केशव द्वारा प्रस्तुत रौद्र एवं शृंगार का उदाहरण देखिए :

केहरी की हरी कटि करी मृग मीन फणि,
सुक पिक कंज खंजरीट बन लीनो है ।
× × ×

केसोदास दास भयो कोबिद कुंवर कान्ह,
राधिका कुंवरि क्रोध कोप पर कीनो है।

—रसिक-प्रिया, १४।२१।

यहां सखी की उक्ति द्वारा राधा के निरुपम सौन्दर्य की प्रशंसा की गई है। राधा के अंगों के उपमान भूत प्राणी राधा के क्रोध से भयभीत होकर वन में शरण ले रहे हैं। सखी का अन्त में प्रश्न है—"राधिका कुंवरि क्रोध कौन पर कीनो है" ? अपने अगों के विविध उपमानों के प्रति प्रदर्शित उसके सौन्दर्य को अधिक व्यक्त करता है। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण देखिए :

मीड़ि मार्यो कलह वियोग मार्यो बोरि कै,
मरोरि मार्यो अभिमान मार्यो भय मान्यो है।
× × ×
जीत्यो रति रण मथ्यो मनमथ हू को मन,
केशोदास कौन हूं पै रोष उर आन्यो है॥

—रसिकप्रिया १४।२२।

नायक मन्मथ का मन मथ करके रति-रण में विजय पा लेते हैं। यहां आरोप में ही रौद्र दिखाया गया है और तदनुरूप ही अनुभाव दिखाकर क्रोध की योजना की गई है। यद्यपि आरोप में उपमानांश की प्रधानता रहती है तथापि ये उपमेय-पक्ष के प्रति गौण ही हैं। ये दोनों उदाहरण अधिक सुन्दर नहीं हैं, किन्तु वीर-शृंगार का उदाहरण अधिक उपयुक्त है :

गति गजराज साजि देह की दिपति वाजि,
हाव रथ भाव पति राजि चल चालसों।
लाज साज कुल कानि शोच-पोच भव मानि,
भौंहैं धनु तानि बान लोचन विशाल सों।
केशोदास मंदहास असि कुच भट भिरे,
भेंट भये प्रति भट भाले नख जाल सों।
प्रेम को कवच कसि, साहस सहायक लै,
जीति रतिरण आजु मदन गुपाल सों॥२४॥

सखी राधिका जी से कहती है कि चाल का हाथी, देह दीप्ति का घोड़ा, हावों का रथ, और भावों के सिपाही साथ में लेकर लज्जा, कुलकानि, शोच आदि को भौंहो के धनुष तथा लोचनों के बाणों से भयभीत करके एवं मन्दहास की तलवार, कुचों के योद्धा और नखच्छद की बर्छियां लेकर और प्रेम का कवच कस कर तथा साहस को सहायक बनाकर आज मदन गोपाल से रति-युद्ध में जीतो। इस प्रकार के स्थलों से पाठक के सम्मुख दो चित्र उपस्थित होते हैं—एक हाथी घोड़ा, रथ, सिपाही, धनुष, बाज, तलवार, योद्धा, बर्छियां, कवच आदि से युद्ध का तथा द्वितीय नायिका की चाल, दीप्त देह, हाव, भौंह, लोचन, मन्दहास, कुच, नखच्छद एवं प्रेम का। पाठक इन दोनों ही भावों का आस्वाद प्राप्त करने में सक्षम होता है। किन्तु उपमान रूप में

चित्रित वर्णन कई बार इतना प्रमुख हो जाता है कि उपमेय रूप में वर्णित चित्र को अत्यन्त हलका बना देता है। इस प्रसंग में डॉ० नगेन्द्र का शान्त रसाभास के सम्बन्ध में निम्नोक्त कथन उद्धरणीय है :

"शान्त रसाभास की कल्पना वहाँ अधिक संगत होगी जहाँ शृंगारिक उपकरणों के माध्यम से ज्ञान-वैराग्य आदि का प्रतिपादन रहता है। उदाहरण के लिए, कवि पंत के तद्विषयक एकाध चित्र प्रस्तुत किए जा सकते हैं"[१] :

अकथनीय था सत्य, ज्योति में लिपटा शाश्वत,
अणु से भी लघु देह ज्वलित गिरि शृंग-सी महत् !
दृष्टि रश्मि थी ज्योति पथिक औ' स्वयं ज्योति पथ,
चिर जाज्वल्यमान स्थिर धावित सप्त अश्व-रथ,
किरणों के दूर्वाप्रभ नभ-सी मुक्ति थी अमित,
शुभ्र हंस घेरे थे उसको पंख खोल स्मित !
था आनन्द उदधि अकूल उर में उद्वेलित,
ज्योति चूर्ण झरता अंगों से मुक्त अनावृत !
अर्द्ध विवृत जघनों पर तरुण सत्य के शिर धर
लेटी थी वह दामिनि-सी रुचि गौर कलेवर !
गगन भंग से लहराए मृदु कच अंगों पर,
वक्षोजों के खुले घटों पर लसित सत्य कर !
समाधिस्थ था श्रेय, सत्य आरूढ़ निरन्तर,
धरे अंक में भू को, सुर जल स्रोत शीर्ष पर;
ताप गले में, सुधा शांति मस्तक पर भास्वर,
लिपटा तन से भाव अभाव भूति औ' विषधर !
सदसद् देश काल से पर, त्रिक तपस मूल धर,
देवों का पोषक था वह, दैत्यों का जित्वर;
काम क्रोध मद मत्सर थे उसके पद अनुचर,
वह स्वर्णिम किरणों से मंडित, पाप तमस हर !
इस प्रकार चिर स्वर्ग चेतना हुई प्रतिष्ठित,
जीवन शतदल पर, मन के देवों से भूषित !
जड़ धरणी के ताप शाप दुःख दैन्य अपरिमित,
काकों से पर खोल हुए लय तमस में अचित् !

—स्वर्णकिरण, प्रथम सं०, पृ० ६२-६३

—प्रधान रस के प्रति दो विरोधी रसों की अंगता हो जाने पर भी उनके विरोध का परिहार हो जाता है। मम्मट, एवं विश्वनाथ का कथन है :

—अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम्। —काव्य प्रकाश ७।६५।

—भवेद्-विरोधो नान्योन्यमङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयोः।। —साहित्य दर्पण ७।३१।

१. देखिए : रस सिद्धान्त, पृ० ३१५

इस प्रसंग में रूपगोस्वामी एवं अल्लराज ने निम्नोक्त दृष्टान्त उपस्थित किया है— एक राजा के दो पार्षद परस्पर शत्रु हो सकते हैं, किन्तु राजा के प्रति निष्ठा के संदर्भ में उनका विरोध निरस्त हो जाता है :

—भृत्ययोर्नायकस्येव निसर्गद्वेषिणोरपि ।
अङ्गयोरङ्गिनः पुष्टौ भवेदेकत्र सङ्गतिः ।

—हि० भ० र० सि० ८।३९ ।

—यथा राजसमीपे तिष्ठतोर्द्वयोर्वैरिणोर्विरोधो न प्रवर्तते तथान्यस्यांगभूतयो रसयोः । —रसरत्नप्रदीपिका, पृ० ३९ ।

जल और अग्नि में परस्पर विरोध है, किन्तु ये दोनों संयुक्त रूप से भात पकाने में सहायक होते हैं । हिन्दी के आचार्यों में उजियारे कवि शृंगार के रसराज होने का यही कारण देते हैं कि शृंगार रस के भीतर अन्य रस या उसके सभी स्थायी संचारी रूप में (अंग रूप में) आ जाते हैं, उनके अनुसार यदि इन विरोधी रसों का संयोजन अंग-अंगीभाव से कर दिया जाए तो इन्हें विद्वान् लोग रस-शवलता का नाम देते हैं ।[१] जिस प्रकार राजा और उनके योद्धा में किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं होता उसी प्रकार प्रधान रस और अंग रस में भी कोई भेद प्रतीत नहीं होता :

जैसे सुभट विरोध तैं प्रभु विरोध नहि होइ ।
त्यौं ही अंग विरोध तैं रस विरोध नहि कोइ ।।

—जुगल प्रकाश, ४१ ।

रूपगोस्वामी द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए :

कुमारस्ते मल्लीकुसुमसुकुमारः प्रियतमे !
गरिष्ठोऽयं केशी गिरिवदिति मे वेल्लति मनः ।
शिवं भूयात्पश्योन्नमितभुजमेधिर्मुहुरमुं—
खलं क्षुन्दन् कुर्यां व्रजमतितरां शालिनमहम् ।।

प्रियतमे ! तेरा कुमार चमेली के पुष्प के समान कोमल है, तथा यह केशी (कंस द्वारा श्रीकृष्ण के वध के लिए प्रेषित दैत्य) पहाड़ के समान गरिष्ठ है, अतः मेरा मन घबरा रहा है । कल्याण हो, देख भुजस्तम्भ को उठाने वाला, इस दुष्ट को मारता हुआ मैं ब्रज को अत्यन्त श्लाघ्य कर दूंगा । यहां परस्पर विरोधी रस वीर एवं भयानक हैं, ये प्रधान-रस वत्सल को ही पुष्ट कर रहे हैं । इसी प्रकार 'कम्प्रास्वेदिनि चूर्णकुन्तलतटे' आदि में हास्य एवं करुण ये दोनों विरोधी-रस वत्सल-रस को पुष्ट करते हैं ।

कुछ अन्य उदाहरण देखिए :

—जानकी के आनन की आभा इन्दु मानन की
प्रानन की आंषिनि अमी तै चारु चाषी है ।

---

१. अंगी अंगु जु होतु हैं जहां सरनि समुदाइ ।
तहां कहत रस-सबल हैं कवि कोविद समुदाइ ।। —जुगल प्रकाश, ४० ।
(रस शबलता से उनका तात्पर्य भावशबलता है क्योंकि यही शब्द शास्त्र-सम्मत है ।)

इतै उजिआरे हनू लछ रछनि की
रुधिर चुंचाती राती छाती छेदि नाषी हैं ।।
देषि देषि राम रन रामन के षंडिवै कौं
उदित उदंड दोर दंड अभिलाषी हैं।
काली कींकराली विकराली चढी भ्रुकुटी सौं
आपनी कमान सौं समान करि राषी है ।।

—जुगल-प्रकाश, ४२।

यहां बीभत्स, उत्साह एवं भय ये परस्पर विरोधी-भाव शृंगार के अग हो गये हैं।

—कानन लौं भरि तांनि दसानन वांनन कौं तकि त्यागन लागे।
झारि निषंग तहां उजिआरे अनंग महां दुष दागन लागे ।।
जानुकी आनि वसी उर मै सु कछु तै कछु मुखरागन लागे।
आगि के पौन के पांनियौ के सर राम कैं आगि से लागन लागे।।

—जुगल-प्रकाश, ४३।

यहां पर कवि ने उत्साह को रति का अंग बनाने का प्रयत्न किया है, पर कवि को उसमें सफलता नहीं मिली। एक अन्य उदाहरण देखिए—

—मोहन लखि यह सबन ते ह्वै उदास दिन राति।
उपहति हंसति बकति उरति बिगचति विलास रिसाति ।।

इसमें निर्वेद, उत्साह, हास, आश्चर्य, भय, घृणा, शोक, क्रोध आदि शृंगार के सञ्चारी हो गये हैं।

रसों में विरोध समाप्त करने के उपर्युक्त दो उपायों के अतिरिक्त ध्वन्यालोक में विरोध-परिहार के दो और उपायों का उल्लेख किया गया है।

(३) स्मृति-रूप में वर्णित किए जाने पर रस-विरोध की निवृत्ति हो जाती है। मम्मट, विश्वनाथ एवं रूपगोस्वामी ने क्रमशः 'स्मर्य्यमाणो विरुद्धोऽपि' (का० प्र० ७।६५) तथा (हि० भ० र० सि० ८।३४) 'विरोधिनोऽपि स्मरणे' (सा० द० ७।३०) 'स्मर्य्यमाण-तयाऽप्युक्तौ' कथनों द्वारा इसी तथ्य को प्रस्तुत किया है। इसी प्रसंग के अन्तर्गत आनन्दवर्द्धन, मम्मट एवं विश्वनाथ ने इस प्रकार के अविरोध-सम्पादन में महाभारत का निम्नोक्त श्लोक प्रस्तुत किया है:

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः।।

महाभारत के युद्ध में भूरिश्रवा के कट कर अलग पड़े हुए हाथ को देख कर यह उसकी पत्नी का विलाप है। यह वह हाथ है जो सम्भोगावस्था के समय करधनी को खींचा करता था। पीनस्तनों का विमर्दन करता था। नाभि, उरु तथा जघन का स्पर्श करता था और नीवी-बंधन को खोला करता था। विश्वनाथ का कथन है कि यहां आलम्बन (नायक) का विच्छेद (मरण) हो जाने के कारण तद्विषयक रति रस-रूप नहीं हो सकती। अतः स्मर्यमाण रति के जो अंग (रशनोत्कर्षणादि) हैं, उनसे शोक ही उद्दीपित होता है। इसलिए वे करुण रस के ही अनुकूल हैं। यहां शृंगार

स्मर्यमाण है अतः प्रकृत करुण रस के साथ उसका विरोध नहीं है ।[1] किन्तु हमारे मत में यह रसाभास का एक सुन्दर उदाहरण है । नायिका का यह विलाप उसकी स्थूल कामदृष्टि का परिचायक है । उसके विलाप से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह अपने पति को अपना नीवि-बन्धन शिथिल कराने के निमित्त एक बार फिर जीवित देखना चाहती है । इसमें वासना की आग है । उसकी यह कुत्सित कामना उसके शोक की गम्भीरता को कम कर देती है । यदि उसके हाथ की सार्थकता पीनस्तनविमर्दन में ही है तो यह कार्य तो कोई दूसरा हाथ भी कर सकता है । यहां भूरिश्रवा के हाथ का महत्त्व स्थूल स्तनों के मर्दन में ही प्रदर्शित किया है । जो अपने आप में कुरुचिपूर्ण अधिक है—शोक का उद्दीपक कम । क्योंकि इस प्रकार के वर्णन में पति-पत्नी के सूक्ष्म आत्मिक रागात्मक सम्बन्धों का नितान्त अभाव हो गया है । यही सूक्ष्म आत्मिक रागात्मक सम्बन्ध ही शोक का उद्दीपक हो सकता है, कोई स्थूल वासनात्मक वृत्ति नहीं । किसी काव्य तत्त्व का निर्णायक आधार कवि की विवक्षा से अधिक सामाजिक के उद्वेलन को ही मानना चाहिए, यद्यपि यहां कवियों को कारुणिक दृश्य प्रस्तुत करना अभीष्ट है, परन्तु न केवल सामान्य पाठक पर अपितु विज्ञ पाठक पर भी विप्रलम्भ शृंगार का कहीं अधिक प्रभाव पड़ता है और ये दोनों प्रसंग सुन्दोपसुन्द न्याय से न केवल एक दूसरे में विलीन होकर अपितु विनष्ट होकर भी रसाभास का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । इसी के फलस्वरूप हमारी दृष्टि में यहां स्मर्यमाण-शृंगार करुण-रस का उद्दीपक नहीं हो सका है । किन्तु इससे आनन्दवर्द्धन, मम्मट एवं विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त का कि स्मर्यमाण विरोधी रस उद्दीपक सिद्ध हो जाता है—का खण्डन नहीं होता । यदि नायिका अपने पति की मृत्यु पर सूक्ष्म आत्मिक शृंगारिक सम्बन्धों का स्मरण करती तो सचमुच वह वर्णन शोक उद्दीप्त करने में सहायक सिद्ध होता । रूपगोस्वामी द्वारा प्रस्तुत उदाहरण उक्त तथ्य को पुष्ट करता है :

स एष वैहासिकताविनोदै—
व्रजस्य हासोद्गमसंविधाता ।
फणीश्वरेणाद्य विकृष्णमाणः
करोति हा नः परिदेवनानि ॥

सर्पराज कालिय के द्वारा खींचा जा रहा, विदूषकता और विनोदों से व्रज का हासोत्पत्ति करने वाला (अर्थात् व्रज को हंसाने वाला) वह यह श्रीकृष्ण हाय आज हमको क्लेश दे रहा है । यहां स्मर्यमाण हास भूतकाल का विषय है, तथा करुण प्रस्तुत है । सहृदय करुण का ही आस्वाद करता है ।

(४) अन्य उपाय आश्रयैक्य-विरोध अथवा एकाधिकरण्य-विरोध के शमन से सम्बद्ध है :

---

१. अत्रालम्बनविच्छेदे रते रसात्मतया स्मर्यमाणानां तदङ्गानां शोकोद्दीपकतया करुणानुकूलता । —साहित्यदर्पण, ७।३१ (वृत्ति), पृ० २६० ।

विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत्।
स: विभिन्नाश्रय: कार्य्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता ।। —ध्वन्या० ३।२५।

स्थायी (प्रधान) रस का जो विरोधी-रस एकाधिकरण्य रूप से विरोधी हो, उसको विभिन्नाश्रय कर देना चाहिए (फिर) उसके परिपोष में भी कोई दोष नहीं है। मम्मट का भी यही कथन है—'आश्रयैक्ये विरुद्धो य: स कार्यो भिन्नसंश्रय:' (का० प्र० ७।६४) अर्थात् जो रस आश्रय के ऐक्य में विरोधी है उसको भिन्न आश्रय में (वर्णित) करना चाहिए। इसी प्रकार रूपगोस्वामी के अनुसार

'विषयाश्रय भेदे च गौणेन द्विषता सह' (हि० भ० र० सि० ८।३५) अर्थात् विरोधी गौण रस के साथ विषय अथवा आश्रय का भेद कर देना चाहिए। रूपगोस्वामी ने विषय एवं आश्रय दोनों को मिल करके विरोध का परिहार सोदाहरण प्रदर्शित किया है।

(अ) भिन्न विषयता का उदाहरण देखिए :

त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्त।
मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम् ।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा
या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री ।।

जो तेरे चरण कमल के मकरन्द को न सूंघने वाली मूढ़ स्त्री है, वह ही, ऊपर त्वचा, श्मश्रु, लोम, नख एवं केशों से आवृत, तथा भीतर मांस, अस्थि, रक्त, कृमि, विष्ठा, कफ, वात, पित्त से परिपूर्ण जीवित शव को (पुरुष को) कान्तभाव से (अच्छा समझ कर) भजती है। यहां बीभत्स का विषय पति है, तथा शुचि का श्रीकृष्ण। विषय अलग-अलग होने में दोनों रसों का विरोध नहीं रहा। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण उन्होंने विदग्ध-माधव से दिया है :

तस्या: कान्तद्युतिनि वदने मञ्जुले चाक्षियुग्मे
तत्रास्माकं यदवधि सखे ! दृष्टिरेषा निविष्टा।
सत्यं ब्रूमस्तदवधि भवेदिन्दुमिन्दीवरं च।
स्मारं-स्मारं मुखकुटिलताकारिणीयं हृणीया ।।

अर्थात् हे मित्र ! जब से उसके सुन्दर कान्ति वाले मुख एवं मनोज्ञ नेत्रों में हमारी यह दृष्टि लगी है, हम सत्य कहते हैं तबसे चन्द्र एवं कमल को याद कर करके यह मुख को कुटिल करने वाली लज्जा हो रही है। यहां भी शृंगार एवं बीभत्स कर विरोधाभाव है।

(ब) आश्रय भेद से विरोधी रस का परिहार निम्नोक्त पद में हुआ है :

विजयिनमजितं विलोक्य रङ्ग
स्थलभुवि सम्भृतसांयुगीनलीलम्।
पशुपसवयसां वपूंषि भेजु:
पुलककुलं द्विषतां तु कालिमानम् ।।

रंगस्थल की भूमि पर (कंस के द्वारा आयोजित धनुष-यज्ञादि की स्थली पर) युद्ध की

लीला से सज्जित अजित श्रीकृष्ण को विजयी देखकर मित्र ग्वाल-आदियों के शरीर रोमांच को तथा शत्रुओं के शरीर कालिमा को प्राप्त हो गये। यहां वीर का आश्रय ग्वाल एवं भयानक का आश्रय शत्रु होने से वीर और भयानक में विरोधाभाव है।

इसी प्रकार केशव द्वारा प्रस्तुत रति एवं भय का एकत्र वर्णन देखिए। घहराती हुई घनघटा को देखकर नायिका के हृदय में भय की उत्पत्ति होती है और वह भय उसके हृदय में रति को जन्म देता है :

भुव मंडल मंडित कै घन-घोर, उठे दिव मंडल मंडि घटी।
घहराति घटा घन बात के संघट, घोष घटै न घटी हूं घटी।
दशहूँ दिशि केशव दामिनि देख, लगी पिय कामिनि कंठ तरी।
जनु पारथ पाई पुरंदर के बन, पावक की लपटैं झपटी ॥

—रसिकप्रिया १४।२७॥

अर्थात् आकाश को चारों ओर से घेरती हुई घटाओं ने पृथ्वी मंडल को भी घेर लिया। पवन के संयोग से बादल घोर गर्जना करने लगे और क्षण भर को भी वह गर्जना कम नहीं होती। दशों दिशाओं में बिजली को चमकता हुआ देखकर कामिनी अपने प्रियतम के कंठ में इस प्रकार लगी मानो अर्जुन को पाकर इन्द्र के वन में लपटें झपटी हों। यहां भय एवं रति दोनों भावों का आश्रय तो नायिका ही है किन्तु आलम्बन घन एवं नायक भिन्न हैं। फिर पूर्वोत्पन्न भय विभाव रूप में आकर रति को व्यञ्जित करने में उपयोगी हो रहा है। इस प्रकार अंगभूत भय विभाव के अन्तर्गत ही है। इसी प्रकार केशव ने रति एवं उत्साह के वर्णन में भी आलम्बन भिन्न कर दिये हैं :

अघ ज्यों उदारि हौ कि बक ज्यों बिदारि हौ,
केश ज्यों कि केशोदास केशी ज्यों पछारि हौ।
हरि हौ कि प्राणनाथ पूतना के प्राणनि ज्यों,
बन ते कि बनमाली काली ज्यों निकारि हौ।
करिहौ विमद घन बाहन ज्यों घनश्याम,
काहूँ सो न हारे हरि याही सों क्यों हारि हौ।
वे ही काम कामवर ब्रज की कुमारि कानि,
मारतु हौ नन्द के कुमार कब मारि हौ ॥

—रसिकप्रिया १४।२५॥

सखी नायक श्रीकृष्ण से कहती है कि तुम अघासुर की तरह उसे मारोगे या बकासुर की भाँति उसे चीर डालोगे ? अथवा केश या केशी की तरह उसे पछाड़ोगे ? या पूतना के प्राणों की तरह उसके प्राण हरोगे या काली नाग की तरह वन से निकाल बाहर कर दोगे ? हे घनश्याम ! या घन-वाहन की भाँति उसे मद रहित करोगे ? तुम अब किसी से नहीं हारे जो उसी से क्यों हारोगे। हे नन्दकुमार ! अब ब्रज की कुमारियों को यह काम मारे डालता है, अब बतलाओ, इसे कब मारोगे ? इस प्रकार के चित्रों से पाठक कृष्ण को उत्साह एवं रति दोनों का ही आश्रय मानता है।

देव ने भिन्न आश्रय करके वीर और भयानक रसों का परस्पर सम्मिश्रण किया है :

आये हौ खैलन फाग इतै, अरु और की ओर उतै, उमहौ क्यों ?
जानति हौं, रस लालची लाल, बिना बस ह्वै, रस-रंग लहौ क्यों ?
साथ में चाहत, हाथ चलायो, पै हाथ गहे, बलि साथ गहौ क्यों ?
वीर बड़े बलवीर, अधीर ह्वै, कंपति गात, डराति कहौ क्यों ?

—शब्द रसायन, पृ० ४६ ।

इस पद में वस्तुतः तीन रसों का समन्वय है। सांसारिक मर्यादाओं की बिना परवाह किए नायक नायिका का हाथ पकड़ता है। इस प्रकार उसमें उत्साह भावना विद्यमान है। नायिका लोकलाज के कारण भयभीत है। वह भय का आश्रय है। साथ ही इन दोनों का परस्पर प्रेम भाव भी द्योतित होता है। इस प्रकार इसमें शृंगार, वीर एवं भय इन विरोधी रसों का सुन्दर समन्वय किया गया है। पाठक इन सभी का आस्वाद करता है।

इसी प्रकार रौद्र और अद्‌भुत का वर्णन देखिए :

लोपु करै ब्रज मंडल को, करि कोपु चढ़्यौ, जुग अन्त ज्यों सूली,
पौन प्रचंड, घमंड महाघन धार-अखंड प्रलै प्रतिकूली ;
हाथ धर्यौ गिरि, गोकुलनाथ, जु गोकुल की सुख सिद्धि-समूली,
'देव' विलासु बकी-रिपु कै लखि, बासव की, सबकी सुधि भूली ।

शब्द-रसायन, पृ० ४६

आरम्भ में इन्द्र रौद्र का आश्रय है, पाठक इसके क्रोध-भाव से ही तादात्म्य करता है, किन्तु बाद में कृष्ण के गोवर्द्धन पर्वत के उठा लेने पर इन्द्र आश्चर्य का आश्रय बन जाता है। तब पाठक भी आश्चर्य-भाव की अनुभूति करता है। किन्तु तब उसका तादात्म्य इन्द्र के साथ न होकर कृष्ण के अद्‌भुत कर्म के साथ होता है। इस प्रकार वह रौद्र एवं अद्‌भुत दोनों ही रसों का आस्वाद कर लेता है।

किन्तु केवल भिन्न आलम्बन अथवा भिन्न आश्रय कर देने मात्र से ही विरोधी रसों का सफलता पूर्वक संयोजन नहीं हो जाता।
इस सम्बन्ध में रूपगोस्वामी का स्पष्ट अभिमत है :

विषयाश्रयभेदेऽपि मुख्येन द्विषता सह
सङ्गतिः किल मुख्यस्य वैरस्यायैव जायते ।

—हि० भ० र० सि० ८।३७ ।

अर्थात् विषय एवं आश्रय के भेद होने पर भी मुख्य विरोधी के साथ में मुख्य की संगति निश्चय ही वैरस्य की जनक होती है। विषय भिन्न होने पर भी विरोध की स्थिति का उदाहरण देखिए :

विमोचयार्गलाबन्धं विलम्बं तात ! नाचर ।
यामि काश्यगृहं यूना मनः श्यामेन मे हृतम् ।।

तात ! सांकल खोल दो। विलम्ब मत करो। सान्दीपनि के घर जाती हूँ क्योंकि युवक श्याम (श्रीकृष्ण) ने मेरा मन चुरा लिया है। यहां प्रीत का विषय पिता एवं रुचि का विषय युवक श्याम है। इस प्रकार विरोधी रसों का विषय अलग-अलग होता हुआ

भी यहां विरोध है। आश्रय भेद में विरोध की स्थिति का उदाहरण देखिए :

रुक्मिणीकुचकाश्मीरपङ्किलोरः स्थलं कदा।
सदानन्दं परं ब्रह्म दृष्टया सेविष्यते मया।।

रुक्मणी के स्तनों की केशर से पंकिल वक्षस्थल वाले, सदानन्द स्वरूप परब्रह्म को कब मैं दृष्टि से सेवन करूंगा। यहां शुचि का आश्रय रुक्मिणि तथा शान्त का आश्रय वक्ता हैं। इस प्रकार यद्यपि विरोधी रसों के आश्रय अलग-अलग हैं तथापि शुचि एवं शान्त का विरोध समाप्त नहीं हुआ।

यहां यह उल्लेखनीय है कि ज्ञानमार्ग में अनुरक्त बुद्धि वाले कुछ भक्त शान्त के आश्रय भिन्न होने पर विरसता नहीं मानते[1] पर हमारी सम्मति में उपर्युक्त उदाहरण से पाठक किसी भी रस का आस्वाद उपलब्ध करने में असमर्थ रहा है। देव ने शृंगार एवं बीभत्स के संयोग का जो उदाहरण दिया है वह शृंगार एवं बीभत्स दोनों रसों की अनुभूति के स्थान पर केवल बीभत्स का ही आस्वाद कराता है :

लै सुख-सिंधु-सुधामुख सौति के, आये इतै रुचि ओठ अमीकी,
तोहि निसंक लई भरि अंक, मयंक-मुखी सु-ससंकंति, जीकी;
जानि गई पहिचानि सुगंध, कछू घिन मानि, भई मुख फीकी,
ओछे उरोज अंगौछि अंगौछन, पौंछति पीक कपोलन पीकी।

—शब्द-रसायन, पृ० ४६

इसमें बीभत्स का आलम्बन सपत्नी है और शृंगार का आलम्बन नायक है। किन्तु अन्त में नायक द्वारा सम्पादित रति के प्रति भी घृणा ही व्यक्त की गई है, जिससे सम्पूर्ण वर्णन बीभत्स का उदाहरण हो गया है। यह रसाभास का सुन्दर उदाहरण कहा जा सकता है।

निष्कर्ष यह है कि भिन्न आलम्बन अथवा भिन्न आश्रय करके विरोधी रसों का परस्पर विरोध-भाव दूर किया जा सकता है, किन्तु इसके लिए कवि का कुशल होना अनिवार्य है।

(च) अन्त में, नैरन्तर्य्येण विरोध के शमन का उपाय भी आचार्यों ने बतलाया है :

—एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान्।
रसान्तरव्यवधिना रसो न्यस्थः सुमेधसा।। —ध्वन्यालोक ३।२६।
—रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्य्येण यो रसः।। —का० प्र० ७।६४
—रसान्तरेण व्यवधौ तटस्थेन प्रियेण वा।

—हि० भ० र० सि० ८।३५

अर्थात् जो नैरन्तर्य्य से विरोधी (रस) है उसको दूसरे (अविरोधी) रस से व्यवहित कर देना चाहिए। शान्त तथा शृंगार में नैरन्तर्य्येण विरोध है इसलिए उन दोनों के

---

१. अनुरक्तधियो भक्ताः केचन ज्ञानवर्त्मनि।
शान्तस्याश्रयभिन्नत्वे वैरस्यं नानुमन्वते।। —हि० भ० र० सि० ८।३६।

मध्य कोई अन्य रस नियोजित कर देने से विरोध का परिहार हो जाता है । रूप-गोस्वामी ने इसका निम्नलिखित उदाहरण दिया है :

त्वं काऽसि शान्ता किमिहान्तरिक्षे
द्रष्टुं परं ब्रह्म कुतस्तताक्षी ।
अस्यातिरूपात् किमिवाकुलात्मा
रम्भे ! समारम्भि भिदा स्मरेण ।।

हे रम्भे ! तुम कौन हो और यहां अंतरिक्ष में शान्त होकर परब्रह्म को देखने के लिए क्यों और कहां से नेत्र फैलाए हुए इनके (कृष्ण के) अधिक रूप के कारण व्याकुल आत्मा वाली हो गई हो और कामदेव ने (तुम्हारे हृदय को) विदीर्ण करना प्रारम्भ कर दिया है । यहां शान्त के बाद शृंगार आ गया है, किन्तु रूप की अधिकता-जन्य अद्भुत के कारण दोनों में व्यवधान आ गया है ।

(५-६) विरोधी रसों के परस्पर संयोजन से उत्पन्न दोषों के परिहार के उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त रूप गोस्वामी ने एक अन्य स्थिति में भी दोष परिहार प्रदर्शित किया है । उनके अनुसार परस्पर विरोधी भी जो दो भाव युधिष्ठिर आदि में कालादि भेद से प्रकट होते हैं, वे विरोधी नहीं रहते—

मिथो वैरावपि द्वौ यौ भावौ धर्म्मसुतादिषु ।
कालादिभेदात् प्राकट्यं तौ बिन्दन्तौ न दुष्यतः ।।

हि० भ० र० सि० ८।४०

हिन्दी के आचार्यों में उजियारे कवि का भी कथन है कि यदि इन विरोधी रसों का संयोजन देशभेद अथवा समयभेद से किया जाय तो भी इससे कोई हानि नहीं होती । उन द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए :

एक हाथ लछिमी कौ हाथ गहैं ब्रजनाथ,
दूजैं हाथ चक्र धरैं गाथनि गरेरे है ।
भनैं उजिआरे तीजे हाथ सौं निवेरे करैं,
कठिन करेरे कालकूट के अरेरे हैं ।
चौथे हाथ छरीनिधि वीचि बीच मंदर कौं,
सुन्दर फिरावत सुछंद प्रभु मेरे हैं ।
चारौं लोक चारौं वेद भेदनि उचारौ चारौ,
चारौं रसनाथ के सुचारौ हाथ हेरे हैं ।

—जुगल-प्रकाश, ३८ ।

इस पद को पढ़ने से पाठक के सम्मुख (स्थान-भेद के कारण) चार चित्र (विष्णु के चार रूप) उपस्थित होते हैं । चारों चित्र क्रमशः शृंगार, रौद्र, करुण और अद्भुत रसों के हैं । आस्वादयिता क्रमशः इनमें से प्रत्येक का आस्वाद कर लेता है और उसे कुछ भी विचित्र प्रतीत नहीं होता । किन्तु यदि कवि विष्णु के एक ही हाथ में उक्त चारों क्रियाएं सम्पादित करवा देता तो पाठक को इसमें विरोध दिखलाई देता और उससे उसके मस्तिष्क पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता ।

(६) इसी प्रकार यदि कवि समय-भेद का ध्यान रखे अर्थात् पृथक्-पृथक् समयों में विरोधी रस का संयोजन करे तो भी उससे रसाभास होने की सम्भावना नहीं रहती। उदाहरण देखिए:

तोरि देव देव के पिनाकहि समाज माझ
राज तजि महाराज बन में बिहारे हैं।
भनैं उजिआरे कविराज पनयारे भारे
असुर संघारे कोटि-कोटि उनिहारे हैं।
लंकनाथ मारे लंका वधुनि पुकारे सुनैं
डंका दैपमारे पढ़ै सुरनि सिहारे हैं।
जानकी पियारे दसरथ के दुलारे राम
साहिब हमारे नवरस में निहारे हैं।
—जुगल प्रकाश ३६।

इस छन्द में राम के जीवन के क्रमशः नौ चित्र उपस्थित किए गए हैं। उनमें जीवन की नौ महत्त्वपूर्ण घटनाओं का संयोजन करके कवि ने उनसे नौ भाव पाठक के सम्मुख उपस्थित कर दिए हैं। पाठक उन सभी का आस्वाद कर लेता है। कारण स्पष्ट है कि राम के उक्त नौ कार्य पृथक्-पृथक् समयों में सम्पन्न हुए हैं। और पाठक उनको पृथक्-पृथक् ही ग्रहण करता है। अल्लराज का भी यही मत है। उनके अनुसार यदि किसी पात्र के प्रभाव को बढ़ाने के लिए कवि उसमें सभी रसों का समावेश इस प्रकार दिखलाए कि उसका महत्त्व बढ़ जाए तो वहां भी रसाभास नहीं होगा। उन्होंने इस प्रसंग में निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है—

श्रृंगारी गिरिजानने सकरुणो रत्यां प्रवीरः स्मरे।
बीभत्सोऽस्थिभिरुत्फणीच भयकृन्मूर्त्यद्भुतस्तुंगमा।
रौद्रो दक्षविमर्दने च हसकृन्नग्नः प्रशान्तः शमा-
दित्थं सर्वरसात्मकः पशुपतिर्भूयात्सतां भूतये॥ र० र० प्र० ४२।

पार्वती के मुख पर श्रृंगार रस युक्त, रति के प्रति करुणावान्, कामदेव के प्रति वीर, हड्डियों से घृणास्पद, सर्पों से लिपटे होने के कारण भयंकर, ऊँचे डीलडौल से अद्भुत, दक्ष के मर्दन में रौद्र रूप, नग्न होने के कारण हास्योत्पादक, शान्ति से प्रशान्त रूप, इस प्रकार सर्वरसात्मक महादेव सज्जनों के कल्याण के लिए हो। अल्लराज के इस उदाहरण में प्रत्येक रस का वर्णन महादेव के चरित्र को उज्ज्वल बनाने वाला है, ये महादेव के विशेषण प्रतीत होते हैं।

किन्तु हमारी सम्मति में उपर्युक्त सभी उदाहरणों में जिनमें कि विरोधी रसों का एक साथ सफलता पूर्वक संयोजन स्वीकार किया गया है नौ रसों का सहृदय आस्वाद नहीं कर पाता। इनमें प्रत्येक रस के विभावानुभाव-व्यभिचारि भाव की सम्यक् योजना न हो सकने के कारण आस्वाद का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। किन्तु हां, इससे इतना अवश्य है कि पाठक को इन विरोधी रसों के प्रसंगों का ज्ञान हो जाता है और उस ज्ञान की प्राप्ति में उक्त रसों का विरोध कोई वैरस्य उत्पन्न

नहीं करता। अतः इस प्रकार के उदाहरणों को भाव कोटि के अन्तर्गत परिगणित करना चाहिए।

यहां हमारा विवेच्य केवल इतना ही है कि यदि कवि किसी प्रसंग में भावुक के चित्त में एक साथ दो विरोधी भाव उत्पन्न करना चाहता है, तो प्रायः उसे इसमें सफलता प्राप्त नहीं हो पाती। उदाहरण के लिए क्षेमेन्द्र द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए :

क्षीबस्येवाऽचलस्य द्रुत-हृत हृदया जम्बुकी कण्ठसक्ता।
रक्ताऽभिव्यक्तकामा कमपि नख-मुखोल्लेखमासूत्रयन्ती॥
आस्वाद्याऽस्वाद्य यूनः क्षणमधरदलं दत्त-दन्तव्रणाङ्कं।
लग्नाऽनङ्ग क्रियायाम् इयमतिरभसोत्कर्षमाविष्करोति॥

—बौद्धवदानक कल्पलता।

क्षेमेन्द्र इसमें शृंगार को अंग और बीभत्स को अंगी मान कर बीभत्स का उदाहरण स्वीकार करते हैं, किन्तु हमारी सम्मति में यह रसाभास का ही उदाहरण है।

यदि कोई समर्थ कवि अपने कौशल से दो विरोधी रसों का एकत्र वर्णन करके भी दो विरोधी भावों को जागरित नहीं होने देता वरन् एक रस को दूसरे रस का अंग अथवा सञ्चारी बना देता है तो शास्त्रीय शब्दावली में वह विरोधी रसों का संयोजन नहीं कहलाएगा और इसी लिए उससे रसाभास की सम्भावना भी नहीं रहेगी।

इस प्रसंग में आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन द्रष्टव्य है। उनका कथन है कि जिस प्रकार मधुर-तिक्त आदि रसों को चतुराई से मिलाने पर एक विचित्र (आनन्ददायक) आस्वाद उत्पन्न होता है, उसी प्रकार शृंगार आदि रसों को आपस में एक दूसरे से मिलाने पर विलक्षण रसानुभूति होती है। उनके इस परस्पर मिलने में कवि को औचित्य की रक्षा करनी चाहिए। चतुर रसोइया चटनी या पना बनाने में जब मीठे, चरपरे, खट्टे, नुनखरे आदि रसों का चतुरता से संयोजन करता है तो वे विचित्र आस्वाद को जन्म देते हैं। इसी प्रकार शृंगार आदि रस भी मिलकर विलक्षण रसनीय बन जाते हैं। हां, इनकी अंगांगि भाव योजना में औचित्य की रक्षा अवश्य करनी चाहिए। वही उसका जीवित है,

यथा मधुरतिक्ताऽद्या रसाः कुशल-योजिताः।
विचित्रास्वादतां यान्ति शृंगाराऽद्यास्तथा मिथः॥
तेषां परस्पराश्लेषात्कुर्यात् औचित्य-रक्षणम्।
अनौचित्येन संस्पृष्टः कस्येष्टो रस-संकरः॥

—औचित्यविचारचर्चा, १७,१८।

किन्तु आचार्य क्षेमेन्द्र ने उस विचित्र रस की व्याख्या नहीं की जो कि शृंगार-करुण-शान्त आदि से भिन्न कुछ अन्य प्रकार की अनुभूति प्रदान करता है। और न उनके द्वारा प्रस्तुत उदाहरण से ही उसका अनुमान होता है। उन्होंने शांत और शृंगार

रस के संकर में औचित्य का प्रदर्शन भगवान् व्यास के निम्नलिखित श्लोक में किया है :

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गिलोलं हि जीवितम् ।।

अर्थात् सचमुच तरुणियाँ मनोहर हैं और विभूतियाँ भी बड़ी रम्य हैं । पर जीवन तो इतना चंचल है जितना कि मत्त अङ्गना की अपाङ्गभङ्गी । यहां पर—प्राणी मात्र के हित का ध्यान रखने वाले भगवान् व्यास मोक्षेपयोगी शान्त रस का उपदेश देना चाहते हैं । पर रागीजनों को वह अभीष्ट नहीं है । इसीलिए गुडजिह्विकमा न्याय से उनका मन प्रसन्न रखने के लिए शान्त को शृंगार का अंग बना दिया है । किन्तु अन्त में जीवन को चंचल बताकर उसकी अनित्यता का संकेत भी उन्होंने कर दिया है । और शान्त रस को श्रेष्ठता प्रदान की है । यहां आस्वादयिता इसी शान्त रस का ही आस्वादन करता है । शृंगार उसमें बाधक सिद्ध नहीं होता । वह भी शांत का संचारी बनकर आया है । किन्तु इससे शम और रति की कोई मिली-जुली अनुभूति पाठक को नहीं होती । अतः आचार्य क्षेमेन्द्र के उक्त कथन में इतना ही सत्य मानना चाहिए कि विरोधी रस के आगमन से इसकी हानि होनी अनिवार्य नहीं । रसों के परस्पर मिलने से किसी अन्य प्रकार की विचित्र अनुभूति भी होती है—यह बात प्रमाणित नहीं होती ।

निष्कर्षतः विरोधी रस भावक के चित्त में दो विरोधी अवस्थाओं के जनक होते हैं । अतः उनके एकत्र वर्णन से रसाभास (और कभी रस-दोष) होता है । किन्तु यदि कोई कुशल कवि उनका इस प्रकार से संयोजन करे कि विरोधी-रस अंगी-रस का अंग अथवा संचारी बन जाय तो उससे रसाभास होने की सम्भावना नहीं रहती । जिस प्रकार शत्रु-पक्ष का अनुत्कर्ष दिखला करके नायक का महत्त्व प्रतिपादित किया जाता है उसी प्रकार विरोधी-रस को अप्रधान बना करके अथवा उस अंगी रस की तुलना में अनुत्कर्ष प्रदर्शित करके अंगी रस का परिपाक अच्छी तरह से हो जाता है ।

(घ) अंग रस की प्रमुखता

जब कोई एक रस सहृदय के चित्त में प्रवाहित होने लगता है तो अन्य अविरोधी रस उसके सहयोगी बनकर आते हैं । वे रस उस रस के प्रभाव में वृद्धि ही करते हैं । रूपगोस्वामी के अनुसार : अल्प विभावादि से उत्पन्न गौण रस व्यभिचारि भावता को प्राप्त कर अपने स्वामी मुख्य रस की पुष्टि करता हुआ उसी मुख्य रस में लीन हो जाता है

स्तोकाद्विभावनाज्जातः सम्प्राप्य व्यभिचारिताम् ।
पुष्णन्निजप्रभुं मुख्यं गौणस्तत्रैव लीयते ।।

—हि० भ० र० सि० ८।२३ ।

अंगीरस में आस्वाद की वृद्धि करना ही अंगरस की अंगता है । उसके (अंगी रस में आस्वाद वृद्धि के) बिना अंगरस का सम्मिश्रण विफल हो जाता है—

आस्वादोद्रेकहेतुत्वमङ्गस्याङ्गत्वमङ्गिनि ।
तद्विना तस्य सम्पातो वैफल्यायैव कल्पते ।। —हि० भ० र० सि० ८।२९।

जैसे स्वच्छता से बनाये हुए अमरस (आम के रस में निर्मित मिष्ठान्न विशेष) में यदि भूसा गिर पड़े तब उसके आस्वाद में बाधा ही होती है :

यथा मृष्टरसालायां यवसादेः कथंचन ।
तच्चर्वणे भवेदेव सतृणाभ्यवहारिता ।। हि० भ० र० सि० ८।३०

शिंगभूपाल के अनुसार 'अंग रस को स्वेच्छापूर्वक अंगीरस से अधिक प्रतिष्ठा देना ही रसाभास है।'[1] जिस प्रकार एक अविनीत अमात्य का स्वामी के समान आचरण करना मर्यादा का उल्लंघन है उसी प्रकार स्वामी (अंगी) रस को अप्रधान अर्थात् सेवक (अंग) की भांति अनुगामी बना देना भी मर्यादा का अतिक्रमण है।[2] यह बुद्धि में एक कांटे की भांति चुभन उत्पन्न करता रहता है। शारदातनय ने भी शिंगभूपाल के समान ही अंगीरस की अप्रधानता को रसाभास बताया है। उन्होंने इस तथ्य को एक गणितज्ञ की भांति उपस्थित किया है। उनका कथन है कि जहाँ प्रधान रस एक हिस्सा तथा अप्रधान या अंगीभूत रस दो हिस्सा प्रयोग किया जाता है, वहाँ रसाभास होता है।[3] उन्होंने संभवत: यह गणितीयता इसलिए प्रस्तुत की है कि अंग रस के अत्यन्त विस्तार अथवा अंगी की उपेक्षा से रस-दोष भी स्वीकार किया गया है।[4] अर्थात् अनेक वार इससे रस वैरस्य में परिवर्तित नहीं होता वरन् इससे रस का अपकर्ष मात्र होता है। शारदातनय का विश्वास है कि अंग रस के दो हिस्सा हो जाने के उपरान्त रसाभास की स्थिति अवश्य उत्पन्न होगी। यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी अनिवार्य है कि अंग रस की प्रमुखता से अभिप्राय किसी संचारी अथवा किसी अन्य रसतत्व की प्रमुखता से भी हो सकता है। अर्थात् वीर रस के उदाहरण में गर्व उसका संचारी तो सम्भव है, किन्तु उसकी वीर रस से भी अधिक प्रमुखता रसाभास की स्थिति होगी। ये संचारी आदि रसप्रसंग में अंग बनकर ही आने चाहिएं।

भिखारीदास ने रस-दोषों के प्रसंग में 'अंग को वर्णन' का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह रसाभास का उदाहरण है :

दासी सों मंडन समे, दरपन माँग्यौ वाँम।
बैठि गई सो साँमने, करि आनन अभिरांम।।

—काव्य-निर्णय, २५।२५।

इस में नायिका के रूप की अपेक्षा दासी का सौन्दर्य अधिक व्यञ्जित होता है। भिखारी-

---

१. अंगेनांगी रसः स्वेच्छावृत्तिवर्धितसम्पदा। —रसार्णव सुधाकर, पृ० २६३।
२. अमात्येनाविनीतेन स्वामीवाभासतां व्रजेत्। —वही।
३. भावप्रकाशन, पृ० १३३।
४. (क) काव्यप्रकाश, ७।६०-६२।
(ख) अंगहि को बरनँन करै, अंगी देइ भुलाइ
यैहू है रस दोष में, सुंनो सकल कविराइ।। —काव्य निर्णय, २५।२४।

दास के अनुसार 'इहां नाइका अंगी है, दासी वाकी अंग है, या तें दासी की अति शोभा बर्निबो दोष है।' हमारे विचार में यह रसाभास की स्थिति है। किन्तु इसका अधिक स्पष्टीकरण प्रबन्ध काव्यों में ही सम्भव है। अभिनवगुप्त का कथन है कि—

विरोधी वाऽविरोधी वा रसोङ्गिनि रसान्तरे।
परिपोषं न नेतव्यस्तेन स्यादविरोधिता॥

अर्थात् कोई भाव विरोधी हो या अविरोधी, अंगी रस के सम्मुख उसकी पुष्टि नहीं करनी चाहिए। इसीसे अविरोध होता है।

अतः कह सकते हैं कि जब अप्रधान रस प्रधान बन जाता है तो वह रसाभास की स्थिति होती है। दुष्यन्त का शकुन्तला के साथ प्रेम-प्रसंग चल रहा है। उसी प्रेम की उक्ति के साथ यदि हास्य की ऐसी कोई उक्ति विदूषक कह दे जो कि शृंगार की उक्ति से अधिक प्रभावशाली सिद्ध हो जाए और सहृदय को प्रत्यक्षतः ऐसी अनुभूति हो कि शृंगार में वैरस्य उत्पन्न हो गया है तो यह रसाभास की स्थिति होगी। अतः कवि को दो रसों के संयोजन में सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह रसों के अंग-अंगी भाव का ध्यान रखे।

चतुर्थ अध्याय

रसाभास और उससे सम्बद्ध कतिपय काव्यांग

अंगभूत रूप में वर्णित रसाभास एक प्रकार का अलंकार माना गया है। इसके अतिरिक्त रसाभास विलोम रूप से औचित्य-तत्त्व के साथ तथा प्रकारान्तर से दोषों के साथ सम्बद्ध है। इस आधार पर इस अध्याय में निम्नोक्त विषयों पर प्रकाश डाला जा रहा है:

१—रसाभास और अलंकार

(क) ऊर्जस्वी अलंकार और रसाभास

(ख) अन्य अलंकार तथा रसाभास

२—रसाभास और औचित्य-तत्त्व

३—रसाभास और काव्य-दोष

४—रसाभास और रस-विघ्न

अब इन पर क्रमशः प्रकाश डालेंगे।

१. रसाभास और अलंकार

(क) ऊर्जस्वी अलंकार और रसाभास

अलंकारवादी आचार्यों ने रसाभास का अन्तर्भाव ऊर्जस्वी अलंकार में किया है। अतः रसाभास के सम्बन्ध में इन आचार्यों की धारणाओं को जानने के लिए इस अलंकार का उल्लेख करना अनिवार्य है। भामह ने ऊर्जस्वी अलंकार का लक्षण न देकर सीधा इसका उदाहरण प्रस्तुत किया है:

ऊर्जस्वि कर्णेन यथा 'पार्थार्थं पुनरागतः।
द्विः सन्दधाति किं कर्णः शल्ये' त्यहिरपाकृतः —काव्यालंकार, ३।७।

अर्थात् 'अर्जुन के लिए पुनः आए हुए सर्प को कर्ण ने यह कह कर कि शल्य! क्या कर्ण दो बार बाण का सन्धान करता है, दूर कर दिया।' दण्डी ने 'ऊर्जस्वि रूढ़ाहंकारम्' (काव्यादर्श, २।२७५) कह कर जहां अहंकार रूढ़ (स्पष्ट) हो वहां ऊर्जस्वि अलंकार माना है। उन्होंने उदाहरण द्वारा अपने लक्षण को पुष्ट किया है:

अपकर्ताऽहमस्मीति हृदि ते मा स्म भूद्भयम्।
विमुखेषु न मे खड्गः प्रहर्तुं जातु वाञ्छति॥
एवमुक्त्वा परो युद्धे निरुद्धो दर्पशालिना।
पुंसा केनापि तज्ज्ञेयमूर्जस्वीत्येवमादिकम्॥—काव्यादर्श, २।२९३-९४।

अर्थात् मैं तेरा बुरा करने वाला हूं (यह सोचकर) तेरे हृदय में भय का संचार नहीं होना चाहिए क्योंकि मुझसे जो व्यक्ति विमुख हो जाते हैं उन पर मेरी खड्ग प्रहार नहीं करती।" ये वचन किसी अहंकारी पुरुष ने युद्ध में पराजित किसी व्यक्ति को कहे और उसे छोड़ दिया। इसी प्रकार के कथनों को ऊर्जस्वी अलंकार मानना चाहिए। उपर्युक्त भामह एवं दण्डी द्वारा प्रस्तुत दोनों उदाहरणों में वीर पुरुष का गर्व प्रदर्शित किया गया है। गर्व उत्साह का व्यभिचारि-भाव है। व्यभिचारि-भाव रस को उपचित (परिपक्व) अवस्था में ले आते हैं। किन्तु उक्त दोनों उदाहरणों में गर्व व्यभिचारि-भाव उत्साह स्थायी भाव को रसावस्था तक लाने में असमर्थ रहा है। इसका कारण यह है कि यहां पर गर्व रूप व्यभिचारी इतना प्रबल हो गया है कि उसने उत्साह रूप स्थायि-भाव को हतप्रभ कर दिया है। इसका परिपाक वहीं होता है जहां पर व्यभिचारिभाव स्थायिभाव में विलीन हो जाते हैं। ऊर्जस्वि-अलंकार के उक्त लक्षण एवं उदाहरणों को देख कर ऊर्जस्वि-अलंकार और रसाभास के सम्बन्ध में निम्नोक्त सम्भावनाएं प्रकट की जा सकती हैं:

(१) इस समय तक अंगी से अंग की प्रबलता रसाभास का आधार मानी जाती रही है। भामह और दण्डी द्वारा उत्साह पर गर्व की प्रबलता का दिखलाया जाना इस सम्भावना की पुष्टि के लिए पर्याप्त है। परवर्ती आचार्यों में शिगभूपाल का रसाभास विषयक इसी प्रकार का कथन इस सम्भावना को और भी पुष्ट करता है।

(२) इस सम्बन्ध में दूसरी सम्भावना यह हो सकती कि ऊर्जस्वी अलंकार का सम्बन्ध रसाभास के साथ स्थापित ही न हुआ हो और ऊर्जस्वी में ऊर्जस् की समानता बल, गर्व अथवा अहंकार से होने के कारण यह इसी लक्षण के रूप में स्वीकार किया जाता रहा हो।

(३) तीसरे यह भी हो सकता है कि इस समय तक अनौचित्य को रसाभास के आधारभूत कारण के रूप में स्वीकार न किया गया हो।

रसाभास की पृष्ठभूमि में भामह और दण्डी के उदाहरणों से स्पष्टतः प्रथम सम्भावना अधिक संगत प्रतीत होती है। भले ही यह अपने आप में गलत हो।

ऊर्जस्वि-अलंकार के वर्णन में रसाभास के अनौचित्य-तत्त्व का उल्लेख सर्व-प्रथम उद्भट ने किया है:

अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावनां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते॥

—काव्यालंकार-सार-संग्रह, ४।५।

अर्थात् काम-क्रोधादि कारणों से रसों और भावों का अनौचित्य रूप से प्रवर्तन ऊर्जस्वि अलंकार का विषय है। यथा:

तथा कामोस्य ववृधे यथा हिमगिरेः सुताम्।
सग्रहीतुं प्रववृते हठेनापास्य सत्पथम्॥

—काव्यालंकार-सार-संग्रह, ४।५।

अर्थात् शिवजी के काम का वेग इतना बढ़ गया कि वे सन्मार्ग को छोड़कर पार्वती को बलपूर्वक पकड़ने को उद्यत हो गए। इसमें काम शब्द श्रृंगार रस के स्थायी भाव रति का वाचक है। पार्वती (हिमालय की पुत्री) आलम्बन विभाव है। बलपूर्वक पकड़ना आवेग का सूचक होने के कारण व्यभिचारी भाव कहा जा सकता है। इसी प्रकार सन्मार्ग को छोड़ना मोह है। पकड़ने को उद्यत होना यह आंगिक अनुभाव है। विभाव, अनुभाव, संचारी तीनों के विद्यमान होने से यहां विशुद्ध श्रृंगार रस की स्वीकृति हो जानी चाहिए थी। पर सकल संसार के पूज्य भगवान् शिव का कुमारी कन्या के प्रति प्रवृद्ध राग का उपनिबंधन शास्त्रानुमोदित न होने से सर्वथा अनुचित है। पुनः यह कथन कि शिव के काम का वेग बढ़ गया और वे कुमारी कन्या को बलपूर्वक पकड़ने को उद्यत हुए, लोक में अतिचार उत्पन्न करता है। अतः भारतीय पाठक इस महान् अनौचित्य के कारण इससे श्रृंगार रस का आस्वाद नहीं कर पाता।[1]

उद्भट के उपरान्त अन्य आचार्यों ने ऊर्जस्वि-अलंकार को स्पष्टतः अनौचित्य (रसाभास) पर ही आधारित किया है। उन्होंने ध्वनिवादियों द्वारा प्रस्तुत रसाभास

---

१. यहां 'रतिवाची काम' इस स्थायी भाव का शब्द द्वारा कथन किया गया है। यद्यपि उद्भट रस के उदाहरणों में स्वशब्दवाच्यता को अनिवार्य मानते हैं (का० सा० सं० ४।३) तथापि परवर्ती आचार्यों द्वारा यह एक रस-दोष माना गया है। कुन्तक ने उद्भट की इस धारणा का कि इसके उदाहरणों में रस स्थायि-भाव आदि का सूचक कोई शब्द अवश्य हो—उपहास करते हुए लिखा है—तत्र स्वशब्दास्पदत्वं रसानाम-परिगणितपूर्वमस्माकं (वक्रोक्ति जीवितं ३।११।३७) अर्थात् रसों की शब्दनिष्ठता तो आज तक हमने सुनी नहीं। अतः भले ही उद्भट रतिवाची काम शब्द को रसाभास का कारण न मानें पर ध्वनि सिद्धान्त की परिस्थापना के उपरान्त यह सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती कि उन शब्दों के होने से इसमें पूर्ण आस्वाद नहीं आ पाता। आनन्दवर्द्धन का प्रश्न है कि क्या कभी श्रृंगार कहने से भी आज तक श्रृंगार रस की अनुभूति किसी को हो सकी है—"नहि केवलश्रृंगारादिशब्दमात्र-भाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति" (ध्वन्यालोक, १।४ वृत्ति)। वस्तुतः रस, स्थायिभाव और विभावादि में से एक अथवा अनेक का नामोल्लेखन कर देने से रसानुभूति क्षीण हो जाती है। यह सम्भव है कि उचित रस सामग्री के पूर्णतः विद्यमान होने की अवस्था में सामान्य सहृदय इस प्रकार की स्वशब्दवाच्यता से अप्रभावित रह जाए, किन्तु यह रस सामग्री में क्षीणता होने पर रस को विनष्ट करने में विशेष सहायक सिद्ध होती है। प्रस्तुत उदाहरण में यदि शिव की कामवृत्ति व्यंजना द्वारा प्रदर्शित की जाती तो यह रसाभास होने से बच सकता था। इस प्रकार यहां स्वशब्दवाच्यता रसाभास होने में सहायक सिद्ध हुई है, क्योंकि उसने शिव के अनुचित कर्म को अधिक नग्न रूप में प्रकट कर दिया है।

के उदाहरण ही ऊर्जस्वि-अलंकार के उदाहरण सिद्ध किए हैं।[1]

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण के आधार पर ऊर्जस्वि-अलंकार (रसाभास) के सम्बन्ध में निम्नोक्त निष्कर्ष द्रष्टव्य हैं :

(१) जहां कोई व्यभिचारि-भाव प्रधान होकर स्थायि-भाव को हतप्रभ कर दे अर्थात् जहां सीमातीत भाव प्रदर्शित किया जाए वहां ऊर्जस्वि-अलंकार होता है।

(२) जहां शास्त्र-विरुद्ध अथवा लोक-विरुद्ध कोई भाव हो वहां अनौचित्य होता है और उसके उपनिबन्धन से ऊर्जस्वि-अलंकार होता है।

(३) काव्य में ऐसे कथन की प्रत्यक्ष योजना से जो लोक में अतिचार उत्पन्न करते हैं—ऊर्जस्वि-अलंकार होता है। कारण, यह अनौचित्य को और अधिक पुष्ट करता है। यह बात उद्भट ने स्पष्टतः नहीं कही, किन्तु उन द्वारा प्रस्तुत उदाहरण इस तथ्य का द्योतक अवश्य है।

(४) इन तीनों रूपों में स्वीकृत ऊर्जस्वि अलंकार का दूसरा नाम है अंगभूत-रसाभास।

(५) किन्तु अंगीभूत रसाभास उक्त अंगभूत रसाभास (ऊर्जस्वि-अलंकार) से भिन्न है। यहां यह उल्लेखनीय है कि इन अलंकारवादी आचार्यों ने ऊर्जस्वी अलंकार वहां स्वीकार किया है जहां रसाभास अंगीभूत रूप में वर्णित हो। अंगभूत रूप में वर्णित होने पर उद्भट ने इसे द्वितीय उदात्त अलंकार नाम दिया है। किन्तु आगे चल कर उक्त चतुर्थ निष्कर्ष परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया गया। आनन्दवर्द्धन और उनके अनुयायी मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने ऊर्जस्वि-अलंकार वहां स्वीकार किया जहां रसाभास अंगभूत रूप में वर्णित हुआ हो।[2] मम्मट ने उसे गुणीभूत व्यंग्य काव्य के एक भेद अपरस्यांग के अन्तर्गत निरूपित किया है। यहां यह उल्लेखनीय है कि इस प्रकार द्वितीय उदात्त अलंकार की सत्ता ही नष्ट हो गयी—रसादीनामङ्गत्वे रसवदाद्यलंकारः अंगत्वे तु द्वितीयोदात्तलंकारः, तदपि परास्तम् (सा० द० १०।९७ वृत्ति)। हां, अंगीभूत रसाभास को इन्होंने अलंकार (चित्र-काव्य) का विषय न मानकर अंगीभूत रस के ही समान असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य नामक ध्वनि का ही एक भेद स्वीकार किया। हम आनन्दवर्द्धन की प्रस्तुत धारणा से ही सहमत हैं।

इधर हिन्दी के आचार्यों में केशव, देव, भिखारीदास, दूलह, पद्माकर, रसरूप, लछिराम, कविराजराव गुलाबसिंह, कविराजा मुरारिदान, कवि हरिचरणदास आदि ने ऊर्जस्वी अलंकार का निरूपण किया है। इन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत ऊर्जस्वी अलंकार के लक्षणों के आधार पर इन्हें निम्नोक्त वर्गों में रखा जा सकता है :

---

१. देखिए, अलंकार सर्वस्व, पृ० २३७।

२. (क) प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः॥ —ध्वन्यालोक २।५।

(ख) यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावः, तत्र कथमलङ्कारत्वम्। अलंकारो हि चारुत्व हेतु प्रसिद्धः। —वही।

(१) प्रथम वर्ग के अन्तर्गत भामह एवं दण्डी से प्रभावित केशव, देव और रसरूप आते हैं, जिन्होंने ऊर्जस्वी अलंकार का सम्बन्ध अहंकार अथवा गर्वोक्ति से माना है। इनके अनुसार गर्वोक्ति ही ऊर्जस्वी अलंकार है :

(क) तजै न निज हंकार को, यद्यपि घटै सहाय।
ऊर्ज नाम तासौं कहैं, केशव सब कविराय॥

—कविप्रिया ११।५१।

(ख) अहंकार गर्वित वचन सो ऊर्जस्वल होइ।
संज्ञा सों प्रगटै अरथ सूछम कहिये सोइ॥

—भाव-विलास ५।६०।

(ग) ऊर्जस्वी जहं कोप ते अहंकार अति होइ।
बरनत कवि कोविद सबै अलंकार यो सोइ॥ —तुलसी-भूषण।

भामह एवं दण्डी के उदाहरणों की समीक्षा करते हुए ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि गर्वोक्ति को ऊर्जस्वि अलंकार मानने का अर्थ है—रसांग का रस से प्रमुख हो जाना। यह तथ्य यहां भी यथावत् ग्राह्य है।

(२) द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत रसध्वनिवादियों से प्रभावित आचार्य भिखारीदास, पद्माकर, कविराजराव गुलाबसिंह, कविराज मुरारिदान, कवि हरिचरणदास, सरदार कवि, पं० रमाशंकर शुक्ल रसाल, किशोरीदास वाजपेयी आदि आते हैं।[१] इनके अनुसार रसाभास अथवा भावाभास जब किसी रस अथवा भाव का अंग बन जाता है (अर्थात् उक्त रस अथवा भाव का वह पोषक होता है) तब ऊर्जस्वि अलंकार होता है। चिन्तामणि कोषकार ने 'ऊर्जः बले' कहकर ऊर्ज नाम बल का कहा है। ऊर्जस्वि अर्थात् बल वाला। यहां बलवत्ता से अभिप्राय है दूषण होने के योग्य अनुचित रस का भूषण हो जाना। अनुचित रस रसाभास है।

(३) तृतीय वर्ग के अन्तर्गत दूलह एवं भानु कवि हैं जिन्होंने रसाभास अथवा भावाभास तथा उनके अनिवार्य प्राय लक्षण अनौचित्य को ही ऊर्जस्वि अलंकार माना है।

(क) जहां अनुचित सो प्रवृत्त रसाभाव तहां रसाभास, भावाभास 'ऊर्जस्वी' गनायो है। —कवि-कुलकण्ठाभरण, पृ० ३१।

---

१. (क) काहू कौ अंग होत रस, भावाभास जु मित्त।
ऊरजस्वी भूषन कहें, ताहि सुकबि धरि चित्त॥ —काव्य-निर्णय, । ५।१२।

(ख) ये दुहुं तहं अंग और के सु ऊर्जस्वि पहिचान। —पद्माभरण, २६५।

(ग) रसभास जहं अंग भास को होय बर।
—ललित-ललाम की टीका के उपसंहार में, पृ० २०६।

(घ) जसवन्त-भूषण, पृ० २६८।

(ङ) उर्जस्वित रस भाव में, अंग दुहु आभास। —चमत्कार-चन्द्रिका, ४५२।

(च) अलंकार पीयूष, पृ० ३५७।

(छ) रस और अलंकार, पृ० ८४।

(ख) रसाभास वा भावाभास, ऊर्जस अलंकार परकास।—रसरत्नाकर, पृ० १०४।

(४) चौथे वर्ग में उन लोगों को रखा जा सकता है जिन्होंने रसाभास और ऊर्जस्वि के वास्तविक स्वरूप एवं इनके पारस्परिक सम्बन्ध को निर्भ्रान्त रूप में नहीं समझा। उदाहरणार्थ शान्तिलाल जैन बालेन्दु के अनुसार "जहां कोई भाव किसी भाव या रसाभास का अंग बन कर आवे वहां ऊर्जस्वित अलंकार होता है।" इस प्रकार की धारणा अशास्त्रीय एवं अमान्य है।

अतः रीति आचार्यों द्वारा प्रस्तुत ऊर्जस्वि अलंकार के उदाहरणों की समीक्षा चार शीर्षकों के अन्तर्गत की जा सकती है :

(अ) किसी रसांग का रस से अधिक प्रबल हो जाना।
(आ) रसाभास का किसी रस अथवा भाव का अंग होना।
(इ) अनौचित्य।
(ई) रस का रसाभास का अंग होना।

इन चारों के विवेचन से रसाभास के स्वरूप पर किञ्चित् और अधिक प्रकाश पड़ेगा।

(अ) किसी रसांग का रस से प्रबल हो जाना

केशव द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए :

को बपुरा जो मिल्यौ है बिभीषण
ह्वै कुलदूषण जीवैगो कौलौं।
कुंभकरन मर्यौ मघवा रिपु
तौहु कहा न डरौं यम सौं लौं॥
श्री रघुनाथ के गातन सुन्दरि
जानहि तूं कुशलात न तौ लौं।
शाल सबै दिगपालन को कर
रावण के करवाल है जौ लौं॥ —कविप्रिया, ११।५२।

रावण मन्दोदरी से कहता है, हे सुन्दरि ! क्या हुआ जो विभीषण शत्रु से जा मिला तथा कुम्भकर्ण और मेघनाद मारे गये, क्योंकि मैं एक तो क्या सौ यमराजों से नहीं डरता। जब तक दिग्पालों को सालने वाली मेरी तलवार मेरे पास है तब तक तू राम की कुशल मत समझ। इस प्रकार इसमें असहाय होने पर भी रावण का अपने अहंकार को न छोड़ना वीराभास का ही उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसी प्रसंग में देव ने ऊर्जस्वल का निम्नोक्ति सवैया प्रस्तुत किया है :

देव दुरन्त दवा अंचयो जिहि कालिय कीलै धर्यो सुख वहै है।
कौ लौं बकौ हौं बकी बक वच्छ, अधादिक को अघु कै कै अघैहै॥
कान्ह के आगे न काहू को कोप कहूं कबहूं निबह्यौ न निबैहै।
छाड़ि दै मान री मान कह्यौ कहुं भानु पै तेज कृसानु को रैहै॥
—भावविलास, ६१।

यहां एक कोपशीला गोपिका अपने उद्धत अहंकार में कृष्ण से मान किए पड़ी है। उसकी सखी उसे समझाने का प्रयत्न कर रही है कि कृष्ण के सम्मुख (आज तक) किसी का भी कोप निभ नहीं सका है। जिस प्रकार सूर्य के तेज के सम्मुख अग्नि की ज्वाला क्षुद्र है, उसी प्रकार तुम्हारा यह कोप कृष्ण के सम्मुख सर्वथा व्यर्थ है। सामान्यत: मान का वर्णन कविगण शृंगार के उद्दीपन के रूप में करते हैं। किन्तु यहां वह गर्व अथवा क्रोध के आलम्बन के रूप में विद्यमान है। देव के अनुसार यही अहंकार ऊर्जस्वि का अनिवार्य लक्षण है। रसाभास की शास्त्रीय व्याख्या के अनुसार यहां शृंगार गर्व नामक व्यभिचारि-भाव से हतप्रभ हो गया है। इसी प्रकार का एक उदाहरण देव ने शब्दरसायन में भी प्रस्तुत किया है :

नातो कहा तुम सों, तुम को हौ जु 'देव' छुवो कछु अंगन वाको,
क्यों छुवो अंग पै देखत है जु, जराउ, तरचौना मैं रूप रवा वको।
कौने कह्यौ है बिजायठो बांधन, यों गिरि जाति न डोरु झंवा को,
लाल पढ़े लड़वावरी बातैं, हौं ठंठ गिनौंगी न नन्द बबा को।

—शब्द-रसायन, पृ० ११६।

यहां भी कोप की व्यञ्जना रति की अपेक्षा अधिक प्रबल हो गयी है। किन्तु तुलसी-भूषण में रसरूप द्वारा प्रस्तुत गीतावली एवं कवित्तरामायण से उद्धृत ऊर्जस्वि अलंकार के उदाहरणों में गर्व की प्रधानता होने पर भी रसाभास नहीं है :

जो तुम्हा अनुशासन पाऊं, कंदुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊं।
काचे घट जिमि डारो फोरी, सकौ मेरू भूलक इव तोरी।
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं, जोजन सत प्रमान ले धावों।
तोरौ छत्र के दंड जिमि तप प्रताप बल नाथ
जो न करो प्रभु पद सपथ फिर न धरो धनु मांथ।

उपमा गर्वित है। पुनः

आए उतरि कारन के मारे राम लषन से मनुज बेचारे।
—अब जो हौं अनुशासन पाऊं।
तौ चन्द्र माहि निचोइ चैल ज्यौं, आनि सुधा सिर नाऊं।
कै पाता दह्यौ व्यालावलि, अमृत कुंड महि ल्याऊं।
भेदि भुवन करि भानु कहि रे उतर राहु दे ताऊ।
विवुध वैद आनौं बरवस धारितौ प्रभु अनुग कहाऊ।
पटकौं नीच मोच भूषक ज्यौं सबको पाप बहाऊं।
तुम्हारी कृपा प्रताप तुम्हारे नैक विलंब न लाऊं।
दीजे प्रभु आप सु तुलसी प्रभु जैहि तुम्हरे मन भाऊं॥

—गीतावली।

—आजुहि कोसलराज के काज त्रिकूट उखारि लै वारिध बौरौं।
महाभुजदण्ड द्वै अंड कठाह चपेटि के चोट चटाक दै फौरौं।

आयसु भंग ते जो न डरो सब मीजि सभासद श्रोनित धारौं।
वालि को बालक तुलसी दसहू मुष के रन में रद तौरौं।
—कवित्त-रामायण

वस्तुत: किसी सत्पात्र के पक्ष में वर्णित गर्व उसने महत्त्व से ही अधिर बढ़ाना है। उससे रसाभास की सम्भावना नहीं होती।

(आ) रसाभास का किसी रस अथवा भाव का अंग होना

सिद्धान्तत: ये उदाहरण रस अथवा भाव के हैं, तथा रसाभास और भावाभास इन रसों अथवा भावों के अंग हैं। दास आदि कतिपय आचार्यों ने इसी प्रकार के उदाहरण दिए हैं। बानगी के लिए देखिए :

दारिद-बिदारिबे की प्रभु कों तलास तौ-
हमारे ह्यां अनगन दारिद की खांनि है।
अघ की सिकारी जौ है नजर तिहारी तौ-
हों तन मन पूरन अघनि राख्यो ठानि है।
दास निज सम्पत्ति जु साहब के काम
आएें होत हरखित पूरो भाग अनुमांन है।
अपनी बिपति कों हजूर हौं करत लखि
रावरे की बिपति विदारन की बानि है ॥ —काव्य निर्णय ५।१५।

दास जी के अनुसार यहां दानवीर का रसाभास दीनता भाव का अंग है। इस पद में एक ओर तो कवि प्रभु की दानवीरता का उल्लेख करना चाहता है और दूसरी ओर अपनी दीनता का प्रदर्शन। इसके रचयिता ने इसको दानवीर का रसाभास सम्भवत: इसलिए माना है क्योंकि प्रभु कुपात्र (पापी) व्यक्तियों पर दया करता है। कुपात्र (पापी) पर दया करना महान् अनौचित्य है। किन्तु अन्तत: प्रभु का यह अनौचित्य कवि की दीनता की अभिवृद्धि करता है और अधिक दीन सिद्ध करने में सहायक होता है। कवि ने इसीलिए इसे ऊर्जस्वि अलंकार की संज्ञा प्रदान की है। किन्तु हमारी सम्मति में उक्त पद कवि की दीनता का भी आभास-मात्र प्रस्तुत करता है। अपने को अत्यधिक पापी कहना पाठक पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं डालता। भक्ति की दृष्टि से ऐसा करना भले ही अभीष्ट हो किन्तु सामान्यत: यह वर्णन अनुचित प्रतीत होता है। ऐसी दशा में इसे रसाभास अथवा भावाभास का उदाहरण ही स्वीकार किया जाना चाहिए। इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण देखिए जिसमें भावाभास किसी रस का अंग बन गया है :

ऊधौ, तहांई चलौ लै हमें जहाँ कूबरी-कान्ह बसें इक ठौरी।
देखिऐ दास अघाइ अघाइ तिहारे प्रसाद अनूपम जोरी ॥
कूबरी सौं कछु पाइये मंत्र लगाइए कान्ह सों प्रेम की डोरी।
कूबर-भक्ति बढ़ाईऐ बृन्द चढ़ाईऐ चन्दन बंदन रोरी ॥
—काव्य-निर्णय, ५।१३।

दास जी के अनुसार कुब्जा का मुख देखने की उत्कण्ठा, मंत्र लेने की चिन्ता और कूबड़ का भक्ति-भाव ये तीनों भावाभास बीभत्स रस के अंग हैं। सामान्यतः इस प्रकार के उदाहरण बीभत्स रस के अन्तर्गत परिगणित होते हैं किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में उससे बीभत्स की अनुभूति होनी अनिवार्य नहीं। यह कथन यद्यपि गोपियों ने कृष्ण पर व्यंग्य के रूप में कहा है तथापि कृष्ण के प्रति उनके चित्त में घृणाभाव नहीं है, कृष्ण के अनौचित्य को प्रकट कर देने के पश्चात् भी वे उसकी पुजारिन हैं। वस्तुतः पाठक इसप्रकार के स्थलों से गोपियों की वाक्-कुशलता से प्रभावित होता है। भिखारीदास द्वारा प्रस्तुत तीसरा उदाहरण भी द्रष्टव्य है :

चंदन-पंक लगाइकें अंग जगावत आगि सखी बरजोरें।
ता पर दास सुवासन ढारि कै देति है बारि बयारि झकोरें।
पापी पपीहा न जीहा थकै तऊ पी पी पुकार बकै उठि भोरें।
देत कहा है दहे पै दाह जु गई करि जाहु दई के निहोरें॥

दास के अनुसार पपीहा से दीनता भावाभास है। वह विषाद भाव प्रलाप दशा का अंग है। पाठक प्रलापावस्था से पूर्णतः तादात्म्य कर लेता है।

कुलपति, पद्माकर, श्री कविराज गुलाबसिंह, कवि हरिचरणदास, कविराज मुरारिदान, पं० रमाशंकर शुक्ल रसाल एवं किशोरीदास वाजपेयी ने प्रायः एक से उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिनमें उनके अनुसार श्रृंगार भाव, वीररस अथवा राज-रति आदि किसी भाव विशेष का अंग बना है। उदाहरण देखिए—

—इक चुम्बत इक कर गहत आलिंगत भरि बांह।
तुम बैरिन की बान बन भ्रमति फिरति बिन नांह॥ —कुलपति

—सुनि रन मंह तुव धनुषरव, गे रिपु सागर-पार।
रिपुरानी बन बन फिरति, तिन सों रमत गंवार॥[1]

—पद्माभरण, २९६।

—बन बन भीलन संग रमत तुव बैरिन की बाम
अरु अरि तुव गुन गनत निति प्रबल प्रतापी राम।[2]

—ललित-ललाम, पृ० २१०।

—नृप तुव बेरि तियान को भील रमत सहुलाय,
तुव सुभटन अरि की तिनय लरिकें लीन छीताय
शत्रु करत तारिक सब, तुव अग्या को पाय॥[3]

—चमत्कार चन्द्रिका, पृ० ४५३।

---

१. यहां गंवारनिष्ठ श्रृंगार रसाभास दैन्य संचारीभाव को अंग भयो।
—पद्माभरण, २९६ (वृत्ति)

२. इहां प्रभुविषयक रति भाव को अंग रसाभास है, या तै ऊर्जस्वित है।
—ललित-ललाम (गुलाबसिंह) २१०।

३. (क) हे नृपति! तू प्रतापी है सो राज रतिभाव अंगी है,

—हरत जु विविन पुलिंद पर नृप अरि तिय तिहंवार।
होत जु वहै अनंग जुत, अद्‌भुत अंग निहार।।
—जसवन्त-भूषण, पृ० ३६६।

—लखि वन फिरत पुलिंद, नृप तो अरि ललनान सों।
प्रेम करत स्वच्छन्द, तजि निज प्रिय वनितान कों।।
—अलंकार-पीयूष, पृ० ३५७।

—अरि कलत्र को देख भील जन तव वन वन में।
शिव शिव! करते हंसी, कुपति होते पति मन में।।
—रस और अलंकार, पृ० ८४।

यदि इन सभी उदाहरणों को वीराभास, राजरत्याभास अथवा शृंगाराभास का उदाहरण समझा जाए तो शास्त्रीय दृष्टि से अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि कवि का प्रयोजन इसी वीरता अथवा राजरति को प्रकट करना रहा है जो वस्तुतः प्रकट नहीं हो सकी है। सच तो यह है कि रसाभास सफलतापूर्वक रस अथवा भाव का अंग प्रबन्ध काव्यों में ही हो सकता है। किसी मुक्तक में अंग-अंगी की योजना एक कठिन कर्म है। कुशल कवि ही इस प्रकार की योजना करने में समर्थ सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए बिहारी के निम्नोक्त पद इस प्रकार के सुन्दर उदाहरण हैं जिनमें रसाभास राजरति का अंग बना है। पाठक राजरति का भी आस्वाद करता है—

—चलत पाइ निगुनी गुनी धनु मनि-मुत्तिय-माल।
भेंट होत जयसाहि सौं भागु चाहियतु भाल।।
—बिहारी रत्नाकर, १५६।

—रहति न रन, जयसाहि-मुख लखि, लाखनु की फौज।
जांचि निराखरऊ चलै लै लाखनु की मौज। —वही, ८०।

इसी प्रकार तुलसीदास प्रस्तुत एक उदाहरण देखिए :

देखि रूप मुनि बिरति बिहारी।
बड़ी बाट लागि रहे निहारी।।

सरदार कवि ने इसे मानस रहस्य में ऊर्जस्वी के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। इनका कथन है कि "इहां मुनि में रति अनुचित सो हास्य अंग याते रसाभास"।

ताको तुव शत्रुन की तियन भील रमत यह अनुचित वर्नन तें शृंगार रसाभास अंग भयो चाहें ऊर्जस्वितालंकार।

(ख) या में है राज् तिहारे सुमरन बहुत संग्राम कीनो, या तें शत्रु पराजय कों प्राप्त भये, सो विररस अंगी है, या को अरिकुल स्तुति करे है, यह अनुचित वर्नन तें शत्रु रति भावाभास अंग भयो, या तै ऊर्जस्वितालंकार।
(च० चि०, ७२)।

(इ) अनौचित्य

कविकुलकण्ठाभरण में श्री दूलह कवि कृत ऊर्जस्वि अलंकार का उदाहरण देखिए :

बसन चुराकर जाय के कदम्ब बैठे,
गोपिका बिबास देखि त्रास हास छायो है ।

श्रीकृष्ण का गोपियों के वस्त्र आदि चुराकर कदम्ब वृक्ष पर बैठ जाना और उन्हें नग्न ही जल से बाहर निकलने को बाध्य कर देना नैतिकता की दृष्टि से अत्यधिक अनुचित है । किन्तु सामान्यतः पाठक इससे रसाभास के स्थान पर लौकिक शृंगार की अनुभूति करता है । इस प्रकार के प्रसंगों को पढ़ते हुए कृष्ण हमारे सम्मुख अलौकिक चरित्र से युक्त होकर उपस्थित नहीं होते, वरन् वे एक रसिया होते हैं । पाठक भी रसिया बनकर वैसी अनुभूति करने में समर्थ होता है । हां, यदि किसी पाठक को इससे अनौचित्य प्रतीत होता है तो यह रसाभास अथवा ऊर्जस्वि अलंकार का उदाहरण अवश्य होगा ।

(ई) रस का रसाभास का अंग होना

हिन्दी काव्य-शास्त्र में आचार्य शान्तिलाल जैन 'बालेन्दु' द्वारा प्रस्तुत ऊर्जस्वि-अलंकार का उदाहरण देखिए : "हे कल्याणकारी महादेव ! तू मुझे दर्शन दे । तेरे दर्शन-मात्र से मेरा जन्म सफल हो जाएगा क्योंकि तैने अपने क्रोधानल से कंदर्प आदि महा शत्रुओं को भस्मीभूत कर दिया है ।" बालेन्दु जी का कथन है कि यहां प्रभु शंकर-विषयक रतिभाव रौद्र रसाभास का अंग बन गया है, अतः यहां ऊर्जस्वित अलंकार होगा । किन्तु हमारे विचार में शंकर के तृतीय नेत्र से काम को भस्म होता हुआ देखकर भक्त कुतूहल का-सा अनुभव करता है । अतः इसे यदि रसाभास का किसी रस अथवा भाव का अंग होने के कारण ऊर्जस्वि अलंकार का उदाहरण स्वीकार करें तो अधिक उपयुक्त होगा । ऐसा प्रतीत होता है कि कोई काम-संतप्त पुरुष शिव के दर्शनों की कामना कर रहा है । उसकी अभिलाषा है कि शिव दर्शन देकर काम को भस्म कर दें । हमारे विचार से यह प्रसंग रौद्र रसाभास का न होकर शंकर विषयक रतिभाव का ही है । शंकर के प्रति भारतीय पाठक के चित्त में एक महान् आस्था विद्यमान है ।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर अन्ततः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यद्यपि ऊर्जस्वि अलंकार के वर्णन से रसाभाव के शास्त्रीय स्वरूप के सम्बन्ध में कोई नूतन उपस्थापना उपलब्ध नहीं होती तथापि इस प्रसंग में प्रस्तुत उदाहरणों से रसाभास का विषय अधिक स्पष्ट हुआ है ।

(ख) अन्य अलंकार

संस्कृत काव्य-शास्त्र में अलंकारों को अनेक वर्गों में रखने का प्रयास किया है, पर अभी तक उसका कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं हो सका । 'एकावली' की तरल

टीका के कर्त्ता मल्लिनाथ ने रुय्यक और विद्याधर के वर्गीकरण का आधार लेकर पाठकों के लिए उसे सुबोध रूप दिया है। मल्लिनाथ के अनुसार उक्त आचार्यद्वय का वर्गीकरण इस प्रकार है—

(१) सादृश्यमूलक-अलंकार-वर्ग।
(२) औपम्यगर्भ-अलंकार-वर्ग।
(३) विरोधागर्भ-अलंकार-वर्ग।
(४) शृंखलाकार-अलंकार-वर्ग।
(५) न्यायमूलक-अलंकार-वर्ग।
(६) गूढार्थप्रतीतिमूलक-अलंकार-वर्ग

इनमें से किसी भी एक वर्ग के साथ रसाभास का प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। किसी रस-प्रसंग में इनमें से अन्तिम तीन वर्गों में से किसी अलंकार का प्रयोग रसाभास की उत्पत्ति में सहायक होगा। क्योंकि इनका सम्बन्ध चित्त संवाद के साथ न होकर बुद्धि के साथ अधिक है।

रसाभास और अलंकार के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में आचार्य हेमचन्द्र का कथन है कि समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, श्लेष आदि अलंकार रसाभास के जीवित हैं।[१] समासोक्ति अलंकार में प्रस्तुत के प्रति अप्रस्तुत का व्यवहार प्रदर्शित किया जाता है।[२] इसमें निरिन्द्रिय गत भाव का प्रदर्शन होने के कारण रसाभास की सम्भावना प्राय: अनिवार्य है।[२] एक उदाहरण देखिए :

व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनाया
वक्षोजयोः कनककुम्भविलासभाजो: :
आलिंगसि प्रसभमंगमशेषमस्या
धन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाह ॥

—साहित्यदर्पण, १०।५७।

अर्थात् हे मलयानिल! तुम इस कमलनयनी के सुवर्णकलश तुल्य कुचों के वस्त्र को झिटककर दृढ़तापूर्वक इसका सर्वांगीण आलिंगन करते हो, अतः तुम धन्य हो। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई मनुष्य केवल इसलिए दु:खी हो रहा है कि मैं तो प्रिया के स्तनों का स्पर्श कर नहीं पा रहा हूं, यह मलयानिल क्यों कर रहा है? निश्चय ही इस प्रकार के शोक की अनुभूति रसाभास का विषय है। इस प्रकार के वर्णन बुद्धि पर कोई अनुकूल प्रभाव नहीं डालते। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा तथा अर्थान्तरन्यास ये अलंकार

---

१. रसाभासस्य भावाभासस्य च समासोक्त्यर्थान्तरन्यासोत्प्रेक्षारूपकोपमाश्लेषादयो जीवितम्। —काव्या० २।५४।

२. (क) जहं प्रस्तुत में पाइऐ, अप्रस्तुत कौ ग्यांन। —काव्य-निर्णय १२।१९
(ख) समासोक्ति प्रस्तुत-विषै, अप्रस्तुत को ज्ञान
कर पसारि ससि मालतिहि, परसत कला-निधान —पद्माभरण, ९९।

सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग के हैं। मनोविज्ञान का यह एक मान्य सिद्धान्त है कि हमारी बुद्धि दो पदार्थों में सर्वथा एक-सी कल्पना करने में असमर्थ रहती है। इसके अतिरिक्त यह सादृश्य प्रायः चेतन एवं अचेतन तत्त्वों के मध्य प्रदर्शित किया जाता है। इसलिए भी यह सादृश्य बहुत अनुकूल प्रभाव उत्पन्न नहीं करता। श्लेष स्पष्टतः एक बुद्धिमूलक चमत्कार प्रधान अलंकार है। उसके प्रयोग से प्रायः अंगी-रस के साथ विरोधी अंग-रस का प्रयोग होता है। परिणामतः यह रस के प्रवाह में एक घातक तत्त्व सिद्ध होता है। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि हेमचन्द्र द्वारा प्रयुक्त 'जीवित' शब्द का अभिप्राय यह नहीं कि जहां ये अलंकार होंगे वहां रसाभास अनिवार्य होगा, अथवा इनके अभाव में रसाभास नहीं होगा प्रत्युत इसका अर्थ यह है कि ये अलंकार रसाभास उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

यहां यह एक शंका उत्पन्न होती है कि कविगण इस प्रकार के अनेक अलंकारों का प्रयोग अपने काव्य में करते आये हैं और इनसे रस के मार्ग में बाधा प्रायः उत्पन्न नहीं हुई। इसके दो मुख्य कारण हैं :

(१) समर्थ कवि अपने सामर्थ्य से काव्य में इन अलंकारों का इस प्रकार से संयोजन करता है कि वे अलंकार अरुचिकर प्रतीत नहीं होते।

(२) काव्य का निरन्तर अध्ययन और मनन करने वाला सहृदय इन अलंकारों से इतना परिचित हो चुका होता है कि उसे ये अलंकार सामान्य उक्तियां प्रतीत होती हैं; और जब भी कोई कवि अपनी मौलिकता स्थापित करने के लिए परम्परागत उपमानों की उपेक्षा कर नवीन उपमानों का प्रयोग करता है तभी सहृदय उनके साथ तादात्म्य स्थापित करने में असमर्थ रहता है। केशव द्वारा रचित रामचन्द्रिका में इस प्रकार के अनेक नवीन उपमानों का प्रयोग किया गया है, परिणामतः वह रसध्वनि की अपेक्षा अलंकारध्वनि की दृष्टि से ही उत्कृष्ट रचना है। सीता के रूप को अद्वितीय बतलाने की इच्छा में वह मुख के प्रसिद्ध उपमान चन्द्र की उपेक्षा कर देता है :

कलित कलंक केतु, केतु अरि सेत गात
भोग योग के अयोग रोग ही को थल सो।
पूयोई को पूरन पै आन दिन ऊनो ऊनो
छन छन छीन होत छीलर के जल सो
चन्द्र सो जो वरनत रामचन्द्र की दोहाई
सोई मतिमंद कवि केशव कुसल सो।
सुन्दर सुवास अरु कोमल अमल अति
सीता जू को मुख सखि केवल कमल सो॥

—रामचन्द्रिका, ९।४१।

इससे सीता के रूप का तो कोई चित्र पाठक के सम्मुख उपस्थित होता नहीं, इसके विपरीत चन्द्रमा को श्वेतांग (कुष्ठ रोगी), भोग-योग के अयोग्य (जिसकी ध्वनि यह कि जगज्जननी सीता भोग के योग्य हैं, रूप वर्णन में यह मांसलता।) और क्षय

रोग वाला बतलाने से यह प्रसंग पाठक की अरुचि का विषय बन जाता है। इसी प्रकार 'किधौं कोई ठग हों ठगौरी लीन्हे किधौं तुम' (रामचंद्रिका ६।३४) में राम के लिए ठग की कल्पना करना पाठक पर कोई अनुकूल प्रभाव उत्पन्न नहीं करता। सूर्य के विषय में यह कहना 'के श्रोणित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को' (रामचन्द्रिका ६५।१०) सूर्य की लालिमा को प्रकट न कर किसी कापालिक के हाथ में किसी के रक्त से भरे सिर का ही चित्र आंखों के सम्मुख उपस्थित होता है।

हमारे उक्त कथन की पुष्टि इस तथ्य से और अधिक हो जाती है कि आधुनिक कवि (प्रयोगवादी एवं नई कविता के कवि) जिन नूतन उपमानों का प्रयोग कर रहे हैं, सहृदय सदा उनके साथ साधारणीकरण करने में असमर्थ रहता है।

हमारे विचार में अत्युक्ति (कभी-कभी अतिशयोक्ति भी) अलंकार एक ऐसा अलंकार है (प्रख्यात पात्रों के विषय में प्रयुक्त अत्युक्ति को छोड़कर) जिसमें रसाभास प्राय: अनिवार्य होता है। इसमें प्राय: किसी असम्भव तत्त्व का वर्णन रहता है, जिसके साथ सहृदय साधारणीकरण करने में असमर्थ रहता है। कुछ उदाहरण देखिए :

बाल बिलोचन बारि के बारिधि बढ़ै अपार।
जारे जो न बियोग की बड़वानल की झार।।

—ललित-ललाम, ३८३।

भिखारीदास द्वारा प्रस्तुत उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति का उदाहरण देखिए—

दास कहां लौं कहों में वियोगिनी के तँन तापन की अधिकाई।
सूखि गए सरिता, सर, सागर, सर्ग पताल धरा-अकुलाई।।
काम के बस्य भयों सिगरौ जग, जाते भई मनो संभु-रिसाई।
जारि के, फेरि संवारन कों छिति के हित पावक-ज्वाल बढ़ाई।।

—काव्यनिर्णय ११।३१

भोजन के निर्माण का वर्णन अपने आप में कोई सरस (काव्य में) विषय नहीं है, और यदि कोई कवि ऐसा कह दे—आल्हा-ऊदल की खिचड़ी मां, परिगै सवा लाख मन हींग।'

पृथ्वी राज रासो के ६६वें समय में रावल जी की खातिरदारी में कितना अन्नादि व्यय हुआ इसका ब्यौरा देखिए :

सीधौ मन ले पंच, साक पल्लव तैलास्रम।
दही-दूध अनपाह, घृत मन असी अनोपम।
मैदा मन पचास, बीस मन बेसन दीनौ।।

(—पृथ्वीराज-रासो, २११८)

यहां कवि को यह ध्यान नहीं रहा कि जिस भोज में पांच मन आटा, पचास मन मैदा तथा बीस मन बेसन लगा होगा उसमें अस्सी मन घी नहीं लग सकता। रीतिकालीन कवियों ने विरह एवं नायिका की सुकुमारता का वर्णन करते हुए इसी अतिशयोक्ति का प्रयोग किया है। फलतः प्रायः वे सभी स्थल रसाभास के अन्तर्गत परिगणित होते

हैं।[1] अन्य अलंकारों में भी रसाभास का कारण अन्ततः यही अतिशयोक्ति (असम्भावना) ठहरती है। उदाहरणार्थ भिखारीदास द्वारा प्रस्तुत असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण देखिए :

विरहिन के अँसुवान ते भरँन लग्यौ संसार।
मैं जान्यों मरजाद-तजि उँमग्डयौ सागर-खार॥

—काव्य-निर्णय, ९।१३।

अन्त में निष्कर्ष रूप में इतना कहना पर्याप्त है कि रस को हानि पहुंचाने वाला प्रत्येक अलंकार रसाभास उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध होता है। अलंकारों का प्रयोजन चमत्कार की उत्पत्ति है, जिसका प्रभाव हृदय की अपेक्षा बुद्धि पर अधिक पड़ता है। जब कोई रसमय उक्ति किसी अलंकार विशेष से मण्डित हो जाती है तो 'वाहवाही' करने के लिए (उसके चमत्कृत होने के लिए) बुद्धि को वहां पहुंचना होता है। हृदय के मार्ग में बुद्धि का यह अप्रत्यक्ष आगमन एक बाधा उत्पन्न करता है। अभिप्राय यह कि अलंकार का रस की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होना रस सिद्धान्त की दृष्टि से काम्य स्थिति नहीं है। रस सामग्री के विद्यमान होने पर इनका अधिक प्रयोग रसाभास की उत्पत्ति में सहायक सिद्ध होता है। कवि को काव्य में अलंकारों का प्रयोग करते हुए इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि उनके प्रस्तुत वर्णन से जो चित्र बनता है वह यथार्थता एवं स्वाभाविकता की मर्यादा का उल्लंघन न करे।

२. रसाभास और औचित्य-तत्त्व

औचित्य-तत्त्व के प्रतिष्ठापक आचार्य क्षेमेन्द्र हैं, पर इनसे पूर्व औचित्य का उल्लेख भरत, भामह, दण्डी, रुद्रट, आनन्दवर्द्धन, एवं राजशेखर कर चुके थे।[2] आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हुए कहा है—'उचित का जो भाव है वह औचित्य कहलाता है, जो वस्तु जिसके साथ सदृश हो (उसका वहीं उपस्थापन ही) वस्तुतः औचित्य है :

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥

—औ० वि० च० ७१।

---

१. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय ७, अत्युक्ति प्रकरण।
२. (क) नाट्यशास्त्र, १४।६८, २१।७३-७४।
(ख) काव्यालंकार १।५४, ४।१४।
(ग) काव्यादर्श ४।१०, ५७।
(घ) काव्यालंकार ५।५७, ११।६।
(ङ) ध्वन्यालोक ३।१४
(च) काव्यमीमांसा १।१७।

अर्थात् जो जहां उपयुक्त हो उसका वहीं विधान करना चाहिए, अन्यत्र नहीं। क्षेमेन्द्र ने काव्य के प्रत्येक अंग में औचित्य प्रदर्शित किया है :

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे।
क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे।।
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसङ्ग्रहे।।
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यथाऽशिषि।
काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्।।

—औ० वि० च० ८,९, १०।

अर्थात् पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, विचार, आशीर्वचन और काव्यांगों में औचित्य ही प्राण है। इनमें से पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल को छोड़कर शेष सभी में यदि औचित्य का ध्यान न रखा गया तो उससे रसाभास होने की सम्भावना होगी। क्षेमेन्द्र ने जहां इन तत्त्वों में अनौचित्य प्रदर्शित किया है, उनमें से अनेक उदाहरण रसाभास के अन्तर्गत परिगणित किए जा सकते हैं। उसके आधार पर रसाभास का मूल आधार अनौचित्य प्रायः वही है जो हम पीछे जगन्नाथ द्वारा निर्दिष्ट कर आए हैं।[1] यहां केवल रसों में औचित्य प्रदर्शित करते हुए क्षेमेन्द्र ने उसके अभाव में (अनौचित्य के होने पर) जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—उनका रसाभास से सम्बन्ध स्थापित करेंगे।

१. भरत ने श्रृंगार से हास्य की उत्पत्ति मानी थी, और आगे चलकर अभिनव गुप्त ने आभास से हास्य की उत्पत्ति स्वीकार की। सम्भवतः इन दोनों के ही प्रभावस्वरूप क्षेमेन्द्र ने श्रृंगाराभास को ही हास्य रस का औचित्य मान लिया है :

सीधुस्पर्शभयान्न चुम्बसि मुखम् किं नासिकां गूहसे ?
रे रे श्रोत्रियतां तनोषि विषमां मन्दोसि वेश्यां विना।
इत्युक्त्वा मदघूर्णमाननयना वासन्तिका मालती—
लीनस्यात्रिवसोः करोति वकुलस्यैवाऽसवासेचनम्।।

मालती लेटी हुई है और मित्रावसु उसके ऊपर झुककर खड़ा है, लेकिन उसके रसीले ओष्ठ का चुम्बन नहीं कर रहा। मालती ने कहा कि मघ के स्पर्श के भय से चुपचाप खड़े हो ? वासन्ती ने पीछे से कटाक्ष किया—अच्छे श्रोत्रिय बने हो कि साधारण-सा कृत्य भी वेश्या की सहायता के बिना नहीं कर सकते ? तो यह लो और उसने ब्राह्मण देवता पर मुंह में भरी शराब उगल दी। मानो सूखा बकुल भी श्यामल किया जा सकता हो। इसी प्रकार का एक और उदाहरण देखिए :

---

१. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ८५।

मार्गे केतकसूचिभिन्नचरणा सीत्कारिणी केरली,
रम्यं रम्यमहो पुनः कुरु विटेनेत्यर्थिता सस्मिता ।।
कान्ता दन्तचतुष्कबिम्बितशशिज्योत्स्नापटेन क्षणं ।
धूर्तालोकनलज्जितेव तनुते, मन्ये, मुखाऽच्छादनम ।।

मार्ग में चलते हुए नायिका के पैर में कांटा चुभा और उसके मुख से सीत्कार की ध्वनि निकल गयी। विट को यह ध्वनि बहुत अच्छी लगी, उसने एक बार पुनः सीत्कार करने की प्रार्थना की। बेचारी को लाज आई और उसके चार दान्तों से बिम्बित शशि-ज्योत्स्ना ने वस्त्र का कार्य किया। वस्तुतः उक्त दोनों पद्य न तो हास्य-रस का उदाहरण प्रतीत होते हैं और न इनसे हास्य-रस विषयक औचित्य की प्रतीति होती है। हमारी दृष्टि में इनमें से प्रथम उदाहरण शृंगाराभास का है और द्वितीय शृंगार का। किन्तु फिर भी क्षेमेन्द्र की यह धारणा है कि शृंगाराभास हास्य-रस का औचित्य प्रस्तुत करता है; एकांगी रूप से सत्य अवश्य है। किन्हीं स्थितियों में शृंगाराभास 'शृंगाराभास' ही रहेगा और किन्हीं स्थितियों में वह हास्य रस का औचित्य भी प्रस्तुत कर सकता है। किन्तु यहां ऐसा नहीं हुआ है।

२. विरोधी रसों का संयोजन रसाभास का उत्पादक है। करुण रस में अनौचित्य प्रदर्शित करते हुए कवि ने इसी संयोजन का विरोध किया है। पति की मृत्यु पर विलाप कर रही स्त्री केवल अपनी कामकलाओं को ही स्मरण करके रो रही है। देखिए :

हा शृंगारतरङ्गिणीकुलगिरे ! हा राजचूड़ामणे !
हा सौजन्य-सुधानिधान ! हहहा वैदग्ध्य-दुग्धोदधे।
हा देवोज्जयिनभुजंग युवतिप्रत्यक्षकंदर्प ! हा,
हा सद्-बान्धव, हा कलाऽमृतकर-क्वासि प्रतीक्षस्व नः ।।

इसमें प्रथम तो शोक के साथ रति का सम्मिश्रण हो गया है और दूसरे यह शोक केवल उसी में सीमित हो गया है। उसका विस्तार न हो सकने से वह सर्वसंवेद्य नहीं रहा। रौद्ररस में भी भयानक रस के सम्मिश्रण से अनौचित्य उत्पन्न हो गया है, और वह रस से आभास में परिवर्तित हो गया है :

दणुइन्दरुहिरलग्गे जस्स फुरन्तेणहप्पहाविछड्डे।
गुप्पन्ती विवलाआ गलिअब्बथणंसुए महासुरलच्छी ।।

३. किसी सत्पात्र में उत्साह की क्षीणता का प्रदर्शन रसाभास उत्पन्न करता है।[1] क्षेमेन्द्र ने इसी अनौचित्य को वीर रस में प्रस्तुत किया है :

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तताम्
युद्धं स्त्रीदमनेऽप्यखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते।
यानि त्रीणि कुतोमुखान्यपि पदान्याऽसनूखरायोजने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यभिज्ञो जनः ।।

---

१. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय ६, वीर-'रसाभास' प्रकरण

इसमें हम लव की वीरता के प्रशंसक अवश्य हैं पर मर्यादा पुरुषत्तोम के वीर चरित 'तारका वध, खर संघर्ष तथा बालिहत्या, आरोप की अशिष्टता से यह रसाभास ही है। बीभत्स के अनौचित्य में घृणा घृणित प्राणी (कुत्ते) में ही होने से यह घृणा अधिक से अधिक भावकोटि तक ही पहुंची है। इससे रसाभास भी हो सकता है। उदाहरण देखिए :

कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छ-विकलः
क्षुधा-क्षामो रुक्षः पिठरककपालार्दितगलः ।
व्रणैः पूतिक्लिन्नैः कृमिपरिवृतैराकृतनुः
शुनीमन्वेति श्वा तमपि मदयत्येषः मदनः ।।

४. अद्भुत रस में रसाभास, रहस्य के पता लग जाने से होता है। क्षेमेन्द्र ने अद्भुत रस के अनौचित्य में इसे ही प्रदर्शित किया है :

समस्ताश्चर्याणां जलनिधिरपारः सवसतिः,
ततोप्याश्चर्यं यत् पिबति सकलं तं किल मुनिः ।
इदं त्वत्याश्चर्यं लघुकलश-जन्मापि यदसौ ।
परिच्छेतुं को वा प्रभवति तवाश्चर्यं सरणिम् ।

इसमें सब आश्चर्यों का कारण ईश्वर को कहकर, आश्चर्य का रहस्य बताकर सारा आनन्द किरकिरा कर दिया है।

५. क्षेमेन्द्र ने रस संकर में भी अनौचित्य प्रदर्शित किया है। इस विषय में उनका निष्कर्ष आनन्दवर्द्धन का निम्नोक्त वाक्य है—

विरोधी वाविरोधी वा रसोङ्गिनि रसान्तरे ।
परिपोष न नेतव्यस्तेन स्यादविरोधिता ।।

रस विरोधी हो अथवा अविरोधी उसे अंगी रस से प्रमुख न होने दे। इसका विवेचन हम अन्यत्र कर चुके हैं।

उक्त सभी प्रसंगों का विचारपूर्वक विमर्श करने से यह प्रतीत होता है कि ये सभी उदाहरण रसाभास के ही हैं, क्योंकि इनमें औचित्य का अभाव (अनौचित्य) प्रदर्शित किया गया है। फिर भी यह धारणा अनिवार्यतः स्वीकार्य नहीं है कि हर प्रकार के औचित्य का अभाव रसाभास का आधार एवं कारण बन जाता है। किन्हीं स्थितियों में वह अनौचित्य का ही निर्देशक होने के कारण काव्य-दोष की क्षेत्र-परिधि में आ जाता है। निष्कर्ष रूप में केवल इतना कहना संगत है कि उपर्युक्त विवेचन के आधार पर रसाभास एवं औचित्य-सिद्धान्त का कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। हां, इतना अवश्य है कि क्षेमेन्द्र को रसाभास का ज्ञान था और रसों का अनौचित्य निर्धारित करते हुए उन्होंने अनौचित्य-जन्य आभास के कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।

३. रसाभास और काव्य-दोष

ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना से पूर्व गुण और दोष का स्वरूप उन्हीं के परस्पर

विपर्यय पर आधारित था,[1] किन्तु ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना के उपरान्त इनके स्वरूप का मूलाधार रस बन गया ।[2] गुण रस के उत्कर्षक हुए और दोष रस के अपकर्षक। दोष से सरस रचना का विघात तीन प्रकार से होता है :

(१) कहीं रस की प्रतीति नहीं होती ।

(२) कहीं रस के प्रतीयमान होने पर भी उसका अपकर्ष हो जाता है ।

(३) तथा कहीं रस की प्रतीति विलम्ब से होती है ।[3]

मम्मट ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रस्तुत दोष-भेदों का व्यवस्थित रूप देकर उन्हें मुख्य रूप से चार भेदों में विभक्त किया है :

(क) पदगत-दोष

(ख) वाक्यगत-दोष

(ग) अर्थ-दोष

(घ) रस-दोष

प्रथम तीन से रसाभास का वही सम्बन्ध है जो कि उनका रस से है । अर्थात् ये रस का अपकर्ष करते हैं । रसाभास के उदाहरण भी इन दोषों के होने पर अपकर्ष को प्राप्त करेंगे । रसाभास के उदाहरणों को देखने से यह ज्ञात होता है कि अनौचित्य से अभिप्राय अनुपयुक्तता नहीं है जबकि काव्यदोषों से अभिप्राय अनुपयुक्तता है । अर्थात् वर्णों, अलंकारों अथवा छन्दों के अनुपयुक्त प्रयोग रस पर मन्द और तीव्र प्रभाव डाल सकते हैं पर रस को भंग नहीं कर सकते । उदाहरणार्थ—अधिक पदत्व दोष देखिए—"सः उवाच वाचम्" यहां "वाचम्" पद अधिक है, "उवाच" कहना ही पर्याप्त था। वाणी के अतिरिक्त और कोई क्या बोलेगा । पर इस सूक्ष्मता को कोई विद्वान् पाठक ही जान सकता है । रसाभास के प्रसंग को पढ़ते हुए पाठक निरन्तर इस प्रकार का अनुभव करता हुआ दृष्टिगोचर होता है कि ऐसा न होता तो अधिक अच्छा था । यह क्यों हो रहा है ? आदि । अर्थात् हृदय के मार्ग में हमारी बद्धमूल भावनाएं आड़े आ जाती हैं, और वे बुद्धि का आश्रय लेकर रस का समुचित पान नहीं करने देतीं । पर शब्दों आदि के अनुपयुक्त प्रयोग से ऐसा कुछ नहीं होता । उसे समझना तो किसी काव्य-मर्मज्ञ का ही कार्य है । केवल आलोचक ही यह जान अथवा समझ सकता है कि यदि यह शब्द यहां पर विद्यमान न होता तो सम्भवतः रस की अनुभूति अधिक सफल होती । पर रस-दोषों पर सविस्तार विचार करना अनिवार्य है क्योंकि इनका रसाभास से पर्याप्त घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है । अतः यह पर्यवेक्षण अनिवार्य हो जाता है कि इनका

---

१. (क) नाट्यशास्त्र, १७।९५ ।
   (ख) गुणविपर्ययात्मनो दोषाः । —काव्यालंकार सूत्र०, २।१।१ ।
   (ग) दोषाः विपत्तये तत्र गुणाः सम्पत्तये यथा । —काव्यादर्श, प्रभा टीका, पृ० ३७४

२. ध्वन्या० २।११, ३।१८-१९ ।

३. दुष्टेषु क्वचिद्रसस्याऽप्रतीतिरेव, क्वचित्प्रतीयमानस्याऽप्यपकर्षः, क्वचित्तु विलम्बः । —काव्यप्रकाश (प्रदीप), पृ० १७०

अन्तर्भाव रसाभास में होना सम्भव है या नहीं, अथवा यह कि रसाभास को भी रस-दोष क्यों न मान लिया जाए ? मम्मट ने निम्नोक्त रस-दोष गिनाए हैं—

(१) व्यभिचारिभाव, रस तथा स्थायिभाव की स्व-शब्द-वाच्यता ।
(२) अनुभावों तथा विभावों की अभिव्यक्ति में कष्ट-कल्पना ।
(३) प्रकृत-रस के विरुद्ध विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव का वर्णन ।
(४) अंगभूत-रस की पुनः-पुनः दीप्ति ।
(५) अनवसर में रस-वर्णना ।
(६) अनवसर में रस-विच्छेद ।
(७) अप्रधान का अत्यन्त विस्तृत वर्णन ।
(८) प्रधान का विस्मरण ।
(९) प्रकृतिगत-औचित्य के प्रतिकूल-वर्णन ।
(१०) रस के अनुपकारक का वर्णन ।[1]

आनन्दवर्द्धन ने इनमें से प्रकृतिगत औचित्य के प्रतिकूल वर्णन को व्यवहार (वृत्ति) का अनौचित्य कहा है । व्यवहार के अनौचित्य से अभिप्राय है—जैसे नायक के प्रति किसी नायिका का उचित हावभाव के बिना स्वयं (शब्दतः) सम्भोगाभिलाषा । स्वयं सम्भोगाभिलाषा प्रकट करने से व्यवहार का अनौचित्य हो जाने के कारण रस-भंग होता है । इसी वृत्ति के ही अनौचित्य में आनन्दवर्द्धन ने भरत प्रसिद्ध कैशिकी आदि वृत्तियों का अथवा दूसरे भामह कृत काव्यालंकार (उस पर भामह विवरण) में प्रसिद्ध उपनागरिका आदि वृत्तियों के अनौचित्य अर्थात् अविषय में निबन्धन को रस-भंग का हेतु माना है ।

संस्कृत नाट्यशास्त्र में दिव्य, अदिव्य तथा दिव्यादिव्य ये तीन प्रकृति-भेद और धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत एवं धीरप्रशान्त—ये चार चरित्र-भेद माने गये

---

१. इन रसदोषों का वर्णन निम्नोक्त हिन्दी आचार्यों ने किया है—
(क) चिन्तामणि—कविकुलकल्पतरु ४।८४-८६ ।
(ख) कुलपति मिश्र—रस-रहस्य ५।४-१६ ।
(ग) कुमारमणि भट्ट—रसिक रसाल, पृ० ३६३ ।
(घ) सोमनाथ—रस-पीयूष-निधि (केवल प्रकृति विपर्यय का उल्लेख)
(ङ) भिखारीदास—काव्य-निर्णय, पृ० ६७६ ।
(च) जगतसिंह—साहित्य-सुधा-निधि ।
(छ) प्रतापसाहि—काव्य-विलास, छठा उल्लास ।
(ज) उजिआरे कवि—जुगल-रस-प्रकाश ।
(झ) जनराज—कविता-रस-विनोद ।
(ञ) रामदहिन मिश्र—काव्य-दर्पण ।
(ट) कन्हैयालाल पोद्दार—रस-मञ्जरी ।
(ठ) अयोध्यासिंह उपाध्याय—रस-कलस ।

हैं। प्रत्येक पात्र के व्यवहार का वर्णन उसकी अपनी प्रकृति तथा चरित्र के अनुकूल ही होना चाहिए, अन्यथा रसभंग की आशंका हो सकती है। उदाहरण के लिए, उत्तम पात्रों के विवृत शृंगार, धीरोदात्त नायक की कायरता, धीर-प्रशान्त के औद्धत्य आदि का वर्णन रस में व्याघात उत्पन्न कर देता है। 'रघुवंश' में शिव-पार्वती का सम्भोग; 'मेघनादवध' में रामलक्ष्मण की भीरुता; 'पद्मावत' में नागमती और पद्मावती का सपत्नीकलह; 'रामचरितमानस' में रावण की सभा में अंगद की अशिष्टता; 'साकेत' में दशरथ और कैकेयी के प्रति लक्ष्मण की उद्दण्डता; 'कामायनी' में इड़ा के प्रति मनु का पशु-व्यवहार आदि प्रकृति-विपर्यय के निदर्शन हैं—इनमें व्यवहार के अनौचित्य के कारण रसभंग होता है। हमारी सम्मति में—प्रकृतिगत-औचित्य के प्रतिकूल वर्णन—इस रस-दोष को रसाभास ही मानना चाहिए।

शेष उपर्युक्त रस-दोषों को देखने से ज्ञात होता है कि जब रस-सामग्री का परस्पर संयोजन दूषित रूप में प्रस्तुत होता है तभी रस-दोषों की स्वीकृति की जाती है। इस दृष्टि से महिमभट्ट की अर्थ-विषयक अनौचित्य की व्याख्या रस-दोष की परिभाषा है—'तत्र विभावानुभावव्यभिचारिणामयथायथं रसेषु यो विनियोगस्तन्मात्र-लक्षणमेकमन्तरङ्गमाद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते'—अर्थात् रस में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का अनुचित नियोजन अर्थ विषयक अनौचित्य का सम्बन्ध मुख्यतया रस से है अतः वह अन्तरंग अनौचित्य कहलाता है।

रस-दोषों में रस-सामग्री समुचित प्रकार और समुचित अनुपात में विन्यस्त नहीं हो पाती। रसाभास और रस-दोषों में परस्पर अन्तर है। रसाभास में रस सामग्री ही दूषित होती है। इन दोनों के भेद को निम्नोक्त प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—किसी मन्त्री-पुत्र के विवाहोत्सव में राजा का निचले आसन को ग्रहण करना उसके प्रभाव को न्यून करता है। इसी प्रकार की न्यूनता काव्य में रस-दोषों से उत्पन्न होती है। और यदि कोई मन्त्री अथवा उसका पुत्र अन्याय अथवा अत्याचार से राजा को बन्दी बनाकर स्वयं राजसिंहासन पर बैठ जाता है तो जिस प्रकार के भाव हमारे मन में जागरित होंगे ठीक उसी प्रकार की स्थिति काव्य में रसाभास से होगी।

एक अन्य दृष्टान्त से यह भेद और स्पष्ट हो सकेगा—यदि कोई स्वादिष्ट पानक अपने आदरणीय अतिथि के सम्मुख किसी कुरूप पात्र में डालकर प्रस्तुत किया जाए तो यह स्थिति रस-दोष के अनुरूप स्वीकृत की जाएगी। इसके विपरीत किसी पानक में शर्करा व किसी अन्य पदार्थ का अभाव रसाभास के तुल्य है, अथवा उस पानक में किसी अतिरिक्त (कटु) पदार्थ के मिल जाने के कारण अवाञ्छित आस्वाद भी रसाभास के ही समान है। स्पष्ट है कि रसदोषों के कारण रस के आस्वाद में कोई भेद नहीं पड़ता जब कि रसाभास से आस्वाद में ही भेद उत्पन्न हो जाता है।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि काव्य-दोषों में रस की स्थिति बनी रहती है। ये काव्य-दोष देह के कणात्व-वधिरत्व आदि दोषों की भांति रस-रूप आत्मा का अनुत्कर्ष तो करते हैं पर इसके कारण काव्यत्व का अभाव नहीं हो जाता पर

रसाभास के उदाहरणों का अनौचित्य रसास्वाद में प्रत्यक्ष व्याघात पहुंचाता है। इस दृष्टि से ग्वाल कवि द्वारा प्रस्तुत रस-दोषों की परिभाषा रस-दोषों की न होकर रसाभास की परिभाषा के अधिक निकट है :

रसानन्द में करत है अन आनन्द जे आय।
ते रस दूषन कहत हैं, ग्रन्थन को मत पाय ।।

—कवि-दरपन ४।३।

इस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रस-दोष रसाभास नहीं है। किन्तु इन दोनों में सहायक-सहाय्य सम्बन्ध अवश्य है। रस-दोष सहायक हैं और रसाभास सहाय्य। अर्थात् किन्हीं स्थितियों में रस-दोष रसाभास उत्पन्न करने के कारण बन जाते हैं।

इस प्रसंग में यह निर्दिष्ट करना अनिवार्य है कि रुद्रट द्वारा प्रस्तुत विरस दोष लगभग रसाभास ही है।[1] भामह, दण्डी एवं उन्हींके अनुरूप हिन्दी आचार्यों में केशव एवं विहारीलाल भट्ट ने देश, काल, कला, लोक, न्याय, आगम आदि विरोधी दोष प्रस्तुत किये हैं।[2] ये दोष भी रस-दोषों की भांति किन्हीं स्थितियों में रसाभासोत्पत्ति में सहायक होते हैं। इसी प्रकार वक्रोक्ति जीवित (५७वीं कारिका के अन्तर्गत १२५वां श्लोक) में उल्लिखित अनौचित्य दोष भी इसी प्रकार का दोष है।

साहित्य-सुधानिधि आदि में अनुचित, अनसमयोक्ति विनुद्ध, आदि दोषों का उल्लेख हुआ है, उनका भी सम्बन्ध रसाभास से जुड़ जाता है देखिए:

(क) विरहिणी का काजल प्रयोग अनुचित के अन्तर्गत आता है :

अनुचित जहां वरनिए अनुचित जानु।
यह विधि दोष कहै रस सब मतिमानु ।।
विरहिनि नैननि काजर लसै नवीन।
पिय बिनु लपै नील जनु मुष रहि कीन ।।

(ख) घर में आग लगी है किन्तु रसिया नायक उस समय अपनी प्रेमिका से गागर लेने के ब्याज से उसका हाथ छू लेता है, यह अनसमयोक्ति है :

अनसमये को उक्ति जु वरनो जाइ।
अनसमयोक्ति ताहि कहि कवि समुदाइ ।।

---

१. अन्यस्य यः प्रसंगे रसस्य निपतेद्रसः क्रमापेतः।
विरसोऽसौ स च शक्यः सम्यग्ज्ञातुं प्रबन्धेभ्यः ।।
यः सावसरोऽपि रसो निरन्तरं नीयते प्रबन्धेषु।
अतिमहतीं वृद्धिमसौ तथैव वैरस्यमायति ।। —काव्यालंकार, ११।१२,१४।

२. (क) भामह—काव्यालंकार, ४।१,२।
(ख) दण्डी—काव्यादर्श, ३।२५,२६।
(ग) कवि-प्रिया, ३।५२-६०।

भली भई अलि घर में लागि आगि ।
मो कर की गागरि हरि लीनी मांग ।।

—वही, १७०, १७१ ।

(ग) लोक एवं शास्त्र का विरोध विनुद्ध है :

लोक्हु सास्त्र विरोधी सोइ विनुद्ध ।
काम प्रताप धवलति कहिमति सुद्ध ।।
लषो सबै संकर सिरकेत किमांति ।
चन्द्रकला इव सोभित महि कवि जाति ।। —वही, ९०,९१ ।

(घ) इसी प्रकार मुष्याननुसंधान देखिए—

अनुसंधानन मुष्यक जहं होत ।
मुष्याननुसंधानो कहि कवि गोत ।।
देखन लगी आजु मैं सखि सब चित्र ।
बैठी तियन साथ मों भुलि गो मित्र ।।

—वही, १७२,१७३ ।

भिखारी दास द्वारा वर्णित 'असलील-सब्द दोष' भी रसाभास उत्पन्न करने में सहायक है ।

पदास्लील कहिऐ जहां, घृनाँ असुभ, लज्जाँन ।
जीमूतँन दिन पितृ-गृह, तिय पद यै गुदराँन ।।

—काव्य निर्णय, २३।१६ ।

कुछ हिन्दी रीतिकालीन आचार्यों ने प्रख्यात रस-दोषों के अतिरिक्त कतिपय अन्य रस-दोषों का भी उल्लेख किया है । हमारी दृष्टि में उनमें से अधिकांश दोष रसाभास के अन्तर्गत परिगणित होने चाहिएं । उदाहरणार्थ केशव ने रसिकप्रिया के सोलहवें अर्थात् अन्तिम प्रकाश में तथा उन्हींके अनुकरण पर भिखारीदास ने रससारांश (४६८-५७०) में, तोष ने सुधानिधि (पृ० १७८) में, जगत्सिंह ने साहित्य-सुधानिधि में, भानु कवि ने काव्य-प्रभाकर में तथा बाबूराम बित्थरिया ने हिन्दी काव्य में नवरस (४७८ से ४८३) में अनरस (रसदोष) का वर्णन किया है । इन्होंने अनरस के पांच प्रकार बतलाए हैं—प्रत्यनीक, नीरस, विरस, दुःसन्धान तथा पात्रादुष्ट :

प्रत्यनीक नीरस बिरस केसव दुःसन्धान ।
पात्रादुष्ट कबित्त बहु, करहिं न सुकवि बखान ।।

— रसिकप्रिया, १६।१ ।

वास्तव में ये सभी दोष रसाभास के जनक हैं । प्रत्यनीक तथा विरस में विरोधी रसों का संयोजन है । नीरस तथा दुःसंधान स्पष्टतः रसाभास हैं । पात्रादुष्ट में असम्भव तत्त्वों का समर्थन होने के कारण वह बुद्धि के विरुद्ध पड़ता है । इन दोषों के लक्षणों एवं उदाहरणों के विवेचन से हमारे कथन की पुष्टि हो जाएगी :

(१) प्रत्यनीक दोष वहां होता है जहां विरोधी-रसों यथा शृंगार-बीभत्स, तथा

रौद्र-करुण का साथ-साथ वर्णन हो।[1] केशव द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए :

हंसि बोलतहीं सु हंसै अब 'केशव' लाज भगावत लोक भगै।
कछु बात चलावत घेरू चलै मन आनतहीं मनमत्थ जगै।
सखि तूं जु कही सु हुती मन मेरेहु मन जानि यहै न हियो उमगै।
हरि त्यौं टुक डीठि पसारतहीं अंगुरीन पसारन लोग लगै॥

—र० प्रि० १६।३।

यहां 'हंसि बोलतहीं' आदि शृंगार रस की बातें हैं, किन्तु साथ ही 'लोक भगै', 'मनमत्थ जगै', 'अंगुरीन पसारन लोग लगै' आदि भय अथवा घृणा के व्यञ्जक हैं। अतः शृंगार के साथ भय अथवा घृणा का वर्णन होने से रस-शत्रुता हो गई है। यही प्रत्यनीक दोष है। इसी प्रकार साहित्य-सुधानिधि में प्रस्तुत प्रत्यनीक का उदाहरण भी द्रष्टव्य है :

मुदित आइ भुज पकरत करि दृग लाल।
रोदन भगी अधर लोह आने बाल॥

—साहित्य सुधानिधि, १४६।

प्रसन्नता से (प्रिया का) हाथ पकड़ने के उपरान्त तुरत (क्रोध से) आंखों का रंग लाल कर लेना पाठक को खटकता है और उस प्रेम-प्रसंग में उसका रो करके भाग जाना भी उसके चित्त में प्रसंग के प्रति क्षोभ उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह रसाभास का उदाहरण है।

(२) नीरस वहां होता है जहां नायक-नायिका मुंह से (मौखिक रूप में) तो मिले जान पड़ें किन्तु हृदय में कपट भरा रहे[2] अर्थात् आन्तरिक कपटता से युक्त दम्पती के प्रेम का प्रकाशन केवल मौखिक रूप में हो, हृदय में प्रेमानुभूति न हो, वहां नीरस दोष होता है।

---

१. (क) जहं सिंगार बीभत्स भय, बीरहि बरनै कोई।
रौद्र सु करुना मिलतहीं, प्रत्यनीक रस होई॥ —र० प्रि० १६।२

(ख) वीर बिभत्स सिंगारी करुना रुद्र।
भय मिलि प्रत्यनीक कहि वरनत छुद्र॥ —साहित्य सुधानिधि। १४५।

—प्रत्यनीक दोष वस्तुतः केशवमिश्र का प्रक्रान्तरसवैरित्व है—

प्रक्रान्तरसवैरित्वं तेषां व्यक्तिविपर्ययः।
अनौचिती च सर्वत्र रसे दोषाः स्युरीदृशाः॥ —अलंकार-शेखर, २१।२।

—अथवा यह मम्मट का प्रतिकूल-विभावादि-ग्रह है।

२. (क) जहां दंपती मुंह मिले, सदा रहे यह रीति।
कपट कहै लपटाय तन, नीरस रस की प्रीति॥ —रसिकप्रिया, १६।४।

(ख) तिय पिय की प्रीति मुहैं सो नहिं हिय प्रीति।
दंपति कपट भर्यो मन नीरस रीति॥ —सा० सु० नि०, १४७।

— इसकी केशवमिश्र के व्यक्ति-विपर्यय नामक दोष से तुलना कीजिए —

यत्र व्यक्तौ यद् वर्णनमनुचितं तत्र तद्वर्णनम्।

उदाहरण देखिए :

गाहत सिन्धु सयाननि के जिनकी मति की अति देह-दहेली।
मोंहि हंसी दुख दोऊ दई तिनहूं सो जनावति प्रेम-पहेली ।।
आज लौं काननहूं न सुनि सु तौ देखि चली हम सौति सहेली।
जानी है जानी मिली मुंह हीं हिय नाहियै भावति गर्व गहेली ।।

—र० प्रि० १६।५

इसमें सौतों के परस्पर सहेली भाव पर सन्देह है, जिससे पाठक को रस की प्राप्ति नहीं हो पाती। साहित्य-सुधानिधि में प्रस्तुत 'निरस' का उदाहरण अधिक सुन्दर है—

भावी बूझि मायके पठ्यौ नारि।
भयो मोद दंपति मन वृत्ति विचारि ।।१४८।।

नायक ने नायिका को सप्रेम मायके विदा किया। लोक में ऐसे अवसरों पर हल्का-सा दुःख प्रकट किया जाता है। किन्तु यहां नायक और नायिका दोनों ने प्रसन्नता अनुभव की। कारण यह था कि दोनों क्रमशः परनारी एवं परपुरुष से मिलने के इच्छुक थे। यहां यद्यपि स्वकीया का वर्णन विद्यमान है तथापि इससे ध्वनित अर्थ में सामाजिक अनौचित्य है, जो कि उनके छिछलेपन का द्योतक है। ऐसे उदाहरणों से यदि ऐन्द्रियता जागरित न हो तो यह रसाभास का ही उदाहरण है।

(३) विरस वहां होता है जहां शोक (के वातावरण) में भोग (के वातावरण) का वर्णन हो।[1] इस दोष की तुलना केशवमिश्र द्वारा वर्णित अनौचिती से की जा सकती है। ये इसकी संस्थिति अनेक स्थलों पर बतलाते हैं। शिव-पार्वती अथवा माता-पिता के केलि-वर्णन, स्तनादि के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन एवं नायिका के मानादि अथवा चरण-प्रहारादि के कारण नायक के अत्यन्त क्रोध के वर्णन में अनौचिती दोष होता है।[2] केशवमिश्र का यह लक्षण केशव की अपेक्षा अधिक व्यापक है। इसके अतिरिक्त केशवमिश्र ने एक 'विरस' दोष का भी उल्लेख किया है। केशव द्वारा वर्णित विरस भी उससे मेल खाता है।[3] इसके अतिरिक्त यह केशव के प्रत्यनीक तथा मम्मट के प्रतिकूल-विभावादिग्रह दोष का प्रभाग मात्र है। केशवदास द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए :

---

१. (क) जहीं सोक मंहि भोग को, बरनत है कवि कोइ।
केसवदास हुलास सों, तहीं बीरस रस होइ ।। —र० प्रि० १६।६।
(ख) जहां सोग में वरनो भोग बनाइ।
ताहि विरस जानो कवि समुदाइ ।। —सा० सु० नि० १४६।

२. भवानीशंकरादीनां पित्रोर्वा केलिवर्णनम्।
अत्युक्तिर्वा नमः साम्यं स्तनादौ स्वादनौचिती।
नायिकाया मानादिना चरण प्रहारादिना वा ।।
नायकस्यात्यन्तिककोपवर्णनम् ।। —अलंकार-शेखर, मरीचि, २१, पृ० ८०,८१।

३. विरसं प्रस्तुतरसविरुद्धम् —अलंकार-शेखर, मरिचि ६, पृ० १८।

'केसौदास' न्हान दान खान पान भूल्यो ध्यान,
गयो ज्ञान भयो प्रान पीठि की सी पीठि है।
छांडहु रसिक लाल यह जक वह बाल,
देखतहीं सब सुख तुमहीं उबीठि है।
ऐसी सों बसीठी, सीठी चीठी अति दीठी सुने,
मीठी-मीठी बातनि जू नीकेहू में नीठी है।
ईठनि सों टूटि ईठी ताके सोक की अंगीठी,
उठी जाके उर में सु कैसे हंसि डीठि है। —र० प्रि० १६।६

इसमें शोक-सन्तप्त नायिका के पास उसका रसिक नायक भोगाकांक्षा का प्रस्ताव भेजना चाहता है, जिससे पाठक पर शृंगार के अनुकूल कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार 'साहित्य सुधानिधि' में दिया विरस का उदाहरण देखिए :

पिय के विरह भरे दृग निसिदिन नीर।
सो किमि तुम्हें लखै हंसि हठि मति धीर ॥१५०॥

यह भी रसाभास का उदाहरण है। किसी को वियोग में रोते देखकर हंस पड़ना पाठक के चित्त में हंसने वाले के प्रति विरसता ही उत्पन्न करता है।

(४) दुःसंधान वहां होता है जहां एक की अनुकूलता तथा अन्य की प्रतिकूलता का वर्णन हो।[1] अर्थात् नायक अनुकूल तो नायिका प्रतिकूल अथवा नायिका अनुकूल तो नायक प्रतिकूल। केशव द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए :

'दै दधि' दीनो उधार हो केसव दान कहा जब मोल ले खैहै,
'दीने बिना' तौ गई जु गई न गई न गई घर ही फिरि जैहै।
गो हित बैर कियो कब हो हित वैर कियें बस नीकी ह्वै रैहैं,
बैर कै गोरस बेचहुगी, अहो बेच्यो तौ ढारि न दैहैं।[2]
र० प्रि० १६।६

यहां पर नायक-नायिका का सम्वाद है। नायक अनुकूलता से बोलता है और नायिका प्रत्येक बात का उत्तर प्रतिकूलता से देती है। इसी प्रकार 'साहित्य-सुधानिधि' में दुसंधान का उदाहरण भी द्रष्टव्य है :

नेकु सुनो जो सुनी हम जैये भौन।
थोरी बाल रहो मुष मूंदे मौन ॥

(५) केशव ने जहां जिसको जैसा समझे उसको वैसा न कहने पर इस प्रकार

---

१. (क) एक होइ अनुकूल जहं, दूजो है प्रतिकूल।
केशव दुस्संधान रस, सोभित तहां समूल ॥ —रसिकप्रिया, १६।८।
(ख) येक जहां, अनुकूलो दुज प्रतिकूल।
तासो दुसहवान कहि जे न समूल ॥ —साहित्य-सुधानिधि, १५१।

२. केशव ने इसी उदाहरण को हीन-रस का उदाहरण भी स्वीकार किया है, देखिए, कविप्रिया, ३।३४।

के (विचारहीन वर्णन में) 'पात्रादुष्ट' दोष माना है। साहित्य-सुधानिधिकार के अनुसार जो बात जहां सम्भव न हो उसको वहां दृढ़ करना पात्रादुष्ट दोष कहलाता है।[१] केशवदास द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए :

कपट-कृपानी मानी प्रेम-रस लपटानी,
प्राननि को गंगा जू के पानी सम जानियै।
स्वारथ-निधानी परमारथ की राजधानी
काम की कहानी 'केसौदास' जग मानियै ॥
सुबरन अरुझानी सुधा सों सुधारि आनी
सकल-सयान-सानी ज्ञानि सुखदानियै।
गौरा औ गिरा लजानी मोहे मुनि मूढ़ प्रानी
ऐसी बानी मेरी रानी विध के बखानियै ॥—र० प्रि० १६।११

यहां सब पदों में बिना विचार के वर्णन हुआ है अतः पात्रादुष्ट दोष है। यथा—कपट कृपानी से अभिप्राय लिया गया है—"सबके कपट को काटने वाली"। यह बिना विचार के है, क्योंकि सब में तो उसकी भी गणना हो गयी। इसी प्रकार प्रेम-रस तथा गंगा जी वाली आदि बातें भी हैं। इसके अतिरिक्त इस छन्द में मानवती नायिका के इस कथन की कि "मेरी बातें आपको विष-सी लगती हैं" के उत्तर में नायक ने इतना बड़ा तूमार बांधा है, यह भी कोई पाठक पर अच्छा प्रभाव नहीं डालता। साहित्य-सुधानिधि में पात्रादुष्ट का निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है—"होहि रहो मुनि मूढ़ो तरु निवि लोह" इस प्रकार के वर्णन पाठक का चित्तसंवाद नहीं करते।

इस प्रसंग में देव द्वारा निर्दिष्ट रस-दोषों का वर्णन भी अनिवार्य है—

सरस, निरस, सम्मुख-विमुख, स्व-पर-निष्ठ पहचानि।
मीत अमीत उदास चित्त, उचित्त सुचित्र बखानि ॥
कहुं स्वनिष्ठ, परनिष्ठ कहुं, कहूं सत्रु, कहुं मित्र;
कहुं उदास, सम्मुख विमुख, रचहु बिचार बिचित्र।
पहिचानत श्रुति साधु सब, जो जा रस की रीति;
सुनि कवित्त निर्दोष रस, बढ़त चतुर चित प्रीति ॥

—शब्द-रसायन, पृ० ५०।

---

१. (क) जैसो जहां न बूझियै, तैसो करियै पुष्ट।
बिन विचार जो बरनियै, सो रस पात्रादुष्ट ॥ —रसिकप्रिया, १६।१०।

(ख) जो जामे संभवत न दृढ़ करि सोइ। —साहित्य-सुधानिधि, १५३।
अलंकार-शेखर के व्यक्ति-विपर्यय-दोष से तुलना कीजिए—
—यद्व्यक्तौ यद्वर्णनमनुचितं तत्र तद्वर्णनम्।
—अलंकार शेखर, मरीचि २१, पृ० ८०।
—इसी प्रकार मम्मट के अपुष्टार्थता दोष से भी इस दोष की तुलना की जा सकती है।

देव ने इन भेदों के लक्षण नहीं दिये । केवल उदाहरण दिये हैं । इस प्रसंग के अधिकांश नीरस स्वनिष्ठ-परनिष्ठ आदि रस-दोषों के विस्तार का संकेत रस-तरंगिणी से ही लिया गया है परन्तु देव उसे स्पष्ट रूप से ग्रहण नहीं कर पाए । इनका रसाभास से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए इनके उदाहरणों पर दृष्टि-पात अनिवार्य है । सरस का उदाहरण देखिए :

होरी में आजु, भिजै रंग रोरी के आपनी यौ, अपने बसु कै लै,
यो कहि "देव" सखी गहि गोरी को, ल्याइ है गोकुल गांव की गैलै;
लाज की गारी सुन्यो कबहूं न, सुगावत लोग, लगावत छैलै,
खेलत फाग नई दुलही, उर आंसुन लीलि उसासन लैलै ।।

—शब्द-रसायन, पृ० ५० ।

राग-रंग के उत्सव में एक नवोढ़ा का दुःखद उच्छ्वास लेकर फाग खेलना पाठक पर कोई अनुकूल प्रभाव नहीं डालता । इसे सरस क्यों कहा गया, यह बात देव ने स्पष्ट नहीं की । यह रसाभास का उदाहरण हो सकता है ।

उदास रस का उदाहरण अनुभय-निष्ठ-रति का उदाहरण होने से स्पष्टतः रसाभास है । इसमें प्रिय की उदासीनता प्रकट की गई है ।

वै तौ बहु नायक प्रवीनन के प्राण-प्यारे
प्रेम-रस-लीन मन मोरे न घिरहु है,
उन सों सनेह सदा नवल किसोरिन सों
गुन-मति-गोरिन सों गुन सों गिरहु है;
उन पर कोपि काम, बेधत सरन मोहि
हौं तो हिय खोलैं, पहिरेउन जरहु है,
बालम की वह गति, या मन की यह मति
हौं न जानौं भाई-मोहि कौन सो बिरहु है ।

—शब्द-रसायन, पृ० ५१ ।

इसी एकांगी प्रेम को ही देव सम्भवतः उदास-रस कहना चाहते हैं । 'निरस' में भी नायिका प्रिय द्वारा अपनी तरफ पीठ किए जाने से अर्थात् अपने अननुकूल होने से दुःखी है । उदाहरण देखिए :

बैस बिसवासिनी बिसारी बिसरै न जहां
जामैं बसिवे को निसि-बासर बसीठि दई,
अनजाने जानहार जोबन, गरब, गुन
मंत्र उन कंत, तन, तनक न दीठि दई;
तरुनाई, तेरे उर करुना न आई 'देव'
तोहि तजे, मोरे मोहि ईठि तजि ईठि दई,
एरे निरलज्ज, मेरे बैरी, मेरे जीव, तेरे
जीवत ही, मेरे जीवनेस, मोहि पीठि दई ।

—शब्द-रसायन, पृ० ५० ।

इस प्रकार के स्थल भी रसाभास के अन्तर्गत परिगणित किए जाने चाहिएं। देव ने निरस के आठ भेद किये हैं—

देस काल अरु बर्न विधि, यात्रा अरु संधानि,
अरु रस-भाव विरुद्ध ये आठ निरस पहिचानि।

—शब्द-रसायन, पृ० ५१।

इन सबका औचित्य की हानि से ही सम्बन्ध है। देसकाल-विधि-विरोधी का उदाहरण देखिए :

द्वारिका में नृप द्वारिका कान्ह, सो चाहत हैं ब्रज चाल चलायो,
भादौं कुहू-निसि जादौं बधू, कियौ कौतिक कातिक-राति सुहायो;
वा कुल को पन को कुलकोपन छांडि कै, गोपन को पन पायो,
मंदिर ते कढ़ि, सुंदरि ग्वारि लै, हेरति है, गिरि कंदर आयो।

रस-सम्मुख का रसाभास से सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, उदाहरण देखिए :

(क) औचक ही चितयौ भरि लोचन, वा रस के बस ह्वै चुकि चेरिये,
मोह-कुमोह पै हौं नहिं सूझति, बूझति स्याम घने तम घेरिये,
आनंद के मद के नद में मन-बूड़ि गयौ, हद मैं नहिं हेरिये,
कै उलटे सब लोग लगैं किधौं, 'देव' करी उलटि मति मेरिये।

(ख) राधिका, कान्ह को ध्यान धरै, तब कान्ह ह्वै राधिका को गुन गावैं,
त्यौं अंसुवा बरसें बरसाने को, पाती लिखै लिखि राधिका ध्यावैं;
राधे ह्वै जाइ घरीक मैं 'देव', सु प्रेम की पाती लै छाती लगावैं,
आपुन आपुहि मैं उरझैं, सुरझैं, बिरुझैं, समुझैं, समुझावैं।

—शब्द-रसायन, पृ० ५२।

विमुख रस के उदाहरण से ऐसा प्रतीत होता है कि देव ऐसे कथनों को जिनका कि रस से कोई सम्बन्ध नहीं है, विमुख रस कहना चाहते हैं। उदाहरण देखिए :

काहू की कोई, कहावति हौं नहिं, जाति न पांति न जाते खसौंगी,
मेरी पै हांस करौ किन लोग, हौं, को कवि 'देव' जु काहु हंसौंगी;
गोकुल-चन्द की चेरी-चकोरी हौं, मंद-हंसी मृदु-फंद फंसौंगी,
मेरी न बात बकौ जनि कोई हौं, बावरी ह्वै, ब्रज बीच बसौंगी।

—शब्द-रसायन, पृ० ५२।

इस प्रकार यह एक प्रलाप है। इसका रस से कोई सम्बन्ध नहीं।

स्वनिष्ठ और परनिष्ठ का उल्लेख भिखारीदास ने भी किया है। उनके अनुसार —"जो रस उपजै आपु तें ताकौं कहत स्वनिष्ठ" और "होत और तें और पै ताहि कहत परनिष्ठ" (रससारांश, ५७९)। इनका सम्बन्ध रसाभास से नहीं जुड़ता। स्वनिष्ठ का उदाहरण देखिए—

मूरति जो मन मोहन की मन-मोहनी के थिरु ह्वै थिरकी सी,
'देव' गुपाल के बोल सुने छतियां सियराति सुधा छिरकी सी;

नीके झरोखेन झांकि सकै नहिं, नैनन लाज-घटा घिरकी सी ,
पूरन प्रीति हिये हिरकी, खिरकी, खिरकीन फिरे फिरकी सी ।
—शब्द-रसासन, पृ० ५२ ।

इसी प्रकार परनिष्ठ का उदाहरण देखिए —

सखिन के सुख, सुनि सौतिन को महादुख
होत गुरु-जनन के गुनन गरूर है,
'देव' कहे लाख-लाख भांति अभिलाष पूरि
पी के उर उमगत प्रेम-रस पूर है;
तेरो कल-बोल कल-भाषिन को स्वाती बुंद
जहां जाइ परै तहां तैसिय समूर है,
व्याल-मुख विष ज्यों पियूष ज्यों पपीहा-मुख
सीपी-मुख मोती, कदली मुख कपूर है ।
—शब्द-रसायन, पृ० ५३ ।

स्पष्ट है कि स्वनिष्ठ में नायिका की अपनी अनुभूति का वर्णन है और परनिष्ठ में दूसरे पर अपने प्रभाव का वर्णन है । इसका रसाभास से कोई सम्बन्ध नहीं ।

अन्त में निष्कर्ष-रूप में इतना कहना पर्याप्त है कि :

(क) वैरस्य का जनक प्रत्येक काव्य-दोष रसाभास है और वैरस्य उत्पन्न करने में सहायक प्रत्येक दोष रसाभास को उत्पन्न करने में सहायक है ।

(ख) काव्य-दोषों एवं रसाभास में भेद यह है कि काव्य-दोष रस का अपकर्ष करते हैं किन्तु रसाभास के उदाहरणों की परिणति वैरस्य में होनी अनिवार्य है ।

४. रसाभास और रसविघ्न

अभिनवगुप्त ने रस निष्पत्ति की व्याख्या में कहा है कि रसात्मक अनुभूति वीत-विघ्न होनी चाहिए—'सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः' (हिन्दी अ० भा०, पृ० ४७३) । इन्होंने सात रस-विघ्नों का उल्लेख किया है—वे सभी रसास्वाद में बाधक सिद्ध होते हैं। इन रस-विघ्नों के विद्यमान होने पर सहृदय कवि के भाव के साथ तादात्म्य करने में असमर्थ रहता है । अतः कवि अभ्यास के द्वारा अपने काव्य को इन विघ्नों से बचाने का यत्न करे । रस-विघ्नों के साथ रसाभास का सम्बन्ध स्थापित करने से पूर्व इनके स्वरूप पर प्रकाश डालना अपेक्षित है ।

१. प्रतिपत्ति में अयोग्यता अर्थात् सम्भावना का अभाव

यदि पाठक ज्ञान के विषय को ही असम्भव समझने लगे तो उससे रसास्वाद का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता ।[1] अभिप्राय यह कि यद्यपि कवि का कथ्य जीवन के

---

१. तथाहि—संवेद्यमसम्भावयमानः संवेद्ये संविदं विनिवेशयितुमेव (यो) न शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति प्रथमो विघ्नः । —हि० अ० भा०, पृ० ४७४ ।

यथार्थ पर आधारित होता हुआ भी उसकी कल्पना से संवलित होता है, तथापि यथार्थ और कल्पना के बीच पलड़ा सदा यथार्थ का भारी रहना चाहिए, क्योंकि कल्पना का आधिक्य पाठक के मन में अविश्वास और सन्देह के अंकुर उत्पन्न कर देता है।

आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ आदि ने वृत्ति के अनौचित्य या प्रकृति के विपर्यय की व्याख्या के अन्तर्गत इस विघ्न का संकेत किया है। उनका कथन है कि समुद्र-लंघन आदि कृत्यों का वर्णन दिव्य-पात्रों के संदर्भ में ही करना चाहिए, सामान्य पात्रों के प्रसंग में नहीं। विश्वनाथ ने इसी संदर्भ में स्पष्ट लिखा है कि देशकालादि के अन्यथा वर्णन से काव्य में असत्यता का प्रतिभास होने लगेगा और पाठक का उसके प्रति उन्मुखी-भाव नहीं हो सकेगा। इससे रसाभास की ही सम्भावना होगी।

२. स्वगत (सामाजिकगत) एवं परगत (नटगत) रूप से देश-काल विशेष का सम्बन्ध

यदि सहृदय काव्य-गत भावों को अपने अथवा नट के व्यक्तिगत सुख-दुःख समझ लेगा तो उससे रस-प्रतीति न हो सकेगी। ऐसा समझ लेने की अवस्था में कभी उसके सुखद भाव के नष्ट होने के भय से, कभी नट की रक्षा के लिए व्यग्र हो जाने से, कभी उसके सदृश अन्य सुख प्राप्ति की इच्छा से अथवा कभी उस दुःख के परित्याग की इच्छा से अथवा किसी अन्य कारणवश अन्य ही ज्ञान (अनुभूति) सम्भव है। इसी प्रकार नटगत मानने से भी वह उसको अपने साथ सम्बद्ध करेगा। और यह रसास्वाद में विघ्न होगा।[1] वस्तुतः इस स्थिति में सहृदय लौकिक अनुभूति का ही अनुभव करता है, उससे काव्यात्मक रसानुभूति सम्भव नहीं।

३. निज-सुख-दुःखादि-विवशी-भाव

अपनी व्यक्तिगत भावनाओं से आविष्ट होकर काव्य का आस्वादन इस विघ्न का ही कारण है। यदि पाठक की मनःस्थिति अपने व्यक्तिगत सुखदुःख की अनुभूति से आक्रान्त है तो यह उसके रसास्वाद के लिए बाधास्वरूप है।[2] यद्यपि कवि की अभिव्यक्ति का सौन्दर्य साधारणीकरण के द्वारा पाठक के मन को आकर्षित करता है, उसको संविद्विश्रान्ति की स्थिति में पहुंचाने का प्रयत्न करता है, तथापि अनेक बार पाठक

---

१. स्वैकगतानां च सुखदुःखसंविदामास्वादे यथासम्भवं तदपगमभीरुतया वा, तत्परिरक्षा-व्यग्रतया वा, तत्सदृशार्जिजीषया वा, तज्जिहासया वा, तत्प्रचिख्यापयिषया वा, तद्गोपनेच्छया वा, प्रकारान्तरेण वा, संवेदनान्तरसमुद्गम एव परमो विघ्नः।
परगतत्वनियमभाजामपि सुखदुःखानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदुःखमोहमाध्यस्थ्यादिसंविदन्तरोद्गमनसम्भावनादवश्यंभावी विघ्नः।
—हि० अ० भा०, पृ० ४७५।

२. निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति।
—हि० अ० भा०, पृ० ४७६।

अथवा दर्शक की अपनी प्रबल मन:स्थिति कवि के भाव के साथ नहीं चल पाती। कल्पना कीजिए कि 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक को देखने वाला एक ऐसा व्यक्ति है जिसका कि अपना पुत्र अनेक दिनों से गुम है और नाना प्रयास करने के उपरान्त भी वह मिल नहीं सका। ऐसा व्यक्ति इस नाटक में दुष्यन्त और सर्वदमन के सुखद मिलन के दृश्य को देखकर आनन्दाश्रु प्रवाहित न कर सकेगा। उसे इस दृश्य को देखकर अपने पुत्र की स्मृति हो आएगी और वह उसी की याद में लौकिक शोक की अनुभूति करेगा। काव्य में दुष्यन्त सर्वदमन को देखकर जितनी अधिक प्रसन्नता व्यक्त करेगा, यह दर्शक उतने ही अधिक आंसू बहाएगा। उसका यह शोक निश्चय ही कवि के भाव के विपरीत होगा तथा इससे काव्यात्मक करुण-रस का भी आस्वाद न मिल सकेगा। यह शोक स्पष्टत: लौकिक शोक होगा। शास्त्रीय दृष्टि से इसे लौकिक भाव का ही उदाहरण स्वीकार करना चाहिए।

४. प्रतीति के उचित उपायों का अभाव

प्रतीति के उपायों के अभाव में (रस की) प्रतीति होनी असम्भव है।[१] जिन काव्यात्मक अथवा नाटकीय उपकरणों से रस प्रतीति सम्भव होती है, यदि वे पूर्ण नहीं हैं अथवा स्पष्टत: प्रयुक्त नहीं हैं तो रसास्वाद में बाधा अनिवार्य है। यहां अभिनव का भाव यह है कि काव्यात्मक अभिव्यक्ति अथवा नाटकीय प्रदर्शन पूर्ण कलात्मक होना चाहिए, उसके बिना रस-निष्पत्ति सम्भव नहीं हो सकती।

५. स्फुट प्रतीति का न होना

भावों के अभिव्यक्तीकरण में विभावादिक अधिक प्रत्यक्ष तथा मूर्त रूप में उपस्थित होने चाहिएं। शब्द तथा अनुमान प्रमाण के होने पर भी प्रत्यक्ष की आकांक्षा बनी ही रहती है।[२] अर्थात् कवि की अभिव्यञ्जना-शक्ति एवं नट के अभिनय आदि इतने पूर्ण हों कि उनसे प्रस्फुटित भाव के साथ सहृदय पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर सके। चौथे तथा पांचवें रस विघ्नों में परस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध है। इन दोनों का भाव यह है कि कवि की वर्णना-शक्ति अथवा नट के अभिनय आदि के सदोष होने पर सहृदय उससे साधारणीकरण करने के स्थान पर कवि की वर्णन-शक्ति अथवा नट के अभिनय का उपहास-सा करेगा, जो कि रसाभास की स्थिति है।

६. अप्रधानता

अर्थात् किसी अप्रधान-तत्व को रस व्यंजना में महत्त्व देने से रसास्वाद में बाधा ही उपस्थित होती है। नाटकीय कथाविधान में यदि नाटककार अप्रधान चरित्रों अथवा

---

१. किञ्च प्रतीत्युपायानामभावे कथं प्रतीतिः? —हि०अ० भा० पृ०४७६

२. अस्फुटप्रतीतिकारिशब्दलिंगसम्भवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति, स्फुटप्रतीतिरूप-प्रत्यक्षोचितप्रत्ययसाकांक्षत्वात्। यथाहुः 'सर्वा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा' (न्याय सू० भा० १-३) इति।— हि० अ० भा०, पृ० ४७६-७७।

घटना-स्थितियों को महत्व देता है तो दर्शक के रसास्वाद में विघ्न उपस्थित होगा। इसी प्रकार प्रधान स्थायिभाव के स्थान पर यदि कवि विभाव, अनुभाव तथा संचारी आदि के चित्रण को अधिक महत्त्व देता है तो रस का पूर्ण संयोजन उपस्थित नहीं हो सकेगा। वस्तुतः कथात्मक अथवा भावात्मक सन्तुलन का अभाव काव्य के प्रभाव को क्षीण ही करेगा।[1] रस-दोषों में वर्णित 'प्रकृत रस के विरुद्ध विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव का वर्णन' तथा 'अंगभूत रस की पुनः-पुनः दीप्ति' ये दोनों दोष इस रसविघ्न के ही जनक हैं।

७. संशय-योग

अर्थात् अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में पाठक अथवा दर्शक के मन में किसी प्रकार का संशय अथवा सन्देह होना भी रसास्वाद के लिए उचित नहीं है। यहां संशय से कथात्मक कौतूहल का भ्रम नहीं करना चाहिए, क्योंकि कौतूहल सौन्दर्यानुभूति की वृद्धि में सहायक सिद्ध होता है और संशय बाधा स्वरूप माना गया है। एक स्थायिभाव के विभाव, अनुभाव तथा संचारी आदि दूसरे के भी हो सकते हैं और यदि प्रदर्शित अथवा वर्णित विभावादिक से यह संशय उत्पन्न हो कि शोक की अभिव्यक्ति है अथवा रति की तो निश्चय ही इस रूप में रस-निष्पत्ति में अर्थात् पाठक या दर्शक के रसास्वाद में बाधा उपस्थित होगी। वस्तुतः इस संशय की स्थिति में साधारणीकरण सम्भव नहीं हो सकता।[2] यदि कवि की वर्णन-पद्धति से यह ज्ञात न हो सके कि रावण को देखकर सीता का कम्पन रति का कार्य (अनुभाव) है अथवा भय का और पाठक किसी संशय की स्थिति में हो जाए तो उससे किसी भी रस के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। रस-दोषों में वर्णित 'अनुभावों तथा विभावों की अभिव्यक्ति में कष्ट-कल्पना' दोष अनेक बार इसी 'संशय-योग' रसविघ्न की उत्पत्ति का कारण बनता है।

अभिनव गुप्त ने इन रस-विघ्नों का उल्लेख करने के उपरान्त इनके निराकरण के उपाय भी निर्दिष्ट किये हैं। किन्तु यदि कवि इन विघ्नों को न बचा सका तो इनके कारण रसास्वाद न हो सकेगा। तब हमारी सम्मति में प्रथम, चतुर्थ, पंचम एवं सप्तम रस विघ्न से रसाभास होगा, क्योंकि इनके होने पर कवि जिस भी रस की सामग्री प्रस्तुत करेगा, उससे भिन्न उपहास-उपेक्षा आदि की स्थिति उत्पन्न होगी। द्वितीय एवं तृतीय से लौकिक भाव की तथा षष्ठ से रसापकर्ष (रस-दोष) की अनुभूति होगी। ये निष्कर्ष रसविघ्नों के उपर्युक्त स्वरूप विवेचन से सर्वथा स्पष्ट हैं।

---

१. अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति ? तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावतः स्वात्मन्यविश्रान्तत्वात्। अतोऽप्रधानत्वं जडे विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्यमुखसंप्रेक्षिणि सम्भवतीति तदतिरिक्तः स्थाय्येव चर्वणापात्रम्। हि० अ० भा०, पृ० ४७७।

२. बाष्पादेरानन्दाक्षिरोगादिजत्वदर्शनात्। व्याघ्रादेश्च क्रोधभयादिहेतुत्वात्। श्रमचिन्तादेरुत्साहभयाद्यनेकसहचरत्वावलोकनात्।...एवं संशयोदये शङ्कात्मकविघ्नशमनाय संयोग उपात्तः। —हि० अ० भा०, पृ० ४८२-८३।

पंचम अध्याय

रसाभास और नायक-नायिका भेद

नायक-नायिका भेद का मूल आधार कामशास्त्रीय ग्रन्थ हैं। लोक में मर्यादित और अमर्यादित सभी प्रकार की काम-कलाओं का परिज्ञान करवाना इनका लक्ष्य है। परिणामतः प्रायः इसके सभी भेदों-उपभेदों के उदाहरण सहृदय की विलासभावना की पुष्टि करते हैं। यद्यपि यह सम्पूर्ण विवेचन (स्वकीया, पति आदि कुछ भेदों को छोड़ कर) नैतिक दृष्टि से अनुपयुक्त है तथापि इनमें से अनेक भेद पाठक के चित्त में क्षोभ उत्पन्न नहीं करते। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका कारण यह है कि सभी व्यक्तियों की चेतना अथवा उपचेतना में पाशव वृत्ति (अपनी वासना को अनेक प्रकार से तुष्ट करने की प्रवृत्ति) अनिवार्य रूप से रहती है। सामाजिक मर्यादाओं की विविध शृंखलाओं में जकड़े हुए होने के कारण वह प्रत्यक्ष रूप से तो उसकी पूर्ति करने में असमर्थ रहता है किन्तु साहित्य (चाहे आप इसे निष्कृष्ट साहित्य कह लें) के माध्यम से वह प्रच्छन्न रूप से ऐसा कर एक विशेष प्रकार की सन्तुष्टि प्राप्त करता है। यही कारण है कि स्वकीया नायिका का वर्णन भी उसे अनेक बार प्रभावित नहीं कर पाता। नायक-नायिका भेद और रसाभास में पारस्परिक सम्बन्ध निर्देश के लिए नायक-नायिका के भेदों-उपभेदों के सामान्य स्वरूप पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

× × ×

कर्म के आधार पर भानुदत्त ने नायिकाओं के तीन भेद किए हैं—स्वकीया, परकीया और सामान्या।[1] कर्म से उनका अभिप्राय व्यवसाय से न होकर स्त्री के समाज-धर्म से रहा है।

१. स्वकीया

जो स्त्री समाज की समस्त मर्यादाओं का पालन करती हुई, अपने साथ विधि-पूर्वक विवाहित एक पुरुष से ही प्रेम करती है, वह स्वकीया नायिका कहलाती है:

तत्र स्वामिन्येवानुरक्ता स्वकीया। —रसमञ्जरी, पृ० ५।

---

१. सा च त्रिविधा—स्वकीया परकीया सामान्या चेति।—रसमञ्जरी, पृ० ४।

यह नायिका भारतीय आदर्शों की प्रतिमूर्ति है। पति के प्रेम के सहारे घर के बच्चों से लेकर पति तक की देखभाल करती है। वह पति को भोजन कराने के उपरान्त भोजन करती है और उसके सो जाने पर शयन करती है। प्रातः काल अपने प्रियतम के उठने से पूर्व ही उठ जाती है :

—खान पान पीछू करति, सोवति पिछले छोर।
प्रानपियारे तें प्रथम, जगत भावती भोर॥

—जगद्विनोद, १९।

पान औ खान तें पी को सुखी लखै आपु तबै कछु पीवति खाति है।
'दास जू' केलि-थलीहि में ढीठो विलोकति बोलति जो मुसकाति है॥

—शृंगार निर्णय, ६४।

—'देव' पतिव्रत पाटी पढ़ी, न कढ़ी कबहू पिय के हिय पैठी।
लाज करै गुरु लोगन में, अरु काज करै घर में घर बैठी॥

ऐसी नायिका के लिए पति ही सर्वस्व है। पति का सुख उसका सुख है और पति का दुःख उसका दुःख। बिना पति के वह सर्वथा निष्प्राण है। आत्म-समर्पण ही उसका जीवन है। उसमें छिछली वासना का नितान्त अभाव है। उसके इन आदर्शों के कुछ उदाहरण देखिए—

—'देव' संयोग कहूं निधनी धन पाइ निहारत ही रहे जैसे।
जापर वारिये यौवन जीवन री धन के सुधनी धन जैसे॥
प्राण बिना तन की गति ज्यों विन प्राणपती गति प्राण की ऐसे।

—देव।

—प्रीतम में सुख प्रीति सराहिये, के गुन-सील सुभाई घनेरी।

—बेनीप्रवीन।

—प्रीतम के रुख राखिबे कों, गिरजा सों लई बरदान सकेलि है।

—लछिराम।

स्वकीया नायिका का यह दिव्य रूप रीति-काव्य में यत्र-तत्र उपलब्ध हो जाता है। उसके वर्णन में कवियों ने सर्वत्र मर्यादा का पालन किया है। रात की काम-केलि से अतृप्त नायक दिन में मिलन के उपाय सोचने लगा। घर के अन्दर से ही 'मुझे प्यास लगी है, कोई पानी दे जाये' ऐसा कह कर उसने नायिका के दर्शन करने चाहे किन्तु उस पर नायिका ने जिस सूझ से काम लिया उससे उसका आदर्श सूचित होता है।

केलि कै राति अघाने नहीं, दिन ही में लला पुनि घात लगाई।
प्यास लगी कोई पानी दे जाइयो, भीतर बैठि के बात सुनाई॥
जेठी पठाई गई दुलही हँसि, हेरि हरे 'मतिराम' बुलाई।
कान्ह के बोलै में कान न दीनो, सौ गेहकी देहरी पै धरी आई॥

—रसराज, २८।

यहाँ द्रष्टव्य यह है कि नायक ने अपनी पत्नी से सीधे जल नहीं माँगा, किन्तु जेठानी ने नायक का अभिप्राय समझ कर पानी ले आने का आदेश वधू को ही दिया। फिर भी

नायिका ने (अपने आदर्शों के कारण) पानी का पात्र देहरी पर रख दिया और वह लौट कर पुन: अपने स्थान पर आ गयी ।

इसी प्रकार दास की नायिका भी दिन में पति के लाख संकेत करने पर तथा स्वयं मिलनोत्कण्ठित होने पर भी केलि-भवन में नहीं जाती है। पर अपने आन्तरिक उद्वेग को प्रदर्शित करने के लिए उस भवन के सामने ही बार-बार आती-जाती-जरूर दिखाई देती है :

प्यारो केलिमन्दिर तें करत इसारो उत,
जाइबे कों प्यारी हू के मन अभिलाख्यो है।
'दास' गुरुजन पास बासर प्रकास तें न
धीरज न जात केहूं लाज डर नाख्यो है ।।
नैन ललचैहैं पै न केहूं निरखत बनै
औठ फरकोंहैं पै न जात कछु भाख्यौ है।
काजन के ब्याज वाही देहरी के सामुहैं ह्वै
सामुहें के भौन आवागौन करि राख्यौ है ।।

—शृंगार-निर्णय, २६० छ० ।

देवर अपनी रूपवती भाभी पर मुग्ध था और अनेक कुचेष्टाएं करके उससे अपनी वासनापूर्ति करने का अभिलाषी था। नायिका पतिव्रता है परन्तु प्रश्न है कि वह देवर की प्रवृत्तियों को कैसे रोके। पति से यह बात कहने पर गृह-कलह का भय है और तब समाज के लोग भी अनेक कल्पनाओं का आधार लेकर देवर-भाभी के इस प्रसंग की निन्द्य चर्चा करने लगेंगे। बेचारी पत्नी इस चिन्ता के कारण दिन-दिन क्षीण-काय हो रही है। कवि ने इसकी तुलना उस शुक से की है जो पंजर में सुरक्षित हो परन्तु बाहर एक टक दृष्टि गाड़े हुए बैठने वाली बिल्ली से सदा आशंकित रहे :

कहति न देवर की कुबत कुल-तिय कलह डराति,
पंजर-गत मँजार-ढिग सुक ज्यों सूकति जाति ।।

—बिहारी-रत्नाकर, ८५ ।

इस शीलवती की पंजर से तुलना यह संकेत देती है कि वह अपने कुल को कलह से बचाने के लिए अत्यन्त चिन्तित है।

भारतीय परम्परा एवं आदर्श के अनुसार पति-पत्नी अपने प्रेम को गुरुजनों के सम्मुख प्रकाश्य रूप से प्रकट नहीं कर पाते। इसके मूल में लज्जा भावना ही थी। सबके सामने अपने पुत्र को प्यार करने में नयी बहू को झिझक मालूम पड़ती है। मति-राम ने एक स्थान पर इस प्रसंग का बड़ा मार्मिक उल्लेख किया है :

निसि दिन निंदति नन्द है छिन छिन सासु रिसाति ।
प्रथम भए सुत को बहू अंकहि लेति लजाति ।। मतिराम सतसई, ११६।

सास-ननद की फटकार सुनने के उपरान्त भी वह लज्जा के कारण उसे उठाने में असमर्थ है। इस प्रकार स्वकीया नारी का पति-प्रेम, कौटुम्बिक-मर्यादा की भावना, गुरुजन के प्रति आदर भाव-आदि भारतीय नारी के उच्च आदर्श हैं। बड़ों के सामने प्रिय के प्रति प्रेम-भाव को गोप्य रखना, सास-ननद का डर, पहले-पहल उत्पन्न पुत्र को अंक

में लेने में लज्जा का अनुभव आदि उसके प्रेम के गार्हस्थ्य-रूप को प्रकट करते हैं।
दो और चित्र देखिए :

—कटि किंकनी नेकु न मौन गहै चुप ह्वै चुरीन सौ मांगती हैं।
सब देखत 'देव' अनोखे नए बिछियान की जीभैं न लागती हैं।।
सुकि सारिका तूती कपोती पिकी अधरातक लौं अनुरागती हैं।
छन एक छमा करि देखो इतै घरहांई अबै सब जागती हैं।।
—झांझरियाँ झनकैंगीं खरी खनकैंगी चुरी तनकौ तन तोरे।
'दास जू' जागतीं पास अलीगन परहास करेंगी सबै उठि भोरे।।
—भिखारीदास, शृ० नि०, १४७।

रीति कवि दरबारी प्रभाव में रहते हुए भी सिद्धान्त रूप में इन भारतीय जीवनादर्शों को छोड़ने में असमर्थ रहे हैं। यद्यपि एक-एक राजा या रईस के यहां अनेक वेश्याएं या पातुरें विद्यमान थीं। केशव के आश्रयदाता इन्द्रजीत सिंह के यहाँ ६ वेश्याएं नियमित रूप से थीं, अनियमित रूप से आने-जाने वाली तो न जाने कितनी होंगी—परन्तु फिर भी उनके आश्रित कवियों ने स्वकीया के प्रेम को ही महत्त्व प्रदान किया, और परकीया के नेह को निरुत्साहित किया,

पात्र मुख्य सिंगार को सुद्ध स्वकीया नारि।
× × ×
पर-रस चाहै परकिया तजै आपु गुन गोत।
आपु औटि खोया मिलै खात दूध फल होत।।
काची प्रीति कुचालि की बिना नेह रस-रीति।
मार-रंग मारू-मही बारू की-सी भीति।।
—प्रेम चन्द्रिका।

शृंगार का मूल प्रेम ही है—कामुकता नहीं। जब तक दम्पती में प्रेम है तभी तक शृंगार का परिपाक हो सकता है। वासना के आधार पर वह असम्भव है। देव की इस विषय में स्पष्ट घोषणा है।

तब ही लौं शृंगार रसु जब लग दम्पति प्रेम। —प्रेम चन्द्रिका, १।१६।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वकीया का वर्णन इस काल में बहुत कम हुआ है लेकिन जहां भी हुआ है—वहां भारतीय परम्परा के अनुरूप है।

विवाह-प्रथा को केवल कामज रूप में देखने के अभ्यस्त आधुनिक लोग स्वकीया नायिका और उसकी मर्यादा एवं नैतिकता पर अनेक प्रकार की शंकाएं उपस्थित करते हैं :

—वेश्या और पत्नी दोनों अपने को बेचती हैं। इन दोनों में कीमत और ठेके (कांट्रेक्ट) के समय की मात्रा (ड्यूरेशन) का अन्तर है।[1]—मेरो।

---

1. "The difference between the wcmen who sells herself in Marriage" according to the saying of Marro is only difference in

—विवाह वेश्या-वृत्ति का आकर्षक रूप है।[१]—फोरेल।

—धार्मिक पवित्रता की ओट में विवाह पद्धति के रूप में जघन्य अनैतिकता और घोर स्वार्थपरता की खुली छूट दी जाती है।[२]—जेम्स हिण्टन।

कांट ने विवाह की परिभाषा स्थिर करते हुए कहा है कि यह दो परस्पर विरोधी लिंगियों में स्थित यौन गुणों के आदान-प्रदान का जीवन-व्यापी प्रयास है।[३] पाश्चात्य लेखकों की यह दृष्टि शुद्ध काम-प्रवण है। स्वकीया प्रेम में तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा करने वाले भारतीय चिन्तकों ने कामोन्माद-जन्य प्रेम को नहीं बल्कि अध्यात्मिक प्रेम को प्रेम का सर्वश्रेष्ठ रूप माना था। वास्तविक प्रेम में केवल शरीर की कामना नहीं रहती प्रत्युत एक के मन और आत्मा का दूसरे के मन और आत्मा से पूर्ण तादात्म्य होता है। इसीलिए "प्रिय के हिय में "ठी" पत्नी के लिए पतिव्रत सहज साध्य है। विवाह को केवल वासना-रूप में देखने वाले लोग रीति कवियों के स्वकीया और परकीया प्रेम को नहीं समझ सकेंगे। नैतिकता एवं सामाजिक सुख की दृष्टि से स्वकीया सर्वश्रेष्ठ नायिका है। उसका स्वरूप इस दृष्टि से एक उच्च आदर्श है।

किन्तु यह अनिवार्य नहीं कि जो आदर्श नैतिकता एवं समाज के उपयुक्त हो, वह काव्य के लिए भी अनिवार्य रूप से उपयोगी ही हो। यदि पश्चिम की भौतिक संस्कृति से प्रभावित पाठक स्वकीया के वर्णन को अस्वाभाविक मान कर उसके साथ तादात्म्य करने में असमर्थ रहता है तो उसका उस वर्णन के साथ तादात्म्य नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए "केलि के राति अघाने नहीं" आदि उदाहरण जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, इस प्रकार के पाठक के मस्तिष्क में नायिका के प्रति क्षोभ ही उत्पन्न करेंगे।[४] नायिका द्वारा निभाई जा रही ये मर्यादाएँ ऊपर से थोपी हुई प्रतीत होती हैं। उसका अपनी सन्तान को गोद में न लेना आदि बातें अस्वाभाविक हैं। उक्त विचारों का कोई भी व्यक्ति इस प्रकार की मर्यादाओं के साथ साधारणीकरण नहीं कर पाता। हमारी दृष्टि में उक्त उदाहरण रीतिकाव्य के परिवेश में वासना (लौकिक श्रृंगार) का ही ठहरता है। इसमें नायिका द्वारा पालन की गई मर्यादा के प्रति आस्था न होकर उसकी विवशता ही सामने आती है। रीतिकाव्य में स्वकीया का जहां-कहीं भी वर्णन हुआ है हमारी दृष्टि में वह शुद्ध श्रृंगार का उदाहरण नहीं बन सकता। इस काव्य में सन्निविष्ट भक्ति के उदाहरणों की

---

price and duration of contract.

—Havellock Ellis, Sex in Relation to Society (1945), PP. 222.

१. "Marriage is more fashionable form of prostitution."

—Ibid. PP. 222

२. Ibid, PP. 222

३. रिलाजन एण्ड सोसाइटी (राधाकृष्णन्) से उद्धृत)

४. यदि ये उदाहरण भारतीय पाठक के लिए भी रसाभास के उदाहरण हैं तो क्षोभ नायिका के प्रति न होकर नायक के प्रति होता है।

भांति इनके प्रति भी पाठक की अरुचि उत्पन्न होती है।[1] यह ऐसा ही है जैसे कि किसी मिर्च-मसालों से बने खाने का उपभोग करने में मग्न भोक्ता को अकस्मात् फीके भोजन को सात्विकता के नाम पर खाने के लिए बाध्य कर दिया जाय। मिर्च-मसालों से बना भोजन कितना ही हानिकर क्यों न हो किन्तु उसमें किसी को स्वाद आ गया है तो उससे उसका छूटना असम्भव है। यही कारण है कि रीति कवियों ने इस स्वकीया का वर्णन अधिक नहीं किया। किन्तु हाँ प्रबन्ध काव्यों में स्वकीया का वर्णन अपने आप में शुद्ध रस का उदाहरण होगा क्योंकि उसमें सफल कवि पाठकों को अपने अनुकूल रखने की क्षमता रखता है।

× × ×

वय के आधार पर भानुदत्त ने स्वकीया के तीन भेद किये हैं— मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा (प्रगल्भा)।[2]

मुग्धा : वह स्त्री है जिसके शरीर में यौवन और काम के संचार का आरम्भ ही होता है। अपने यौवन का बोध होने पर मुग्धा "ज्ञात-यौवना" और न होने पर अज्ञात-यौवना कहलाती है :[3]

सैसव-जोबन-संधि जिहि सो मुग्धा अवदात।
बिन जाने अज्ञात है जाने जानौ ज्ञात॥

श्रृंगार निर्णय, १२३।

बाल्यावस्था में ही विवाह हो जाने पर लाज, भय आदि कारणों से जब तक (अज्ञात-यौवना) मुग्धा पति पर आशंकित रहती है तब तक वह नवौढ़ा कहाती है और परिचय-क्रम से पति पर आस्वस्त हो जाने पर वह विश्रब्ध-नवोढ़ा कहाने लग जाती है।

पराधीन रति लाज भय जा तिय के मन होय।
बालपने व्याही सु यो नौढ़ा वरनत सोय॥
नवल नारि के होत जब कछु तिय की परतीति।
तब विश्रब्धा नवोढ़ कहि हिये लाज रति भीति।

— रसपीयूष-निधि, ८।३२,३७।

इन भेदों के अतिरिक्त केशव मुग्धा नायिका के 'शयन', 'सुरति' और 'मान' के भी लक्षण सोदाहरण देते हैं। वे लिखते हैं कि मुग्धा पहले तो नायक के साथ सोती ही नहीं और किसी प्रकार सखी के अनुरोध पर सो भी जाये तो उसे सुख नहीं मिलता, वह स्वप्न में भी सहर्ष सुरति में प्रवृत्त नहीं होती और यदि छल-बल से उसके साथ सुरति की जाए तो सुख और शोभा की हानि हो जाती है। वह या तो मान करती ही नहीं और यदि करे भी तो उसका मान उसे डरा कर छुड़ाया जा सकता है :

---

१. देखिए, प्रस्तुत प्रबन्ध, पृ० ३६८,३७७

२. स्वकीया तु त्रिविधा—मुग्धा मध्या प्रगल्भा चेति।—रसमञ्जरी, पृ० ७।

मुग्धा सोइ रहै नहीं, प्रिय-संग सुनहु सुजान।
जौ क्यों हूं सोवै सखी, सुख नहि ताहि समान॥
मुग्धा सुख्ख करै नहीं सपनेहूं सिख मानि।
छलबल कीने होति है, सुख सोभा की हानि॥
मुग्धा मान करै नहीं, करै तो सुनहु सुजान।
त्यों डरपाइ छुड़ाइयै ज्यों डरपै अज्ञान॥

—रसिक प्रिया ३।२६,२८,३०।

कुछ विद्वानों का मत है कि अज्ञात-यौवना मुग्धा और उसके पति के बीच स्नेह व्यवहार वर्णन-उभयपक्षीय न होकर लगभग एक पक्षीय होने के कारण काव्य का बहिष्करणीय विषय है तथा दोनों में रति-जन्य यौवन सम्बन्ध का वर्णन क्रूरता, प्रकृति-विरुद्धता तथा अनाचार का सूचक है।[1] अतः अज्ञात यौवना भेद प्रशस्त और शरीर -विज्ञान-सम्मत नहीं है। किन्तु रीति कवियों के द्वारा प्रस्तुत मुग्धा का वर्णन पाठक के चित्त में कामुकतापूर्ण वातावरण की सृष्टि करता है। उसके वर्णन से नायक के प्रति घृणा उत्पन्न नहीं होती। कुछ उदाहरण देखिए :

दूरि धरो दीपक झिलमिलात झीनो तेज, सेज के समीप छहरान्यौ तमतोम सो।
दूल है दुराह आली केलि के महल गई, पेलि के पठाई वधू सरद के सोम सो।
अंक भरि लीन्हीं गहि अंचल की छोरु, देव जोरू के जनावै नव यौवना के जोम को।
लाल के अधर बाल अधरनि लागि लागि उठी मैन आगि पघिलान्यौ मन मोम सो।

—देव।

नायिका सलज्ज रति मुग्धा है। अभी वह समागम के लिए प्रस्तुत नहीं है, परन्तु सखी की चालाकी से नायक के भुजापाश में फंस जाती है। उसको भी यौवन का उन्माद है—दोनों में संघर्ष आरम्भ हो जाता है किन्तु अन्त में नायक के अधरों से उसके अधर लगने के कारण काम की अग्नि प्रज्वलित हो जाती है और उसका मन मोम की, भांति पिघल जाता है। नायिका परबस हो जाती है। यह प्रसंग रससिक्त तो है ही साथ ही मनोविज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त सटीक है। प्रसिद्ध मनोवेत्ता फ्रायड ने एक ऐसी स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि बलात्कार के समय यदि कोई स्त्री परवश न होकर आत्मसमर्पण कर देती है तो इसमें उसके सतीत्व पर शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह तो प्रकृति का आग्रह है। ऐसी परिस्थिति में जहाँ उसका चेतन व्यक्तित्व बलात्कारी का विरोध करता है, अवचेतन व्यक्तित्व उसकी सहायता करता है। चेतन मन कठोर होकर आक्रान्ता को जितना ही दूर हटाने का प्रयत्न करता है, अवचेतन नारीत्व उतना ही पिघलता हुआ उसकी ओर बढ़ता जाता है।[2]

मतिराम की अज्ञात-यौवना नायिका को आँख-मिचौनी खेलते समय एक नया अनुभव होता है। वह कहती है कि नायक के स्पर्श मात्र से पता नहीं क्यों शरीर कांप

---

१. देखिए,भारतीय काव्यांग, पृ० १७४।
२. 'देव और उनकी कविता' से उद्धृत।

जाता है, रोम में सिहरन भर जाती है और आंखों में पानी आ जाता है। यहाँ पर आँख-मिचौनी खेल के परिणामस्वरूप सात्विक अनुभाव का बड़ा ही स्वाभाविक और काव्यात्मक स्वरूप खींचा गया है :

खेलन चोर मिहीचनि आज गई हुती पाछिले द्यौस की नाईं।
आली कहा कहौं एक भई 'मतिराम' नई यह बात तहाईं॥
एकहि भौन दुरै इकसंग है अंग सों अंग छुवायो कन्हाई।
कंप छुट्यो घन स्वेद बढ्यो, तनु रोम उठ्यौ, अंखियां भरि आईं॥

—रसराज, १६।

दास की अज्ञात-यौवना मुग्धा को देखिए :

सखि तैहूँ हुती निसि देखत ही जिन पै वै भई हीं निछावरियाँ।
जिन्ह पानि गह्यो हुतो मेरो तबै सब गाइ उठीं ब्रज डाबरियाँ।
अंसुवा भरि आवत मेरे अजौं सुमिरे उनकी पग पांवरियाँ।
कहि को हैं हमारे वे कौन लगें जिनके संग खेली ही भांवरियां॥

—शृंगार निर्णय, १२८।

दास की इस विश्रब्ध नवोढ़ा को देखिए जो धोखा खा चुकने के पश्चात् भी रति-प्रवीण पति पर विश्वास कर लेने को उत्सुक है :

हौं तौ कछु बातैं करेंगे प्रवीन बड़े बलदेव के भैया।
ये गुन जानती तो यहि सेजहि भूलि न सोवती बीर दाहैया।
"दास" इतें पर फेरि बोलावत यों अब आवति मेरी बलैया॥
आऊं तातौ जौ कहौं करि सौंहैं कि आज करेंगे न कालिह की नैया॥

—शृंगार निर्णय, १४५

मध्या : मध्या में काम और लज्जा अपेक्षाकृत अधिक होती है केशव ने मध्या का एक भेद विचित्र सुरता दिया है। विचित्र सुरता नायिका उसे कहते हैं जो सुरति में विचित्र चेष्टाएँ करती हो; जिसका वर्णन करना कवियों के लिए कठिन हो और जिसकी चर्चा सुनने में सुहावनी लगे।

अतिविचित्रसुरता सु तौ, जाको सुरत विचित्र।
बरनत कविकुल कों कठिन, सुनत सुहावै मित्र॥

—रसिक-प्रिया ३।३६

प्रौढ़ा : प्रौढ़ा में लज्जा की अपेक्षा काम अधिक होता है — वह समस्त काम-कलाओं में (केवल अपने पति के साथ ही) पारंगत होती है।

इस प्रकार स्पष्टतः मध्या एवं प्रौढ़ा का वर्णन सहृदय के चित्त में कामुकता जागरित करता है।

किन्तु मान के आधार पर इनके धीरा, अधीरा और धीराधीरा भेद रसाभास के जनक होते हैं। पति के अपराध पर अपने कोप को मध्धा-धीरा व्यंग्य द्वारा[1], मध्या-

---

१. **व्यंग्य कोप प्रगटै जु तिय मध्या धीरा सोइ।
कोप वचन बोलत प्रगट मध्य अधीरा होइ॥**

अधीरा कठोर वचनों द्वारा तथा मध्या धीराधीरा वचन और अश्रुपात दोनों द्वारा प्रकट करती है। ऐसे ही 'प्रौढ़ा-धीरा' अपने क्रोध को प्रकट न करके पति से उदास रहती है। वह पति को पहले की अपेक्षा अधिक आदर भाव दिखाकर उसे लज्जित करना चाहती है। अतः रात-दिन उदासीन रहकर पति को सबक अवश्य पढ़ा देती है।[1] प्रौढ़ा-अधीरा पति का तर्जन-ताड़न करती है जबकि "प्रौढ़ा धीराधीरा" पति से उदास रहने के साथ उसका तर्जन-ताड़न करके अपने कोप को प्रदर्शित करती है।

मध्या एवं प्रौढ़ा के इन सभी भेदों के उदाहरणों को पढ़ कर अपराधी नायक की मनहूस शक्ल सामने आ जाती है और पाठक उसे देख कर कभी उसके प्रति घृणा व्यक्त करता है और कभी उसकी निर्लज्जता पर उपहास करता है। ये उदाहरण पाठक के चित्त में कामुकता जागरित नहीं करते। मतिराम द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए :

तुम कहा करो कान! काम तैं अटकि रहे,
तुम कों न दोस सो तो आपनोई भाग है।
आय मेरे भौन बड़े भौर उठि प्यार ही तैं
अति हरबरन बनाय बांधी पाग है॥
मेरे ही बियोग रहे जागत सकल राति
गात अलसात मेरो परम सुहाग है।
मनहु की जानी प्रानप्यारे मतिराम यहै,
नैननिहूं मांहि पाइयतु अनुराग है॥

—रसराज, ३८।

नायिका की समस्त व्यंग्योक्तियां उसके "धीरा" होने का प्रमाण दे रही हैं। निम्नलिखित दोहों में मध्या-अधीरा का वर्णन है :

कत कहियत दुखु देन कौं रचि-रचि बचन अलीक।
सबै कहाउ रह्यौ लखैं, लाल, महावर-लीक॥

—बिहारी-रत्नाकर, ५२०।

सुभर भर्यौ तुवगुन कननु पकयौ कपट-कुचाल।
क्यौं धौं दार्यो ज्यौं हियौ दरकतु नाहिं न लाल॥

—वही, ५४६।

कभी-कभी संभोग-चिह्नों से ऐसी नायिका व्याकुल हो जाती है और प्रणय को

वचन रुदित के संग कहि कोप प्रकासै नारि।
मध्य धीर अधीर तिय ककि जद कहा विचारि॥

—कविकुल कल्पतरु, ५।२।११६

१. प्रौढ़ा धीरा नेकु नहिं कोपै करे प्रकास।
पति को आदरु करै रति से रहै उदास।

—वही, ५।२।११४।

स्वीकार न करके ही अपने रोष की व्यंजना करती है :

बिलखी लखै खरी खरी भरी अनख, बैराग ।
मृगनैनी सैन न भजै लखि बेनी के दाग ।।

—वही, ५८७ ।

प्रौढ़ा धीराधीरा के कथनों में कुछ खीझ अवश्य लक्षित हो जाती है । मध्याधीरा की अपेक्षा यह प्रियतम को अधिक स्पष्ट रूप में अपराधी बतलाती है । इसकी वचनावली के कुछ नमूने लीजिए :

पल सोहैं पगि पीक-रंग छल सोहैं सब बैन ।
बल-सोहैं कत कीजियत से अलसौंहैं नैन ।।

—वही, ४९८ ।

कत लपटइयतु मौ गरैं सौ न जु ही निसि सैन ।
जिहिं चंपक-बरनी किए गुल्लाला-रंग नैन ।।

—वही, ४९९ ।

वाही की चित चटपटी धरत अटपटे पाइ ।
लपट बुझावत बिरह की कपट-भरेऊ आइ ।।

—वही, ३३ ।

मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के पति प्रेम के आधार पर दो भेद और हैं—ज्येष्ठा और कनिष्ठा । जिस पर पति का प्रेम अधिक वह "ज्येष्ठा" और जिस पर अपेक्षा कृत कम हो वह कनिष्ठा कहलाती है ।[1] यदि इनके उदाहरणों से स्पष्टतः यह व्यक्त होता है कि नायक अपनी एक पत्नी के प्रति अधिक और दूसरी के प्रति कम स्नेह का प्रदर्शन कर रहा है तो उससे कनिष्ठा के प्रति दया की भावना जागरित हो सकती है और यह स्थिति रसाभास की स्थिति होगी । यहां यह द्रष्टव्य है कि मध्या एवं प्रोढ़ा के इन भेदों से प्रेम की अनन्यता पर अविश्वास रखने वाले पाठक को भी रसाभास की ही अनुभूति होगी । क्योंकि इन उदाहरणों से नायक की कामुकता प्रकट होने के स्थान पर उसकी कपटता द्योतित होती है और यह कपटता उसके प्रति क्षोभ, घृणा एवं उपहास की वृत्तियों को जागरित करती है ।

२. परकीया

जो समाज की मर्यादाओं का उल्लंघन करके पर-पुरुष से प्रेम करती है, वह परकीया नायिका कहलाती है ।[2] आचार्यों ने इसके अनेक प्रकार से भेद-उपभेद किये

---

१. (क) जाहि करै पिय प्यार अति ताही ज्येष्ठा जानि ।
जापर कछु घटि प्रेम है ताहि कनिष्ठा मानि ।। —रस सारांश, ५७ ।

(ख) प्यारी जेष्ठा, प्यार बिन कहै कनिष्ठा नाम । —श्रृंगार निर्णय, ६७ ।

२. दुरे दुरे परपुरुष तैं प्रेम करै परकीय । —श्रृंगार निर्णय, ७६ ।

हैं। इनमें से दो मुख्य भेद — (क) परोढ़ा और (ख) कन्यका हैं। परोढ़ा पति के अधीन है और कन्या माता-पिता तथा गुरुजन के। इन्हीं को दास ने ऊढ़ा तथा अनूढ़ा नाम दिये हैं।[1]

कन्या को परकीया इसलिए कहते हैं कि यह भी पिता इत्यादि किसी अभिभावक के अधीन ही होती है। साहित्यशास्त्र में इसका प्रेम शृंगार रस का ही आलम्बन माना गया है। शास्त्रकारों का मत है कि कन्या का प्रेम काव्य में स्वेच्छापूर्वक अंग तथा अंगी दोनों रूपों में रखा जा सकता।[2] किन्तु लोक में इसका अपने प्रेमी से मिलना-जुलना बुरा माना जाता है। अतः कोई साहित्यकार इस प्रकार के प्रेमी से उत्पन्न अनाचार का वर्णन करके रसाभास का विषय भी बना सकता है।

श्रुतियों एवं स्मृतियों में परकीया प्रेम को अवाञ्छनीय बतलाया गया है क्योंकि भारतीय विचार-धारा प्रेम की अनन्यता पर विश्वास करती है और इसे ही प्रेम का आदर्श रूप समझती है। स्मृतिकारों ने इसे अवैध घोषित करके दण्ड एवं प्रायश्चित्त की व्यवस्था की। मनु का कथन है कि ऐसे पति को जो किसी अन्य महिला से सम्बन्ध रखता हो जलते हुए लोहे की चारपाई पर फेंक दिया जाय। खड़ा हुआ जन समुदाय उस पर लकड़ियाँ फेंके ताकि वह पापी जल-भुन कर खाक हो जाय।[3] इन्हीं मर्यादाओं के कारण वात्स्यायन और कल्याणमल्ल ने अन्य प्रकार की नारियों के अतिरिक्त निम्नोक्त नारियों को भी अगम्या घोषित किया है—सम्बन्धी की स्त्री, पत्नी की सहेली, मित्र की स्त्री, और शिष्या।[4] केशव ने भी इसी प्रकार की धारणा प्रस्तुत की है :

---

१. होति अनूढ़ा परकिया बिन ब्याहै परलीन।
प्रेम अनत ब्याही अनत ऊढ़ा तरुनि प्रवीन।। —वही, ८१।

२. कन्यानुरागमिच्छतः कुर्यादंगागिसंश्रयम्। —दशरूपक, २।२०।

३. पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत्।। —मनुस्मृति ८।३७२।
(विशेष विवरण के लिए देखिए "वैदिक साहित्य में नारी" पृष्ठ, ७८)।

४. (क) अगम्यास्त्वेवैताः—कुष्ठिन्युन्मत्ता पतिता भिन्नरहस्या प्रकाशप्रार्थिनी गत-प्राययौवनातिश्वेता निकृष्णा दुर्गन्धा सम्बन्धिनी सखी प्रव्रजिता सम्बन्धिसखि श्रोत्रियराजदाराश्च।
—कामसूत्र, भाग १, अधिकरण १, अ०५, पृ० २०१।

(ख) भिक्षुकीश्रमणाक्षपणाकुलटा कुहकेक्षणिकामूलकारिकाभिर्न संसृज्येत्।
—वही, भा०२, वही, ४, अ०१, पृ० ६७९।

(ग) कन्या प्रव्रजिता सती रिपुवधूः मित्राङ्गना रोगिणी।
शिष्या ब्राह्मणवल्लभायपतितोन्मत्ता च सम्बन्धिनी।।

तजि तरुनी संबंध की, जानि मित्र द्विजराज ।
राखि लेइ दुख भूख तैं, ताकी तिय तें भाज ।।
अधिक बरन अरु अंग घटि, अंत्यज जन की नारि ।
तजि विधवा अरु पूजिता, रमियहु रसिक विचार ।।

—रसिक-प्रिया, ७।४२-४३ ।

अर्थात् सम्बन्धी की स्त्री, मित्र अथवा किसी ब्राह्मण की स्त्री, जिसको दुःख में आश्रय दिया हो अथवा भूखी होने पर जिसकी भोजन से सहायता की हो, ऐसी स्त्रियों से दूर रहना चाहिए अर्थात् सम्भोग न करना चाहिए। इसीप्रकार जिसका अंग भंग हो, चाण्डाल अथवा सेवक की स्त्री हो, विधवा अथवा पूज्या हो, इनको भी छोड़ देना चाहिए। रसिक गण विचार पूर्वक ही (किसी स्त्री में) रमण करें।

इसी आधार पर संस्कृत साहित्यशास्त्रियों ने इसे रसाभास बतलाकर काव्य से भी इसका बहिष्कार किया।[1] हिन्दी रीति कवि भी इसी विचारधारा से प्रभावित हैं। परकीया के सम्बन्ध में देव एवं तोष के विचार देखिए :

पर रस चाहैं परकिया तजै आप गुन गोत ।
आपु औटि खोया मिलै खात दूध फल होत ।।

—देव ।

विभिचारिनि को परकीय तिया यहि लोकति में परलोक भई ।।

—तोष ।

अन्ततः ऐसी नायिका को पश्चात्ताप करना पड़ता है। एक ऐसी प्रेमिका के पश्चात्ताप का उल्लेख एक कवित्त में इस प्रकार हुआ है :

मेरे मन, तेरी भूल मरीहों, हिये की सूल ।
कीन्ही तिन तूलतूल अति ही अतुल ते ।।
भावते झोड़ी करी भानिनी ने मोड़ी करी ।
कौडी करी हीरा ने कनौड़ी करी कुल ते ।

—देव, प्रेमचन्द्रिका, पृ० ४१ ।

अर्थात् अरे मन, तूने तो मेरे विषय में ऐसी भूल कर दी जिसके कारण मेरे हृदय में शूल-सा उठने लगा है और मैं मरी जा रही हूँ। वहाँ मैं कभी पहले अनुपम रमणी बनी रहा करती थी उसे तूने तृण और रूई के सदृश हलकी बना दिया। आत्मीयों के समक्ष मैं एक साधारण भौदूं स्त्री बन गई। स्त्रियोचित मान करने से जाती रही। हीरा से कोड़ी में परिणत हो गई और कुल-कलंकिनी तक कहलाने लगी।

वृद्धाचार्यवधूश्च गर्भसहिताऽज्ञाता महापापिनी
पिंगा कृष्णतमा सदा बुधजनैस्त्याज्या इमा योषितः । —अनंगरंग, पृ० ४५ ।

1. परोढ़ां वर्जयित्वा तु वेश्यां चाननुरागिणीम् ।
आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः ।। —सा०द०, ३।१८४।

इस प्रकार यद्यपि लोक और शास्त्र दोनों दृष्टियों से परकीया-प्रेम निषिद्ध घोषित किया गया है तथापि हिन्दी रीतिकालीन काव्य में इस प्रकार की प्रणय-लीला प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। इस प्रचुरता का प्रधान कारण यह है कि इस साहित्य का उद्देश्य नैतिक आचरण का उपदेश न होकर केवल लौकिक आनन्द की उपलब्धि है। मानव की मानसिक वृत्ति ही इस प्रकार की अमर्यादित (तथा कभी उच्छृंखल) परिसीमाओं की उत्तरदायिनी है। वस्तुतः मानव की मनोवृत्ति प्रायः एकनिष्ठ न होकर अनेकनिष्ठ ही होती है और वह वैविध्य-प्रेमी भी होता है। निश्चय ही इस प्रकार के प्रेम के लिए उसकी चेतना अथवा उपचेतना में रहने वाली पाशविक वृत्तियां ही मूल कारण हैं। अपनी पत्नी अथवा पति का त्याग कर किसी अन्य स्त्री अथवा पुरुष से सम्बन्ध की स्थापना केवल वासना के ही आधार पर हुआ करती है। इसी वासना के ही आधार पर यदि परकीया-प्रेम दृढ़ हो सके तो उसके समान तीव्रता स्वकीया-प्रेम में भी आनी असम्भव है। स्वकीया का प्रेम सदा अबाध गति से चला करता है। संघर्षों की कसौटी पर कसे जाने का उसे कभी अवसर नहीं मिलता। परन्तु परकीया का प्रेम अपनी अरम्भिक दशा से ही विविध बाधाओं के बीच पनपता और फूलता है। इस प्रसंग में भरतमुनि का यह कथन द्रष्टव्य है—'कामना होते हुए भी स्त्रियों की अभिलाषा विपरीत व्यवहार में होती है, स्त्रियां संभोग से बचने की इच्छा करें, समाज में उनके स्वच्छन्द आचरण का निषेध किया जाए और स्वतन्त्रतापूर्वक स्त्रियों की प्राप्ति कठिन हो, बस ये ही बातें रति के एक बहुत बड़े आनन्द का हेतु हैं। अर्थात् स्त्रियों का निषिद्ध-सम्भोग ही मनुष्यों को बड़ा आनन्द देने वाला होता है।' भारतीय धार्मिक मान्यता इस प्रकार के कठोर नियमों का विधान करती आयी है। अतः उसके विरोध में रीति-कवि को इस प्रकार का वर्णन करने में विशेष आनन्द मिला है। रसलीन ने परकीया के दो भेद माने हैं—असाध्या और साध्या। असाध्या के जो सभीता और गुरुजनभीता, और दूतीवर्जिता आदि भेद किये गये हैं उनसे स्पष्ट है कि बाह्य प्रतिबन्धों के कारण ही स्त्री पातिव्रत्य का निर्वाह कर सकती है। अपनी आन्तरिक प्रेरणा से वह एक-निष्ठ प्रेम का निर्वाह नहीं कर सकती। स्पष्ट रूप से तो ये कवि परकीया के प्रेम को वैध घोषित न कर सके क्योंकि इन्हें भी सामाजिक विधि-निषेधों का डर बना हुआ था। इसके लिए उन्होंने दूसरा मार्ग निकाला। दास ने स्वकीया के भीतर रखेलियों को समाविष्ट कर लिया है। ये रखेलियां विवाहित पत्नी के अतिरिक्त भोग-कामनियां थीं :

श्रीभामिनि के भौन जो भोग्यभामिनी और।
तिनहूं को सुकियानि में गनैं सुकवि सिरमौर॥

निश्चय ही उनकी यह व्यवस्था सामन्तों की विलास-क्रीड़ा को रसाभास से बचाने का उपक्रम थी।

हमारी सम्मति में परकीया-प्रेम वहीं रसाभास होता है जहाँ पाठक की बुद्धि नायक अथवा नायिका के प्रति घोर विरोध कर उठे। और इस प्रकार की सम्भावनाएँ किसी प्रख्यात कथावस्तु की नायिका के विषय में ही हो सकती हैं, कल्पित नायिका के विषय में नहीं होतीं। यदि कोई साध्वी-नारी किसी पर-पुरुष के साथ परिरम्भण स्वी-

कार कर लेती है तो पाठक के मन में घृणा का जागरित होना स्वाभाविक है। रीतिकालीन मुक्तक काव्य में चित्रित नायिका के चारित्र्य का कोई ऐसा अनुपम चित्र हमारे सम्मुख नहीं होता। परिणामतः रीतिकवि यदि इस प्रकार का उल्लेख करता है तो पाठक के चित में उससे वैरस्य उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत वह उसे अत्यन्त रुचि के साथ ग्रहण करता है :

देवर-फूल-हने जु, सु उठे हरषि अंग फूलि।
हंसी करति औषधि सखिनु देह-ददोरनु भूलि॥

—बिहारी रत्नाकर, २४६।

इस प्रकार के कुछ अन्य उद्धरण देखिए—

—चलत देत आभारू सुनि उहीं परोसिंहि नाह।
लसी तमासे की दृगनु हांसी आंसुनु मांह॥
—अंगुरिनु उचि, मरु भीति दे, उलमि चितै चख लोल।
रुचि सौं दुहूं दुहूंनु के चूमे चारु कपोल॥
—सुख सों बीती सब निसा मनु सोए मिलि साथ।
मूका मेलि गहे, सु छिनु हाथ न छोड़े हाथ॥

—वही, ५५१,५०५,५७१।

निस्सन्देह इस परकीया वर्णन से ऐन्द्रियता (लौकिक शृंगार) जागरित होती है। किन्तु प्रश्न है कि क्या इससे रसोत्पत्ति भी सम्भव है। यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि यदि किसी क्रूर अत्याचारी एवं क्लीब व्यक्ति की सदाचारिणी पत्नी किसी आदर्श युवक से प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करती है तो वह प्रसंग शृंगार रस का उदाहरण सिद्ध होगा।[1] आचार्य भिखारीदास ने जिन साध्या-नायिकाओं का उल्लेख किया है—वृद्ध, रोगी, बालक अथवा ग्रामीण (मूर्ख) पुरुष की वधुएं[2]—वे सभी मानव की सहानुभूति का अधिकार प्राप्त करने की अधिकारिणी हैं। शास्त्र ने भी इन्हें (सन्तानोत्पत्ति के लिए) नियोग की आज्ञा प्रदान की है।[3] कुशल कवि इनके वर्णन से रससृष्टि करने में सफल होगा। यदि भारतीय नारी का पति अयोग्य अथवा क्लीब हो तब भी उसे देवता तुल्य मानना ही होगा—इस प्रकार के कठोर विधानों के कारण उसका उपपति से सम्बन्ध रखना स्वाभाविक-सा बन गया है। किन्तु हां, यदि स्वास्थ्य, योग्यता, रूप, गुण आदि सभी दृष्टियों से उपयुक्त पति के होने पर भी कोई नारी किसी अन्य व्यक्ति से प्रेम

---

१. देखिए, प्रस्तुत प्रबन्ध, पृ० ६३

२. वृद्धवधू रोगीवधू बालकवधू बखानि।
ग्रामवधू आदिक सकल साध्या-लक्षन जानि॥

—रससारांश, ६८।

३. देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्-नियुक्तया।
प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥

—मनुस्मृति, ९।५९।

सम्बन्ध स्थापित करती है तो यह उसकी चंचल वृत्ति का द्योतक है। अतः वह रस का उदाहरण न होकर लौकिक शृंगार का ही उदाहरण होगा। रीतिकाल में परकीया-प्रेम का बाहुल्य सामाजिक प्रतिबन्धों के शैथिल्य का द्योतक है। रीतिकाल में भारतीय सांस्कृतिक जीवन का जितना ह्रास हुआ है, उतना किसी भी काल में नहीं हुआ। अतः रीति काव्य के मुक्तक पदों में वर्णित परकीया-वर्णन ऐन्द्रियता (लौकिक शृंगार) का ही जनक है।

प्रकृति के आधार पर किये गये परकीया के निम्नोक्त भेद हैं—(१) गुप्ता (२) विदग्धा (३) लक्षिता (४) कुलटा (५) अनुशयाना और (६) मुदिता। यद्यपि ये सभी नायिकाएं समाज में दूषित वातावरण उत्पन्न करने वाली हैं किन्तु सहृदय इनके वर्णन में अपनी विलास-भावना को पुष्ट करता है। तत्क्षण वह सामाजिक बुद्धि का परित्याग कर स्वार्थ की पूर्ति में लगा होता है। इनके लक्षणों एवं उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट हो सकेगा।

१—गुप्ता :

यह नायिका पर-पुरुष के साथ अपनी रति को गुप्त रखती है।[1] यह तीन प्रकार की होती है—(क) वृत्त सुरत गोपना—अर्थात् जो की हुई रति को गुप्त रखे (ख) वर्तिष्यमाण सुरत गोपना—जो सम्भाव्य रति को गुप्त रखे और (ग) वृत्तिवर्तिष्यमाण सुरत गोपना—अर्थात् उक्त दोनों प्रकार की रति को गुप्त रखे। उदाहरण देखिए :

एक नायिका को नायक से सहवास करने में देर हो गई। वह विलम्ब का कारण अपना रास्ता भूल जाना और भटकते फिरना बतलाती है तथा वह यह भी कहती है कि वहाँ से मुझे एक व्यक्ति ने निकाल दिया, नहीं तो मैं भटकती ही रहती। वह व्यक्ति कोई और नहीं है भगवान् कृष्ण ही हैं। किन्तु नायिका कृष्ण का इस रूप में वर्णन करती है मानो वह भगवान् कृष्ण को जानती ही नहीं :

लटकि लटकि लटकतु चलतु, डटतु मुकुट की-छांह।
चटक भर्‌यौ नटु मिलि गयौ अटक-भटक बट-मांह॥

—बिहारी रत्नाकर, १६२।

ऐसी नायिका केवल सुरत को ही नहीं प्रेम के दूसरे लक्षणों को भी छिपाती है। एक नायिका देखिए जो अपने सात्विक कम्प को भय का कारण बतला देती है।

कारे-बरन डरावने कत आवत इहिं गेह।
कै वा लखी, सखी, लखैं लगैं थरथरी देह॥ —वही, ५१५।

२. विदग्धा :

यह नायिका अपनी रति को चातुर्य से प्रकट कर देती है। यह नायिका दो

---

१. गुप्ता-सुरत-छपाव भयो होने व्रतमानहि।

—रसासारांश, ७१।

प्रकार की होती हैं—(क) वाग्विदग्धा। (ख) क्रिया-विदग्धा।

(क) वाग्विदग्धा नायिका वचन द्वारा संकेत-स्थान इत्यादि प्रकट करने में निपुण होती हैं, जैसे—

लाज गहौ बेकाज कत घेरि रहे घर जांहि।
गोरसु चाहत फिरत हौ गोरसु चाहत नांहि॥

—बिहारी-रत्नाकर, १२६।

यहां पर नायिका ने वैदग्ध्य के द्वारा यह व्यक्त किया है कि मैं सीधी घर ही जा रही हूँ, यदि तुम्हें सहवास-जन्य इन्द्रिय-सुख प्राप्त करना हो तो वहीं आ जाना। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण देखिए :

घाम घरीक निवारिये, कलित ललित अलि पुंज।
जमुना - तीर - तमाल - तरु- मिलित मालती-कुंज॥

—वही, १२७।

(ख) क्रिया-विदग्धा नायिका क्रिया द्वारा अपने अनुराग को व्यक्त किया करती है और नायक से मिलने के लिए संकेत द्वारा समय, स्थान इत्यादि का निश्चय करती है। उदाहरण के लिए एक दोहे को लीजिए :

हरषि न बोली लखि ललनु, निरखि अमिलु संग साथु।
आंखिनु ही मैं हंसि धर्यौ सीस हियैं धरि हाथु॥

—वही, १४६।

इसमें नायिका ने अपनी चेष्टा द्वारा प्रणय की स्वीकृति एवं संकेत-स्थान इत्यादि का निर्देश कर दिया है। इसी प्राकर के कुछ अन्य उदाहरण देखिए—

—लखि गरुजन बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम।
हरि सनमुख करि आरसी हियैं लगाई बाम॥

—वही, ३४।

—छल सौं चली छुआइ कै छिनकु छबीली छांह।
मन मोहन के मिलन कौं करति मनोरथ नारि।
धरै पौन के सामुहैं दिया मौन को बारि॥

दास ने एक दृष्टि चेष्टा नाम की परकीया की कल्पना की है।[1] नायिका के संकेत पर गुरुजन के सामने नायक द्वारा चुपके से स्पर्श कर लिए जाने पर उसे विशेष प्रसन्नता होती है :

तुरत चतुरता करत अलि गुरजन-संग लखै न।
परसि जात हरि-गात है सरसि जात तिय-नैन॥

—रससारांश, ६०।

---

१. परनायक-अनुराग चित परकीया सो लेखि।
चीन्हि चतुर बात क्रिया दृष्टिचेष्टा देखि॥

—रससारांश, ५६।

इसे भी विदग्धा का ही अवान्तर भेद समझना चाहिए।

३. लक्षिता :

इस नायिका की रीति उसकी सखियां जान जाती हैं। वह प्रयत्न करने पर भी उसे छिपा नहीं पाती। कुछ उदाहरण देखिए—

फिरि फिरि दौरत देखियत निचले नैंक रहैं न।
ए कजरारे कौन पर करत कजाकी नैन ॥
—बिहारी-रत्नाकर, ६७०।

मानति मों सौं क्यौं नहीं छई छबीली छांह।
प्रेम प्रगट भयौ है सखी, आभा आंखिनि मांह ॥
प्रेम दुरायौ ना दुरै नैना देहि बताइ।
छेरी कै मुंह री सखी क्यौं हुं कुम्हड़ौ माइ ॥
— बिहारी-रत्नाकर (अधिक दोहे) १३, १४।

४. कुलटा नायिका :

जब नायिका की रति अनेक-कान्त-विषयक होती है अथवा नायिका का प्रेम किसी एक निश्चित कान्त विषयक नहीं होता तब वह कुलटा कहलाती है।

चली अली, कहि, कौन पैं, बड़ौ कौन कौ भाग।
उलटी कंचुकि कुचनि पैं कहैं देति अनुराग ॥
—बिहारी-रत्नाकर (अधिक दोहे), १४२।

यहां पर यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि नायिका का स्वभाव किसी भी व्यक्ति से प्रेम करने का है। वह चाहे जिसके पास जा सकती है। इसी प्रकार के कुछ और उदाहरण देखिए :

—आनन उपटैं ओप अति, कसे कंचुकी लेति।
का पर कोपैं कामिनी काजरु नैनन देति ॥
—बिहारी-रत्नाकर (अधिक दोहे), ११।

—पल न चलैं, जकि सी रही, थकि सी रही उसास।
अबहीं तनु रितयौ, कहौ, कानु पठयौ किंहि पास ॥
—लखि, लौने लोइननु कैं कोइनु, होइ न आजु।
कौनु गरीबु निवाजिबौ कित तूठ्यौ रतिराजु ॥
—बिहारी रत्नाकर, ५३४, ५८।

यहां पर 'आजु' से यह व्यक्त होता है कि नित्य नया प्रेम करना ही नायिका का स्वभाव है।

अंजन दै निकसै नित नैनन
मंजन कै अति अंग संवारै।
रूपगुमान भरी मग में
पग ही के अंगूठा-अनौट सुधारै।

जोवन के मद सों 'मतिराम'
भई मतवारिनि लोग निहारै ।
जाति चली यहि भांति गली,
बिथुरी अलैकैं अंचरा न संभारै ।।

—रसराज, ८० ।

दास ने अपने एक ग्रन्थ में कुलटा की अवहेलना द्वारा पाठकों को दूषित साहित्य को अशास्त्रीय एवं अनुपादेय समझने का प्रकारान्तर से अनुरोध किया है। यदि किसी पाठक की वृत्तियां बहुत ही दूषित नहीं, तो इस प्रकार के वर्णन रसाभास के ही जनक हैं ।

५. अनुशयाना :

जब नायक से मिलने की सम्भावना न रहने के कारण अथवा संकेत-स्थान में न पहुंच सकने के कारण कोई नायिका पश्चात्ताप करती है तब उसे अनुशयाना नायिका कहते हैं ।

—केलि करैं मधु मत्त जहं घन मधुवन के पुंज ।
सोचति करि तब सासुरै सखि मघन वन कुंज ।।
—सखि सोहति गोपाल कैं उर गुंजन की माल ।
बाहिर लसति मनौ पिए दावानल की ज्वाल ।।

—बिहारी-रत्नाकर, ३१२ ।

६. मुदिता नायिका :

जब नायिका सम्भोग-सुख प्राप्त करने की सम्भावना में आनन्दित होती है, उसे मुदिता नायिका कहते हैं, यथा :

चलत देत आभारू सुनि उहीं परोसिहिं नाह ।
लसी तमासे की दृगनु हांसी आँसुनु मांह ।।

—बिहारी-रत्नाकर, ५५१ ।

अन्त में परकीया नायिका के सम्बन्ध में यह कहना पर्याप्त है कि यदि उसके वर्णन से पाठक के चित्त पर स्पष्टतः यह प्रभाव पड़ता हो कि उसका यह कृत्य अनुचित है तो वह रसाभास का उदाहरण होगा । परकीया के उक्त भेदों से यदि पाठक के चित्त में घृणा, क्षोभ अथवा उपहास की भावना जागरित हो तो उसे रसाभास का उदाहरण माना जाना चाहिए । कुछ उदाहरणों में ये नायिकाएं स्पष्टतः किसी कुचक्र में फंसी प्रतीत होती हैं और काम-वासना की भूख उन्हें सता रही होती है । पाठक उनके वर्णन से किसी काम-भावना की अनुभूति न कर उनका उपहास-सा करता है । वहां रसाभास ही मानना चाहिए । किन्तु हां, पाठक की किसी विशेष मनःस्थिति में, जब कि लोक में अथवा कल्पना में उनकी नायिका ने कभी उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया होगा, तब वह इनसे अपनी विलास-भावना को ही पुष्ट करता है । सच तो यह है कि यह सम्पूर्ण साहित्य इसी प्रकार की मनोवृत्ति एवं अनुभव प्राप्त लोगों के लिए लिखा

गया है और इसी प्रकार का ही पाठक इसमें लीन हो पाता है।

३. सामान्या :

जो केवल धन के लोभ में किसी भी पुरुष के साथ प्रेम कर सकती है, वह सामान्या कहलाती है। सोमनाथ का कथन है कि वारवधू (सामान्या) धन के लोभ में तन-मन और वचन से एक क्षण के लिए तो अति प्रीति दिखाती है पर वस्तुतः वह किसी से भी प्रीति नहीं करती :

प्रेम न काहू सो तनक धन ही सों अति प्रीति।
तन मन वचन निलज्जिता वारवधू की रीति॥

सोमनाथ ने श्लेष का आधार लेते हुए इसी प्रसंग में कहा है कि गणिका की धनलोलुपता तो देखिए उसे 'माधवी' पुष्प के अतिरिक्त अन्य कोई भी पुष्प नहीं भाता :

माधवी मधुर फूल ल्यावै क्यों न आलि हेरे।

कारण स्पष्ट है कि माधवी शब्द धनी का पर्याय जो सिद्ध हो जाता है। अतः देव का कथन है कि :

"प्रेम हीन त्रिय वेश्या है शृंगाराभास"। —प्रेमचन्द्रिका, द्वि० प्रकाश, दो० १०

शृंगार, बिना प्रेम के सर्वथा नीरस है। सामान्या से जो केवल वासना की तृप्ति देती है धर्म और धन दोनों की हानि होती है। अतः यह रसाभास का विषय है। जनराज द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए :

अतुल सुतन मन के दियो षुले कौन के भाग।
का पै तूठ्यौ रति पंती चली कहाँ करि लाग॥

—कविता-रस-विनोद, पृ० ७६।

जनराज का कथन है, 'इहां धन के हेत सामान्या है तिहां रस नांही याते रसाभास जानिये' इसी कारण सामान्या नायिका कृष्ण काव्य के नायिका भेद में स्थान पाने योग्य नहीं समझी गयी है। सारन्ध्री (आदि तथा-कथित सामान्या नायिकाओं) को उन्होंने परकीया मान लिया है, क्योंकि ये भी कृष्ण के प्रति (अर्थ निर्देश होकर) एकनिष्ठ रमण-भाव रखती हैं।

किन्तु वस्तुतः जब तक कवि का उद्देश्य वेश्या के प्रति घृणा जागरित करना न हो तब तक यह आभास का विषय नहीं बन सकता। वेश्या विलास की प्रतिमूर्ति है। उसका वर्णन सहृदय के चित्त में इसी विलासिता को जागरित करता है। उसका साज-शृंगार, उसका कटाक्ष, उसकी मुस्कान, तड़क-भड़क क्षण भर के लिए सहृदय को तीव्र कामवासना का अनुभव करवाती है और सहृदय तत्क्षण बेसुध होकर उसका स्वाद लेने में लीन होता है। शास्त्रीय दृष्टि से अननुमोदित हो कर भी यह वर्णन रस-लोलुप पाठक की रुचि का विषय है। इसी कारण यह काव्य का विषय बनती रही है। इस प्रकार के प्रसंग भी (परकीया प्रेम के समान) लौकिक शृंगार के अन्तर्गत स्वीकार किए जाने चाहिएं।

अवस्था के अनुसार स्वकीया, परकीया और सामान्या के आठ-आठ भेद किये गये हैं— प्रोषित पतिका, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्का, वासकसज्जा, स्वाधीन पतिका और अभिसारिका। अब इन पर क्रमशः विचार करते हैं :

(क) **प्रोषित पतिका** : दूसरे देश में गये पति के लिए सन्तापाकुला स्त्री को 'प्रोषित पतिका' कहते हैं।[१] यह नायिका विप्रलम्भ शृंगार का आश्रय बनती है। यह नायिका रसाभास का विषय तभी बनती है जब इसका नायक इसकी तरफ से सर्वथा उदासीन होकर किसी अन्य से ही कामकेलि में लीन होता है।

(ख) **खण्डिता** : नायक के शरीर पर किसी अन्य स्त्री के रति चिह्न देखकर दुःखी होने वाली स्त्री 'खण्डिता' कहलाती है।[२] इसका वर्णन अनिवार्यतः रसाभास का जनक होता है। प्रायः इसके वर्णन में ढीठ नायक की मनहूस शक्ल पाठक के सामने आ जाती है और वह घृणा, क्षोभ अथवा उपहास का आलम्बन बनता है। साथ ही इससे नायिका के प्रति सहानुभूति भी जागरित होती है। इस प्रसंग में भानुदत्त का यह कथन कि नायिका के शरीर पर रति-चिह्नों के प्रकट होने की स्थिति में काव्य का यह विषय (शृंगार) रसाभास की कोटि में आ जायेगा,[३] उचित प्रतीत नहीं होता। इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे नायक के शरीर पर रतिचिह्नों को देखकर उससे शृंगार रस की उद्भावना स्वीकार करते हैं। किन्तु हमारी सम्मति में नायक के शरीर पर अंकित चिह्नों का वर्णन कामुकता उत्पन्न करने में भी अक्षम हैं। कारण यह है कि खण्डिता नायिका पति को परमेश्वर से भी बड़ा मानती है क्योंकि उसी के कारण पत्नी का सांसारिक जीवन सार्थक होता है। वह कहती है कि उसे दूर से ही प्रणाम करना चाहिए। यदि उसकी आज्ञा मिले तो उसके पैर पर भी गिर जाना उचित है। उस देवता की टीका टिप्पणी करना अनुचित है। वह जो भी दुःख या सुख दे उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना पत्नी का परम धर्म है। व्यर्थ में झगड़ा बढ़ा कर कौन कुनारी कहलाए :

> है परमेश्वर से पति नीकौ सदा पतिनी कौ जु लहावै।
> दूर हि तैं रहिए करि जोरि निहोरि पगौ गहिये जो गहावै।
> देवहि दोष कहा कहिये दुख वो सुख वो सहिये जो सहावै।
> काहे को रारि वढ़ैये वृथा कुलगारि चढ़ाय कुनारि कहावै॥
>
> —सुखसागर-तरंग, ६४५।

---

१. (क) देशान्तर गते प्रेयसि सन्तापव्याकुला प्रोषितभर्तृका। —रसमंजरी, ६४।
   (ख) दै अवधि गयो परदेस पिय प्रोषितपतिका सहति दुख। —रससारांश, ११८।

२. (क) अन्योपभोग चिह्नितः प्रातरागच्छति पतिर्यस्याः सा खण्डिता।
—रसमंजरी, १०२।
   (ख) प्रीतम रैनि बिहाइ कहुं जापै आवै प्रात।
   सु है खंण्डिता मान में कहै करै कछु बात॥—शृंगार-निर्णय, १७५।

३. अन्य सम्भोगचिह्नितत्वं नायकानामेव, न तु नायिकानामित्यन्वयः। .. तान् प्रति तदुद्भावने रसाभासापत्तिरिति। —रसमञ्जरी, पृ० १८९।

उसका कथन है :

'साथ में राखिये नाथ उन्हें हम हाथ में चाहती चार चुरी ये'

हे नाथ ! आप उन्हें ही अपने साथ रखें, हमारे लिए यही बहुत है कि हमारा सौभाग्य बना रहे। इसमें कितना दैन्य, कितनी विवशता और कितना अवसाद भरा हुआ है। एक दूसरे स्थान पर नारी की विगलित आत्मा अपनी सम्पूर्ण विवशता में द्रवित हो उठी है :

देव जू दरस बिन तरसि मर्यौ हो पग परसिजियेगो मन बैरी अनमारनौ।
पतिव्रतवती ये उपासी प्यासी अंखियन प्रात उठि प्रीतम पियासौ रूप पारनौ।

खण्डिता नायिका के वर्णन में या तो उसकी ये विवशताएं हमारे सम्मुख आती हैं या वह अत्यन्त कामुक प्रतीत होती है। रूप गोस्वामी ने इस प्रकार की नायिका के वर्णन में रसाभास का कारण समय की व्यतिक्रान्ति माना है :

समयाः खण्डिताऽऽदीनां प्रिये रोषोदितादयः।
पुंसः स्मितादयश्चात्र प्रियया ताडनादिषु॥
एतेषामन्यथाभावः समयानां व्यतिक्रमः।

हि० भ० र० सि० ६।१६, १७।

अर्थात् खण्डिता आदि नायिकाओं का नायक के विषय में क्रोधादि तथा नायक का प्रिया द्वारा ताड़ना आदि में स्मित आदि करना समय कहा जाता है। इनका अन्यथाभाव विपरीत भाव समयों का व्यत्तिक्रम होता है। उदाहरण देखिए :

कान्तनखाङ्किनोऽप्यद्य परिहृत्य हरे ! ह्रियम्।
कैलासवासिनीं दासीं कृपादृष्ट्या भजस्व माम्॥

अर्थात् हे हरे, कान्ता के नखचिह्नों से अंकित भी आप आज लज्जा को छोड़कर मुझ कैलाशवासिनी दासी का कृपा पूर्वक सेवन करो। रूपगोस्वामी कृष्ण-भक्ति के कारण 'समय' की अवस्था को रसाभास नहीं कहना चाहते पर हमारी दृष्टि में वह भी रसाभास ही है क्योंकि उसके वर्णन में कपटी नायक हमारे क्षोभ का आलम्बन बनता है। इस प्रकार के कुछ उदाहरण देखिए—

१. दास ने ऐसी नायिका का बहुत सुन्दर चित्रण किया है। प्रातःकाल परस्त्री-रमण के बाद उसका नायक उसके सम्मुख आया है। उसके नेत्र लाल हैं, मस्तक पर जावक शोभायमान है। उस समय दो-दो अंगों पर लाली देखकर वह कह उठती है कि नायक के मन में स्वच्छ अरुणोदय का सौन्दर्य ही निखर पड़ा है और परस्त्री ने नायक के शरीर पर जो अंगराग लगा दिया है—उसने उसके शरीर को सुवासित एवं कान्तियुक्त कर दिया है। छाती पर नखक्षत विधुरेख के समान प्रतीत होता है तथा ओठ पर अंजन तो ऐसा लगता है कि कमल दल पर भौंरा बैठा हुआ है। ऐ प्यारे ! कितने सुन्दर रूप में तुमने मुझे दर्शन दिये हैं। मालूम होता है कि प्रभात के पीछे प्रकट होने वाली अरुणिमा को ही शरीर पर बिखेर लाए हो। उसके इस कथन में कितना व्यंग्य और कितनी वेदना है :

लोचन सुरंग भाल जावक को रंग मन
सुषमा उमंग अरु नोदै अवदात की।
भावती को अंगराग लाग्यो है सभाग-तन
छवि सी छिपन लागी महातम-गात की॥
दाम ब्रिधुरेख सो नखच्छत सुवेष ओठ
अंजन की रेख अलिनी सी कंजपात की।
प्यारे मोहि दीन्हौ आनि दरस प्रभात, प्रभा
तन में सु लै दरस पीछे कै प्रभात की॥

—श्रृंगार-निर्णय, १७६।

२. मुग्धा खण्डिता नायिका ने अपने पति को किसी अन्य स्त्री के अंगों में 'चौवा' लगाते हुए देख लिया। फिर तो उसी क्षण से उसका खेलना छूट गया। सखियों के इसका कारण पूछने पर वह अपने क्लेश को जानबूझ कर छिपा लेती है और पैर के तलवों से पैर के नखों को खरोचती हुई सिर नीचा किए हुए धरती की ओर देखती रह जाती है। वह नवेली बाला अभी रूठना नहीं जानती किन्तु भीतर ही भीतर मन मसोस कर रो उठती है। यहां पर उसके मुग्धत्व की पूरी रक्षा करते हुए उसकी विवशता का अत्यन्त मार्मिक चित्र खींचा गया है :

लाल तुम्हैं कहुं और तिया की, लख्यो अंगिया में लगावत चोवै।
ता छिन तें "मतिराम" न खेलत, बूझैं सखीनहुँ सौ दुख गोवै॥
लिखै कर के नख सौं पग कौ नख, सीस नवाय कै नीचे ही जोवै।
बाल नवेली न रूसनो जानति, भीतर भौन मसूसति रोवै॥

—रसराज, १२३।

३. नायक रात अन्यत्र बिता कर प्रातः नायिका के पास आया है। उसे अपने अपराध का ज्ञान है; आते ही नायिका को अपनी चुपड़ी-चिकनी बातों से भुलाना चाहता है। नायिका भी गम्भीर होकर कहती है कि हमारा तो यह नियम है कि मरण के उपरान्त भी पति के प्रति प्रेम का निर्वाह करना चाहिए। अतएव मन में कभी विरोधी भावना आती भी है तो उसे दूर कर दिया जाता है। नायक को थोड़ा सहारा मिलता है और वह पूछता है कि यदि ऐसा है तो मुख की कान्ति फीकी क्यों है। आंखों में आंसू क्यों भर रहे हैं, गला क्यों भरा हुआ है। इस पर नायिका समस्त पीड़ा को व्यंग्य में संकलित करती हुई, उसी संयम और गम्भीरता के साथ, वाणी में किसी प्रकार का भी परिवर्तन न कर, उत्तर देती है :

देव जु पै चित चाहिए नाह तो नेह निबाहिए देह भर्‍यौ परै।
त्यों समुझाइ समुझाए राह अमारग जो पग धोखे धर्‍यौ परै।
नीके में फीके ह्वै आंसू भरौ कत, ऊँची उसास गरौ क्यों भर्‍यौ परै।
रावरौ रूप पियो अँखियान भर्‍यौ सु भर्‍यौ उबर्‍यौ ढर्‍यौ परै॥

आज आप की छवि में कुछ विशेष माधुर्य है, इतना अधिक कि इन आंखों में समाता ही नहीं, यह आंसू नहीं हैं—तुम्हारी रूप-माधुरी ही है जो आंखों में न समाकर

बाहर बही जा रही है।

४. प्रेम के राज्य में सदा सुख ही नहीं दुःख भी हैं। नायिका ने रात भर कृष्ण की प्रतीक्षा की है। अन्त में वह निराश तथा दुःखी होकर कह रही है :

नभ-लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली, आली, अनत, आए बनमाली न॥

—बिहारी-रत्नाकर, ११५

यहां पर निराशा तथा खेद की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है जब कृष्ण का यह व्यवहार अधिक बढ़ जाता है तब उसे क्रोध पूर्ण भाषा में कहना पड़ता है :

सदन सदन के फिरन की सद न, छुटैं, हरिराइ।
रुचैं, तितैं बिहरत फिरौ, कत बिहरत उरु आइ॥

—बिहारी-रत्नाकर, ५४०।

कृष्ण नखक्षत को धारण किए हुए नायिका के पास गये हैं। नायिका निम्नोक्त शब्दों में उपालम्भ देती है :

मरकत-भाजन-सलिल-गत इन्दुकला कैं बेख।
झीन झगा मैं झलमलै स्यामगात-नखरेख॥

—बिहीरी-रत्नाकर, १८६।

किसी पात्र के जल में चन्द्र बिम्ब देखना अशुभ माना जाता है। इस प्रकार नायिका अपनी अरुचि तथा व्यथा व्यक्त करती है।

(ग) **कलहान्तरिता** : नायक का आनादर करने के पश्चात् स्वयं ही अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप करने वाली स्त्री "कलहान्तरिता" कहलाती है।[1] यह नायिका पाठक की सहानुभूति एवं उपहास दोनों की पात्री बन सकती है। अतः इसकी गणना रसाभास के अन्तर्गत होनी चाहिए। एक उदाहरण देखिए :

ठाढ़े भए कर जोरि कै आगे, अधीन ह्वै पांयन सीस नवायो।
केती करी बिनती 'मतिराम', पै मैं न कियौ हठ तें मन भायो॥
देखत ही सिगरी सजनी तुम, मेरो तौ मान महा मद छायो।
रूठि गयो उठि प्रानपियारो, कहा कहिए तुमहूँ न मनायो॥

—रसराज, १३८।

---

१. (क) पतिमवमत्य पश्चात्परितप्ता कलहान्तरिता।

—रसमञ्जरी पृष्ठ १०८।

(ख) कह्यौ न मानै कन्त को पुनि पीछे पछिताय।
कलहन्तरिता नायका ताहि कहत कविराय॥

—रसराज, १३३।

(ग) कलहान्तरिता मान कै चूक मानि पछिताइ।
सहज मनावन की जतन मानसांति ह्वै जाइ॥

—शृंगार-निर्णय, १८६।

नायिका अपनी सखियों को कह रही है कि वे मेरे सामने हाथ जोड़ दीनता प्रदर्शित करते हुए खड़े रहे, बाद में मेरे चरण भी छुए, उनके उतनी विनती करने पर भी मैंने हठ न छोड़ा और जो मन में आया वही किया। तुम सब देख रही थीं, मैं और भी ताव में आ गयी, और अधिक ऐंठ गयी। वे मेरे पास से रूठ कर चले गए, किन्तु तुमने उन्हें जाता देखकर भी नहीं रोका। नायिका का अपनी सखियों से उलाहना है कि उन्होंने अपने सख्य-धर्म का तनिक भी पालन नहीं किया। किन्तु सखियों का उत्तर है :

पीतम जब पांयन पर्‌यौ, तब अति भई सरोस।
कह्यौ न मान्यो कन्त कौ, हमें दीजियतु दोस ।।

—रसराज, १३९।

इस प्रकार की नायिका के वर्णन से उसका मिथ्या अहं प्रकट हो जाता है, जो कि पाठक पर अच्छा प्रभाव नहीं डालता। ऐसी नायिका पाठक के उपहास की ही पात्री बनती है।

(घ, ङ) **विप्रलब्धा-उत्का :** संकेत स्थल पर प्रिय को न देख कर जो स्त्री दु:खी हो उसे विप्रलब्धा कहते हैं।[1] विप्रलब्धा का नायक परनारी सम्भोग के लिए चल देता है। संकेत स्थल पर प्रिय को न पाकर नायिका की स्तब्धता और किंकर्तव्य-विमूढ़ता का एक अत्यन्त मनोरम चित्र खींचते हुए देव ने लिखा है :

देव कछू रद बीरी दबी री सु हाथ की हाथ रही मुख की मुख ।।

दास की यह विप्रलब्धा दर्शनीय है जिसके लिए नायक से न मिल सकने के कारण शृंगार भी अंगारों की भांति दु:खदायक हो गये हैं :

जानिकै सहेट गई कुंजन मिलन तुम्हैं।
जान्यौ न सहेट के बदैया बृजराज से।
सूनो लखि सदन सिंगार ज्यों अंगार भए
सुख देनवारे भए दुखद समाज से।
"दास" सुखकन्द मंद सीतल पवन भए
तन तें जु लाव-उपजावन-इलाज से।
बाल के बिलापन बियोग-तन-तापन सों
लाज भई मुकुत मुकुत भए लाज से।

—शृंगार-निर्णय, १९३।

---

१. (क) संकेत निकेतने प्रियमनवलोक्य समाकुलहृदया विप्रलब्धा।

—रसमंजरी ११५।

(ख) मिलन आस दै पति छली औरही रत ह्वै जाइ।
विप्रलब्ध सो दुखिता-परसम्भोग सुभाई ।। —शृंगार-निर्णय, १९२।

(ग) मिलन आस करि जाय तिय, मिलै न पिय संकेत।
विप्रलब्ध सो जानिये, विरह-बिकल बिन चेत ।। —रसराज, १४४।

उत्का नायिका संकेत स्थल पर पहुँच कर अपने प्रिय के आगमन के विषय में चिन्ता करती है।[1]

जमुना के तीर बहै सीतल समीर जहां
मधुकर करत मधुर मन्द सोर हैं।
कवि 'मतिराम' तहां छवि सों छबीली बैठी
अंगनि तें फैलत सुगन्ध के झकोर हैं।।
पीतम बिहारी की निहारिबे को बाट ऐसी
चहूं ओर दीरघ दृगन करी दौर हैं।
एक और मीन मनो एक और कंजपुंज
एक ओर खंजन चकोर एक ओर हैं।।

—रसराज, १६३।

यमुना तट पर पहुंच कर नायिका का अपने प्रिय को देखने के लिए चारों ओर दृष्टि दौड़ना उसके 'परकीया-उत्कण्ठिता' होने की ओर संकेत कर रहा है।

विप्रलब्धा और उत्का ये दोनों नायिकाएं नायक की प्रवंचना का शिकार हैं। परिणामत: सहृदय इनके नायकों के प्रति क्षोभ और नायिकाओं के प्रति सहानुभूति व्यक्त करता है जो कि शास्त्रीय दृष्टि से रसाभास का विषय है।

(च) **वासकसज्जा :** आज प्रिय आयेगा, ऐसा निश्चित समझ कर जो स्त्री साज सिंगार करे वह वासक सज्जा कहलाती है।[2] मुग्धा वासक सज्जा का उदाहरण देखिए—

भई हौ सयानी तरुनाई सरसानी प्रीति,
प्रीतम पत्यानी दूरि लाज उर नाखियो।
कवि 'मतिराम' काम केलि की कलानी करि
मोहन लला कौ बास कीबो अभिलाखियो।
मृदु मुसकाय परजंक में निसंक जाय
अंक भरि आनन्द अधर-सुधा चाखियो।

---

१. (क) संकेतस्थल प्रति भर्तुरनागमनकारणं या चिन्तयति सोत्का।

—रसमंजरी, १२२।

(ख) आप जाय संकेत में, पीय न आयो होय।
ताकी मन चिन्ता करै, उत्का कहिये सोय।।

—रसराज, १५६।

२. (क) अद्य मे प्रियवासर इति निश्चित्य या सुरतसामग्रीं सज्जीकरोति सा वासक-सज्जा। —रसमंजरी, पृ० १२८।

(ख) ऐहैं प्रीतम आजु यों निस्चय जाने बाम।
साजे सेज सिंगार सुख वासकसज्जा नाम।। —रसराज, १६७।

नवर की झनक झनक राखि प्यारी आजु,
रसना की झनक-तनक रस राखियो ॥

—रसराज, १६८।

इसमें चतुर सखी ने मुग्धा नायिका को कामकला की शिक्षा देते हुए मीठे-मीठे परिहास किये हैं। उसे समझा रही है कि अनेक प्रकार की विलास-चेष्टाओं द्वारा रति सुख लेने में आज न चूकना। सखी को भय है कि कहीं मुग्धा नवौढ़ा लज्जा के कारण आनन्द न ले सके। और इधर नायिका लज्जा के कारण प्रिय के विदेश से लौटने पर प्रथम समागम के लिए सबकी आँखें बचा कर केलि-भवन में जा शय्या पर लेट गई। प्रिय को कई दिनों के बाद अपने निकट पा मुग्धा प्रसन्न हो गई :

डीठि बचाय सखीन की केलिभवन में जाय।
पौढ़ि रहे छिन सेज में तिय आनन्द अधिकाय ॥

—रसराज, १६९।

इस प्रकार के वर्णन शृंगार रस के ही ठहरते हैं। ऐसी नायिका उत्कण्ठा की आलम्बन बनती है। पाठक इन्हें अत्यन्त रुचि के साथ ग्रहण करता है। इससे रसाभास का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

(छ) **स्वाधीनपतिका** : नायक जिसके सदा अधीन रहे, जिसका सदैव कहना माने, वह स्वाधीनपतिका कहलाती है।[1] आधुनिक युग का व्यक्ति इसके साथ भी तादात्म्य करने में असमर्थ रहता है। वस्तुतः स्त्री-पुरुष का पारस्परिक व्यवहार समानता के आधार पर निर्धारित होना चाहिए। रीतिकवियों ने स्वाधीनपतिका का जो वर्णन किया है उसमें नायिका और नायक की यह असमानता अत्यधिक झलकती है। भिखारीदास ने इसके तीन भेद किये हैं—रूप-गर्विता, गुण-गर्विता और प्रेम-गर्विता।[2] उसके ये गर्व उसके प्रति किसी प्रकार की आस्था उत्पन्न करने में असमर्थ रहते हैं। दास की रूप-गर्विता देखिए, उसे अपने रूप पर इतना गर्व है कि वह अपने रूप के लिए नायक द्वारा एकत्र किये हुए सुन्दर-सुन्दर उपमानों के नाम सुन कर कह उठती है :

चंद सो आनन मेरो विचारौ तौ चंद ही देखि सिरावौ हियौ जू।
बिम्ब सो जौ अधरान बखानौ तौ बिम्बही को रस पीयौ जियौ जू।

---

१. (क) सदा साऽऽकूताज्ञाकर—प्रियतमा स्वाधीनपतिका।

—रसमंजरी, १३४।

(ख) सदा रूप गुन रीझि पिय जाके रहे अधीन।
स्वाधीनपतिका तियै बरनत कवि परबीन ॥

—रसराज, १७८।

२. स्वाधीनपतिका वहै जाके बस है पीउ।
होइ गर्विता रूप गुन प्रेम गर्व लहि जीउ ॥

—शृंगार-निर्णय, १५३।

श्रीफल ही क्यों न अंक भरौ जौ पै श्रीफल मेरे उरोज कियौ जू।
दीपति मेरी दिये सी है 'दास' तौ जाती हौं बैठि निहारौ दियौ जू ।।

—शृंगार-निर्णय, १५६।

और उनकी इस प्रेम-गर्विता का गर्व भी दर्शनीय है जिसकी सेवा के लिए नायक सदा हाथ बांधे तय्यार रहता है। स्नान के समय जब बेचारा शृंगार सामग्री लेकर बैठता है तो नायिका उसे समझाती है कि आपके योग्य यह कार्य नहीं, परन्तु वह नायिका को अपने हाथ से शृंगार नहीं करने देता, यहां तक कि बेचारा अनुचर (नाइन) बन कर नायिका के पैरों में महावर लगाने को उद्यत हो जाता है :

न्हान-समै जब मेरो लखै तब साज लै बैठत आनि अगाऊं।
नायक हौ जू न रावरे लायक यों कहि हों कितनो समझाऊं।
'दास' कहा कहौं पै निज हाथ ही देत न हौहूं संवारन पाऊं।
मोहि तौ साध महा उर में जो महाउर नाइन तो सों दिवाऊं ।।

—वही, १५७।

मतिराम की मुग्धा स्वाधीनपतिका भी अपनी सखी से अपने पति की यह शिकायत कर रही है कि वे अपने हाथ से मेरे पैरों पर महावर लगाते हैं और स्वयं ही मेरा केशप्रसाधन करते हैं। मौलश्री की पुष्प माला स्वयं गूंथ कर मुझे पहनाते हैं, मैं उनके स्वभाव की क्या बात कहूं, मैं तो लज्जा से मरी जा रही हूं। लोग आपस में मिलते हैं तो उन्हीं की चर्चा छिड़ती है। वे कहते हैं कि अभी से ये दुलहिन के अधीन हो गये :

आपने हाथ सों देत महावर, आप ही बार संवारत नीके,
आपुन ही पहिरावत आनिकै हार संवारिके मोरसिरी के,
हौं सखी लाजनि जात मरी 'मतिराम' सुभाव कहां कहौं पी के।
लोग मिलैं, घर घैरु करैं, अबही ते ये चेरे भए दुलही के ।।

—रसराज, १७६।

केशव द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए :

—ता हरि पै तूं गंवार की बेटी महावर पाइ झवांइ दिवावै।

× × ×

चोली को सो पान तोहि करत संवारिबोई,
मुकर ज्यों तोहीं बीच मूरती समानी है।
तौहीं तियदेवता पै पायो पति केसौदास,
पतनी बहुत पति देवता बखानी है ।।

—रसिकप्रिया, ७।५६।

इस प्रकार के वर्णन पाठक पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं डालते। वह इन्हें पढ़ कर नायक का उपहास करने लगता है। अतः इनकी गणना रसाभास के अंतर्गत होनी चाहिए। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि स्वाधीनपतिका का प्रत्येक वर्णन रसाभास का ही विषय है। जब नायक अपनी पत्नी के दिव्य सौन्दर्य का चित्र प्रस्तुत करता है तब पाठक उससे रस लेता है, शास्त्रीय दृष्टि से वह भी स्वाधीनपतिका का

ही उदाहरण है। बानगी के लिए देखिए—

जगमगे जोबन अनूप तेरो रूप चाहि,
रति ऐसी रंभा-सी रमा-सी बिसराइये।
देखिबे को प्रानप्यारी पास खरो प्रानप्यारो,
घूंघट उघारि नैंक बदन दिखाइये।
तेरे अंग-अंग में मिठाई औ लुनाई भरी,
'मतिराम' सुकवि प्रगट यह पाइये।
नायक के नैनन में नाइये सुधा-सी सब,
सौतिन के लोचनन लौन सो लगाइये।

—रसराज, १८१।

इसी प्रकार तुलसीदास ने कवितावली में राम-सीता के प्रसंग में स्वाधीनपतिका का अत्यन्त सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है।

(ज) **अभिसारिका** : जो अपने प्रेमी से मिलने के लिए जाए अथवा उसको इस हेतु बुलावे वह अभिसारिका है।[१] अंधकार, ज्योत्स्ना और दिवस में मिलने के क्रम से 'अभिसारिका' तीन प्रकार की होती हैं—तमिस्राभिसारिका, ज्योत्स्नाभिसारिका, और दिवसाभिसारिका। एक अभिसारिका की प्रसन्न मुद्रा देखिए :

प्यारे कह्यो हँसि आइहि सेजहि, प्यारी की जोति विलासनि जागी।
नैन नवाय रही मुसकाय कै, हार हिये कौ संवारन लागी॥

—ररसाज, १९३।

लज्जा संवलित प्रसन्नता को उसने अत्यन्त सफाई से व्यक्त किया है। नयनों का नीचा करना तथा हार संवारना इन दो रेखाओं के बीच मुसकान का रंग इस चित्र को भाव संवलित बना देता है।

अभिसारिका यद्यपि स्पष्टतः परकीया है तथापि इसका वर्णन पाठक के चित्त में कभी भी विरसता उत्पन्न नहीं करता। इसके विपरीत उसके इस गुप्त मिलन के प्रति उसकी एक विशेष प्रकार की कामना व्यक्त होती है। और वह इसकी छिपा-छिपी को अत्यधिक कामुक दृष्टि से देखता है मानो नायिका उसके लिए ही अभिसार कर रही है। कवियों ने प्रायः इसके वर्णन में इसके मार्ग में आने वाली कठिनाइयों

१. (क) स्वयमभिसरति प्रियमभिसारयति वा या साऽभिसारिका।

रसमंजरी, १४०।

(ख) पियहि बुलावै आप कै आपहि पिय पैं जाय।
ताहि कहत अभिसारिका जे प्रबीन कविराय॥

—रसराज, १९०।

(ग) मिलनसाज सब करि मिलै अभिसारिका सुभाय।
पियहि बोलावै आपु कै आपुहि पिय पै जाय॥

—शृंगार-निर्णय, १६४।

का वर्णन किया है। पाठक मन ही मन उसको उन कठिनाइयों से बचाने का प्रयत्न करता है। अतः इसे रसाभास का विषय नहीं मानना चाहिए।

× × ×

स्वकीया, परकीया एवं सामान्या नायिकाओं के दशा के अनुसार रसमंजरीकार ने तीन भेद किये हैं—(१) अन्य संभोग दुःखिता, (२) वक्रोक्तिगर्विता और (३) मानवती। अन्यसम्भोग-दुःखिता वह स्त्री है जो अपने पति के रति-चिह्नों को देख कर दुःखी हो। वक्रोक्तिगर्विता दो प्रकार की होती हैं—एक प्रेमगर्विता और दूसरी सौन्दर्यगर्विता। जिस स्त्री को अपने प्रति अपने पति के अतिशय प्रेम का गर्व हो वह प्रेमगर्विता और जो अपने रूप-लावण्य का गर्व करे वह सौन्दर्य-गर्विता कहलाती है। मानवती अपने पति के अपराध पर मान अर्थात् कोप किया करती है।[1]

इन भेदों का आधार नायक-कृतापराधजन्य प्रतिक्रिया है। अन्य संभोग-दुःखिता एवं मानवती पर तो वह आधार घटित हो ही जाता है। गर्विता पर भी जिसके भानुमिश्र और सोमनाथ ने दो उपभेद—रूपगर्विता और प्रेमगर्विता गिनाए हैं कुछ सीमा तक घटित हो सकता है।[2] इन नायिकाओं के वर्णन सामान्यतः रसाभास के अन्तर्गत परिगणित होने चाहिएँ क्योंकि इनसे नायिकाओं का असामर्थ्य अथवा इनकी विवशता द्योतित होती है। मान की अवस्था में वह पति को अपने चरणों में गिरा तो अवश्य लेती है, किन्तु उसे अधिक देर तक मान स्थिर रखने का अधिकार नहीं है। अन्यथा उसका नायक उसकी सर्वथा उपेक्षा कर पुनः किसी से सम्भोग करने के लिए निकल जाएगा और वह बेचारी पश्चात्ताप करती रह जाएगी।

केशव का ऐसी नायिकाओं के लिए स्पष्ट कथन है :

बार बार बोले जब बोल्यों न बालिस तब,
बालक ज्यों बौलिबे कौं कत बिललात है।
ज्यों ज्यों परे पाइन त्यों पाहन तें पीन भयो,
होतु कहा अब कियें माखन सो गात है॥
केसोदास सब छाड़ि कियो हठ ही सों हेत,
वाहू छोड़ि जिय जिये बिन कहा जात है।
ऐसे प्यारे पीय ही सों मान्यो न मनायौ तब
ऐसी तोहि बूझियै जु पाछें पछितात है॥

—रसिकप्रिया, ७।१४।

बेनी प्रवीन का इस विषय में स्पष्ट मत है :

छुटत न मान असाधि जो, परिबौ पाय वृथाहि।
रसाभास सो जानये, कवि जन बरनत नाहिं॥

—नवरसतरंग (सं० कृष्णबिहारी मिश्र) ४६।

---

१. रसमञ्जरी, पृ० ७७-७८।
२. हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य, पृ० ४०८।

अल्लराज ने इसी प्रकार का एक उदाहरण रसाभास माना है :

विमुंचामुं मानं सफलय वचः साधु सुहृदां
मुधा संतापेन ग्लपयसि किमंगं स्मरभुवा ।
प्रियं पादप्रांतप्रणतमधुना मानय भृशं,
न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः ।।

—रसरत्नप्रदीपिका, पृ० ३९ ।

हे मुग्धे ! इस मान को छोड़, हितैषियों के सद्वचन को सफल कर, व्यर्थ सन्ताप से क्या लाभ, काम से अंगों को क्यों क्षीण करती है। पैरों तक झुके हुए प्रिय को अब खूब सम्मानित कर, गया हुआ काल रूपी हरिण अब वापस नहीं आ सकता। (भाव वह कि यदि यह अवसर चूक गयी तो बाद में पश्चात्ताप की अग्नि में जलेगी।)

इस प्रकार नायिकाओं के इन भेदों में नायिका के अहंकार एवं व्यक्तित्व की उपेक्षा की गई है। ये नायिकाएं अपने अपराधी पति का कुछ भी बिगाड़ सकने में असमर्थ हैं। परिणामतः इनके वर्णन से पाठक के चित्त में उपहास, घृणा, क्षोभ एवं सहानुभूति के भाव जागरित होते हैं।

दास की यह नायिका दर्शनीय है जिसने अपनी पड़ोसिन की ढीली वेणी को देखकर ही भांप लिया है कि वह वेणी तो उसी के प्रेमी के द्वारा गूँथी गई है। परन्तु जब उसने पड़ोसिन के नाड़े की गाँठ देखी तब तो उसे पूरा विश्वास हो गया कि दाल में कुछ काला अवश्य है क्योंकि उस प्रकार की गाँठ का उसे पूरा अनुभव है। इन चिह्नों को देखकर बेचारी नायिका उच्छ्वास लेकर रह जाती है। और उसके नेत्र अश्रुपूर्ण हो जाते हैं :

ढीली परोसिनि बेनी निहारिकै जानि गई यह नायक गूंदी ।
औरै विचार बढ़ौ बहुरयौ लखि आपनी भाँति की नीबी की फूंदी ।।
दासपनो अपनो पहिचानत जानी सबै जु हुती कुछु मूँदी ।
ऊभि उसासनहों तरुनी-बरुनीन में छाइ रही जलबूँदी ।।

—शृंगार-निर्णय, १६४ ।

इसी प्रकार अपनी सखि के अंग पर नायक द्वारा किए गए रति-चिह्नों को देखकर तो नायिका के हृदय में ऐसी आह उठती है कि उसे बरबस कहना ही पड़ता है कि नाह के नेह के मामले में अपनी छाया का भी विश्वास न करना चाहिए :

अंग अली धरि ये अंगियाऊ न आजु तें नींद न आवन के दीजै ।
जानति हौं जिय नाते सखीन के लाजहू को अब साथ न लीजै ।।
थोरिहि द्यौस तें खेलन तेऊ लगीं उनसों जिन्हें देखि के जीजै ।
नाह के नेह के मामिले आपनी छांहु की परतीति न कीजै ।।

—कविप्रिया, १२।५ ।

स्पष्टतः इस प्रकार के वर्णन रसाभास के विषय हैं।

× × ×

गुण के अनुसार नायिकाओं के तीन भेद किये गये हैं। (१) उत्तमा,

(२) मध्यमा और (३) अधमा। जो स्त्री प्रिय के हित अथवा अहित करने पर भी उसका हित करती है वह उत्तमा, जो हित के बदले हित और अहित के बदले उसका अहित करे, वह मध्यमा एवं जो उसके द्वारा हित किए जाने पर भी अहित ही करती है, वह अधमा कहलाती है।[1]

उत्तमा नायिका अहित को भी सहर्ष स्वीकार करती है। अतः पाठक के मन में थोड़ा क्षोभ-सा जागरित होना स्वाभाविक है। वह क्षोभ नायक अथवा नायिका किसी के भी प्रति हो सकता है। रात भर परनारी के साथ उपभोग के उपरान्त प्रातःकाल होते ही रतजगे के कारण आंखों में लालिमा और नारी नेत्र के चुम्बन के कारण काजल की कालिमा तथा अन्य रति-चिह्नों के साथ नायक स्वकीया के सम्मुख ढीठ बन कर आ खड़ा हो जाए और उत्तमा नायिका को इतना भी अधिकार नहीं कि वह उसके अनिष्ट की जरा भी कल्पना कर सके[2], यह बात बहुत विचित्र प्रतीत होती है। एक उदाहरण देखिए :

राति कहूं रमिकै मनभावन आवन प्रात प्रिया-घर कीनौ।
देखत ही मुसकाय उठी चलि आगे ह्वै आदर कै पुनि लीनो।
मोहन के तन में 'मतिराम' दुकूल सु नील निहारि नबीनौ।
केसरि के रंग सों रंगिकै पट पीत यों प्रीतम के कर दीनौ॥

—रसराज, २२६।

मध्यमा नायिका का वर्णन सामान्यतः व्यक्ति के चित्त में रस की जागृति करवाने में समर्थ हो सकता, किन्तु रीति आचार्यों ने प्रेम और मान का एकत्र वर्णन कर इसे भी रसाभास बना दिया है :

आयो प्रानपति राति अनतें बिताय बैठी
भौंहन चढ़ाय रंगी सुंदरि सुहाग की।
बातन बनाय पर्‌यो प्यारी के चरन आय,
छल सौं छिपाई छैल-छवि रतिदाग की।
छूटि गयो मान लगी आप ही संवारन कौं,
खिरकी सुकवि 'मतिराम' पिय पाग की।
रिस ही के आंसू रस-आंसू भर आंखिन में,
रोस की ललाई सो ललाई अनुराग की॥ —रसराज, २३२।

---

१. (क) पिय हित कैं अनहित करै, आप करै हित नारि।
ताहि उत्तमा नायका कविजन कहत विचारि॥
(ख) पिय सों हित तें हित करै, अनहित कीने मान।
ताहि मध्यमा कहत हैं कवि मतिराम सुजान॥
(ग) पिय सों हितहू के किये करै मान जो बाल।
तासों अधमा कहत हैं कवि 'मतिराम' रसाल।
—रसराज, २२८, २३१, २३४।

२. हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य, पृ० ४११-४१८।

ऐसी रचनाओं को पढ़ कर पाठक नायक और नायिका किसी के भी साथ तादात्म्य करने में असमर्थ रहता है। नायिक का मान एक अभिनय-सा प्रतीत होता है।

अधमा-नायिका का वर्णन अधमा के प्रति क्षोभ, घृणा अथवा उपेक्षा को जागरित करेगा। उदाहरण देखिए :

आयो है सयानपन गयो है अयान मन,
नित उठि मान करबे की टेव पकरी।
घर-घर मानिनी हैं मानितीं मनाए तें वै,
तेरी ऐसी रीति और काहू में न जकरी।
कवि 'मतिराम' कामरूप घनस्याम लाल,
तेरी नैनकोर और चाहें इकटक री।
हा हा कै निहोरे हूँ न हेरति हरिन-नैनी,
काहे को करत हठ हारिल की लकरी॥

—रसराज, २३५।

× × ×

जात्यनुसार एवं शारीरिक सौन्दर्य-क्रम की दृष्टि से भी नायिकाओं के भेद किये गये हैं :

१. पद्मिनी—जिसका शरीर पद्म के समान सुवासित हो।
२. चित्रिणी—जो चित्र के समान लगती हो।
३. शंखिनी और
४. हस्तिनी—ये दोनों ग्राम्य नारियां हैं।[1]

इनमें से पद्मिनी एवं चित्रिणी का वर्णन तो ठीक है किन्तु शंखिनी एवं हस्तिनी का आचार्यों ने वर्णन करना अधिक उपयुक्त नहीं समझा। दास का कथन है कि : 'इन्हें सुभ्र सोभामई काव्य के बीच केहूं नहीं वरनिबौ चित दीजै'—(रससारांश, १५७)। इनके लक्षणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है :

(क) शंखिनी : केशव के विचार में शंखिनी नायिका कोपशीला और कपट करने में बड़ी प्रवीण होती है। उसका शरीर सजल (स्वेद युक्त) तथा सलोम होता है। रक्त वर्ण के वस्त्रों को धारण करने एवं नखदान में उसे रुचि होती है। उसका मदन जल सार की सी गन्ध वाला होता है। और वह सुरत में अधिक अनुराग रखती है :

कोपसील कोबिद कपट, सजल सलोम शरीर।
अरुन-बसन नखदान-रुचि, निलज निसंक अधीर॥

---

१. भई पद्म-सौगन्ध सों अंग जाकी वही पद्मिनी नाइका वर्न्य कीजै।
रली राग चित्रोपमा चित्रिनी है सबै भेद तौ कोक सों जानि लीजै।
कहूं संखिनी हस्तिनी नाम जो हैं सो तौ ग्राम्य नारी नहीं में गनीजै।

रससारांश, १५७।

छार-गन्ध-जुत मार-जल, तप्त भूरि भग होइ ।
सुरतारति अति संखिनी, बरनत हैं सब कोई ।।

—रसिक-प्रिया, ३/८-९ ।

(ख) हस्तिनी : केशव के अनुसार हस्तिनी नायिका की अंगुलियां, चरण, मुख, कमर, अधर और भृकुटी स्थूल होती हैं । उसकी वाणी कटु, चित्त चंचल तथा गति मन्द होती है । उसके स्वेद तथा मदन जल से हाथी के मद की-सी गन्ध आती है । उसके केश भूरे होते हैं । और शरीर पर तीक्ष्ण और अधिक रोम होते हैं :

थूल अंगुरी चरन मुख, अधर भृकुटि कटि बोल ।
मदन-सदन, रद कन्धरा, मंद चाल चित लोल ।।
स्वेद मदन-जल द्विरद-मद-गन्धित भूरे केस ।
अति तीछन बहु लोम तन, भनि हस्तिनी इभ भेस ।।

—रसिक-प्रिया, ३/११-१२ ।

इन लक्षणों से ही स्पष्ट है कि हस्तिनी और शंखिनी नायिकाओं का वर्णन सरसता उत्पन्न करने में अक्षम होगा । इनकी सम्भोगाकांक्षा सहृदय के चित्त में कामुकता भी जागरित करने में असमर्थ है । उससे केवल उपहास, घृणा, एवं उपेक्षा की-सी स्थिति उत्पन्न होगी जो कि स्पष्टतः रसाभास है ।

× × ×

नायक-भेद

नायिका भेद के समान नायकों के भी भेद किये गये हैं । उसके तीन मुख्य भेद हैं—पति, उपपति और वैशिक । स्त्री के साथ विधिवत् विवाहित पुरुष पति, उसके आचार की हानि का कारण अर्थात् उसे समाज की मर्यादा से भ्रष्ट कर अपने प्रेम में फंसाने वाला पुरुष उपपति एवं अनेक वेश्याओं से प्रेम करने वाला वैशिक कहलाता है ।[1] नायक के ये तीनों भेद नायिका-भेद की तीन प्रमुख नायिकाओं स्वकीया, परकीया एवं सामान्या के समानान्तर हैं । अतः इनमें रसाभास की स्थिति उन्हीं के अनुसार समझनी चाहिए ।

स्वभाव के अनुसार भानुदत्त ने पति के चार भेद किये हैं—

अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट ।

(क) अनुकूल : सदैव एक ही स्त्री से प्रेम करने वाला अनुकूल कहलाता है ।[2]

---

१. (क) स च त्रिविधः—पतिरुपपतिर्वैशिकश्चेति । ···विधिवत्पाणिग्राहकः पतिः ।
······आचारहानिहेतुः पतिरुपपतिः । ···बहुलवेश्योपभोगरसिको वैशिकः ।
—रसमंजरी, १७१-७७-७९ ।

(ख) निज तिय सों परितियन सों अरु गनिका सों प्रीति ।
पति उपपति बैसिक त्रिविध नायक कहै सुरीति ।। —रससारांश, १६१ ।

२. (क) सार्वकालिकपराङ्गना पराङ्मुखत्वे सति सर्वकालमनुरक्तोऽनुकूलः ।
—रसमंजरी, १७३ ।

ऐसा व्यक्ति यदि अकस्मात् किसी कुलटा के प्रति अपने पत्नीव्रत का निभाव कर रहा है तो स्पष्टतः उससे रसाभास होगा ।

(ख) **दक्षिण** : दक्षिण नायक अनेक नायिकाओं में समान रूप से अनुरक्त रहता है।[1] रूपगोस्वामी दक्षिण नायक के द्वितीय लक्षण में लिखते हैं कि दक्षिण नायक वह है जो अन्य में अनुरक्त होने पर भी अपनी पूर्व पत्नी के प्रति प्रेम, भय, दाक्षिण्य एवं सम्मान का भाव रखता है।[2] केशव ने रूपगोस्वामी के भाव को कुछ बढ़ा कर प्रकट किया है :

पहिले सो हिय हेतु डर, सहज बड़ाई कानि ।
चित चलैहूं ना चलै, दच्छिन-लच्छन जानि ।।

—रसिक-प्रिया, २।७ ।

दक्षिण नायक अपनी पहली पत्नी के प्रति प्रेम, भय तथा लज्जा अथवा समान भाव रखता है और चित्त के चलायमान होने पर भी अपने आचरण से विचलित नहीं होता। इस प्रकार केशव का लक्षण सर्वमान्य लक्षण से कुछ विशेषता लिये हुए है। मतिराम ने दक्षिण नायक का निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है :

सांझ समय ललना मिलि आई खरो जहां नन्दलला अलबेलो ।
खेलन कों निसि चांदनी मांहि बनै न मतो 'मतिराम' सुहेलो ।।
आपनि आपनि पौरि बतायकै बोलि कह्यौ सिगरीन नबेलो ।
त्यों हँसिकैं ब्रजराज कह्यो, अब आज हमारिहि पौरी में खेलो ।।

—रसराज, २४८ ।

सभी नायिकायें नायक को चांदनी रात्रि के समय अपने-अपने कक्षों में बुलाना चाहती हैं पर वह किस-किस के यहां जाय, सबको अपने ही कक्ष में बुलाने का उसका प्रस्ताव सबके प्रति समान अनुराग का द्योतक है और इसलिए वह दक्षिण नायक कहा जाएगा।

अनौचित्य वहीं होता है जहां प्रेम में वैषम्य होगा। शिंगभूपाल के अनुसार दक्षिण नायक वृत्ति मात्र से ही अनेक प्रेमिकाओं के साथ साधारण भाव रखता है। किसी के प्रति प्रौढ़, किसी के प्रति मध्यम अथवा किसी के प्रति मन्द इस प्रकार का प्रेम-भेद उसमें प्रकट नहीं होता। अतः उसके अनुसार यहां रसाभास नहीं होना चाहिए। रसाभास वहां होता है जहां प्रेम में वैषम्य प्रतीत हो।[3]

(ख) सदा आपनी नारि सों राखै अति हो प्रीति ।
परनारी तें विमुख जो, सो अनुकूल सुरीति ।। —रसराज, २४४ ।

(ग) इक नारी सों प्रेम जिहि सो अनुकूल विचारि । —शृंगार-निर्णय,१३ ।

१. (क) एषु त्वनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः । —साहित्यदर्पण, ३/३५ ।
(ख) सकल नायिका विषयक समसहजानुरागो दक्षिणः । —रसमंजरी,१७४।

२. यो गौरवं भयं प्रेमं दाक्षिण्यं पूर्वयोषिति ।
न मुञ्चत्यन्यचित्तोऽपि योऽसौ खलु दक्षिणः ।—उज्ज्वलनीलमणि, २६, पृ० ३६ ।

३. नन्वेवं दक्षिणादीनमपि रागस्याभासत्वमिति चेद् न । दक्षिणस्य नायकस्य नायिका-

इस प्रसंग में प्रश्न उपस्थित होता है कि स्त्रियों और पुरुषों की कामभावना एवं उससे उत्पन्न अनुभूति में कोई भेद है या नहीं ? अभिनवगुप्त के मत से रति में भोक्ता, भोग्य और भोग का तथा स्थायिभाव, विभाव और संचारिभाव का पूर्ण ऐक्य रहता है। उन्होंने पुरुष को भी रति कहा है और नारी को भी। दोनों का भेद केवल इस बात में निहित है कि भोक्तृत्व की दृष्टि से पुरुष प्रधान है तो भोग्यत्व की दृष्टि से नारी भोक्ता के रूप में पुरुष का प्राधान्य उसे भोग्य (नारी) से परतन्त्र नहीं होने देता। अतः यदि नायक का अपनी नायिका के अतिरिक्त किसी अन्य से संयोग हो जाए तो रस-परिपाक में कोई विक्षेप नहीं पड़ता। अपने नायक के अतिरिक्त नारी जब किसी अन्य नायक से संयुक्त हो जाती है तब भोग्या के रूप में उसकी परतन्त्रता रस-परिपाक में बाधक सिद्ध होती है।[1]

यहाँ पर नायक को उच्छृंखल रति की शास्त्रीय छूट मिल जाती है और नायिका को एकनिष्ठ प्रेम का दायित्व ढोने को बाध्य होना पड़ता है। किन्तु अभिनवगुप्त का यह मत मनोविज्ञान-सम्मत नहीं है। पुरुष भोक्ता हो और स्त्री भोग्या ही, यह अनिवार्य नहीं है। स्त्री का भोक्ता और पुरुष का भोग्य होना भी सम्भव है। वस्तुतः इस मान्यता में अभिनवगुप्त की पुरुष के प्रति पक्षपात की भावना है। उस पर सामन्तीय-प्रथा का प्रभाव है।

दक्षिण नायक की स्थिति वस्तुतः सामाजिक पक्षपात पर ही अवस्थित है। पुरुष के अधिकार पूर्ण 'साहस' की गाथा ही यह भेद प्रस्तुत करती है। पुरुष के लिए यह तो स्वीकार कर लिया गया कि वह एकाधिक नारियों से समान व्यवहार रख सकता है और साथ ही यह भी स्वीकार किया गया कि वे सभी नारियाँ उसके प्रति किसी प्रकार की शिकायत नहीं रखतीं परन्तु यही स्थिति नारी के पक्ष में भी यथावत् स्वीकार नहीं की गयी। यदि स्वीकार की जाती तो उसी के अनुरूप नायिका का एक अन्य भेद दक्षिणा नायिका भी परिगणित कर लिया जाता। हमारे विचार में मनोवैज्ञानिक आधार पर न तो दक्षिण नायक की उक्त कल्पना यथावत् सम्भव है, और न दक्षिणा नायिका की ही। इस प्रकार के वाक्पटु एवं लम्पट प्रेमी के प्रति पाठक समादर भाव प्रकट नहीं करता। अतः यह दोनों रस का विषय नहीं बन सकते। किन्तु फिर भी पाठक के मन में एन्द्रियता उद्दीप्त करने में सफल अवश्य सिद्ध होते हैं। अतः यह लौकिक शृंगार का ही विषय है। यह विषय मूलतः रसाभास का भी नहीं है क्योंकि इसमें किसी एक भाव के उद्दीप्त होने के तुरन्त उपरान्त उससे हलके स्तर का भाव उत्पन्न नहीं होता। सदा एक भाव ही रहता है।

स्वनेकासु वृत्तिमात्रेणैव साधारण्यं न रागेण। तदेकस्यामेव रागस्य प्रौढत्वमितरासु तु मध्यमत्वं, मन्दत्वं चेति तदनुरागतस्यनाभासता। अत्र तु वैषम्येणानेकत्र प्रवृत्तेराभासत्वमुपपद्यते। —रसार्णव सुधाकर, पृ० २०६।

१. तत्र भोक्तृत्वे पुरुषस्य प्राधान्यम्। प्रमदाभास्तु भोग्यत्वम्। अभिनवभारती, प्रथम भाग, पृ० ३११।

हमारे विचार में दक्षिण नायक के समानान्तर एक नायिका का भी उल्लेख किया जाना चाहिए जो कि अपने दोनों प्रेमियों के प्रति समान व्यवहार एवं सम्मान का भाव रखती है। समाज में अनेक युवतियाँ अपने पति तथा देवर से इस प्रकार का व्यवहार रखती हुई देखी जातीं हैं। यदि दक्षिण नायक का प्रेम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बुद्धि के अनुकूल पड़ सकता है तो इस प्रकार की नायिका का प्रेम भी रसाभास की श्रेणी में नहीं आना चाहिए।

वस्तुतः दक्षिण नायक की चर्चा में—उसको नायक मानते हुए हमें प्रेम की अनन्यता का आदर्श भुला देना होता है और अधिक यथार्थ भूमि पर आ जाना होता है।

(ग, घ) **शठ, धृष्ट :** जो मुँह से मीठी-मीठी बातें करता है, मन में कपट रखता है और अपराध से नहीं डरता वह शठ नायक है :

मुह मीठी बातैं कहै, निपट कपट जिय जानि।
जाहि न डरु अपराध को, सठ कर ताहि बखानि॥

—रसिक-प्रिया, २,११।

विश्वनाथ के अनुसार शठ वह होता है जो आसक्त तो किसी अन्य में हो किन्तु अपनी प्रकृत नायिका में भी ऊपर से प्रेम भाव दिखलाये और गुप्त रूप से उसका अप्रिय करे।[1] रूपगोस्वामी के अनुसार शठ नायक वह कहलाता है जो सामने तो प्रिय बोलता है, परोक्ष में वह ही अनिष्ट करता है और प्रच्छन्न रूप से अपराध करता है।[2] दास के अनुसार वह नायक जो व्यभिचारी तथा महाकपटी हो और अपने आप चतुराई का प्रदर्शन करे :

निज मुख चतुराई करै सठता ठहरै न्यान।
व्यभिचारी कपटी महा नायक सठ पहचान॥

—श्रृंगार-निर्णय, २१।

दास ने इसका निम्नलिखित उदाहरण दिया है :

मिलिबे को करार करौ हम सों मिलि औरन सों नित आवत हौ।
इन बातन हौंहीं गई करती तुम 'दासजू' धोखो न लावत हौ॥
नटनागर हो जू सही सबही अंगुरी के इसारे नचावत हौ।
पै दई हमहूं विधि थोरी घनी बुधि काहें को बातें बनावत हौ॥

—श्रृंगार-निर्णय, २२।

---

१. ················शठोऽयमेकत्र बद्धभावो यः।
दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति।।

—साहित्य-दर्पण, ३।३७

२. प्रियं वक्ति पुरोऽन्यत्र विप्रियं कुरुते भृशं।
निगूढमपराधं च शठोऽयं कथितो बुधैः।।

—उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ३८

३. कृतागा अपि निःशंकस्तर्जितोऽपि न लज्जितः।

विश्वनाथ[1] के अनुसरण पर केशव का कथन है कि धृष्ट नायक वह होता है, जिसको गाली और मार तक की लज्जा नहीं है। जिसने भय को त्याग दिया है और जो अपने देखे हुए दोष को भी नहीं मानता है[1]—

> लाज न गारिहु मार की, छाँड़ि दई सब त्रास।
> देख्यौ दोष न मानही, धृष्ट सु कहियै तास॥
>
> —रसिक-प्रिया, २।१४।

शिंगभूपाल के अनुसार जो स्पष्टतः निर्भय होकर अन्य युवतियों के साथ रमण करे।[2] भानुदत्त के अनुसार बार-बार रोकने पर भी निःशंक होकर अपराध करने वाला नायक धृष्ट होता है।[3]

नैतिकता की दृष्टि से शठ और धृष्ट दोनों नायक घृणा के पात्र हैं। सामान्यतः इनसे रसाभास ही होना चाहिए। रीतिकाल में इस प्रकार के नायकों का चित्रण हुआ है। किन्तु वे पाठक की घृणा के आलम्बन न होकर उपहास के आलम्बन बने हैं। हाँ, शास्त्रीय दृष्टि से इन्हें भी रसाभास के अन्तर्गत परिगणित करेंगे।

ये चारों भेद (अनुकूल, दक्षिण, शठ, धृष्ट) रसमंजरीकार के मत में 'उपपति' के स्वभाव अनुसार भेद होते हैं। पर उसमें शठत्व विशेष प्रकार से हुआ करता है, शेष तीन बातें उसके स्वभाव में स्थायी नहीं होतीं। इनके अतिरिक्त शठ के ये दो भेद और होते हैं—मानी और चतुर। मान करने वाला 'मानी' और समागम सम्बन्धी अपनी चेष्टाओं में पटु 'चतुर' कहलाता है।

ऐसे ही उन्होंने 'वैशिक' के तीन भेद किए हैं। उत्तम, मध्यम और अधम। नायिका द्वारा कोप किए जाने पर भी उसके उपचार में परायण 'उत्तम', उसके अनुराग अथवा कोप को प्रकट न कर चेष्टाओं द्वारा मनोभावों को ग्रहण करने वाला 'मध्यम' एवं भय, लज्जा आदि से शून्य तथा कामक्रीड़ा में करने और न करने योग्य सभी बातों का विचार न करने वाला 'अधम' होता है। वस्तुतः ये उत्तम और मध्यम शब्द भ्रामक हैं।

दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्-कथितो धृष्टनायकः॥
—साहित्य-दर्पण, ३-३६

१. (क) करै दोष निरसंक जो, डरै न तिय के मान
लाज धरै मन में नहीं, नायक धृष्ट निदान॥
—रसराज, २५३

(ख) लाज रु गारी मार की छोड़ि दई सब त्रास॥
देख्यो दोष न मानई नायक धृष्ट प्रकास॥
—शृंगार-निर्णय, २४।

२. धृष्टो व्यक्तान्ययुवतिभोगलक्ष्मा विनिर्भयः॥
—रसार्णव-सुधाकर, पृ० १८

३. भूयो निश्शङ्ककृतदोषोऽपि भूयो निवारितोऽपि भूयः प्रश्रयपरायणो धृष्टः।
—रसमञ्जरी, १७५

हमारी दृष्टि में मध्यम वैशिक उत्तम वैशिक की अपेक्षा अधिक जागरूक है। नायकों के ये भेद प्रसंग के अनुसार कामुकता एवं रसाभास दोनों के जनक हो सकते हैं।

× × ×

भोज ने सरस्वती कण्ठाभरण में नायकाभास की चर्चा की है।[२] भानुदत्त ने इसका नाम अनभिज्ञ दिया है। यह स्त्रियों के काम-सम्बन्धी संकेतों से अनभिज्ञ होता है।[३] अतः रसाभास स्वीकार किया गया है। किन्तु हमारी सम्मति में प्रत्येक स्थिति में ऐसा अनिवार्य नहीं है। किसी सच्चरित्र और अपनी मर्यादा एवं कर्तव्य के प्रति अत्यधिक जागरूक युवक का उपयुक्त चित्रण कर सफल कवि उसे मूर्ख अथवा ठूँठ कहलवाने से बचा सकता है। हाँ, रीतिकाल के रीतिकवि का कोई नायक यदि अनभिज्ञ है तो वह ठूंठ इसलिए कहलाएगा कि पाठक के दृष्टिकोण में इस समय काम-चर्चा में प्रवीणता ही संसार की सबसे बड़ी सिद्धि होती है। नायक का यह भेद अज्ञात-यौवना का समानान्तर समझा जा सकता है। अनभिज्ञ का स्वरूप सोमनाथ द्वारा प्रस्तुत निम्न उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है :

दे न तऊ तिय के मन की गति प्रीतमा ने कछु पहिचानि ॥

× × ×

नायक के साथ भानुदत्त ने उसके सहायकों का भी वर्णन किया है, ये चार हैं। कुपित स्त्री को प्रसन्न करने में चतुर पीठमर्द; कामकलाओं में कुशल विट; नायक नायिका को मिलाने में चतुर चेटक; तथा अंगादि की विकृति द्वारा हंसाने वाला, विदूषक कहलाता है।[१] नायक के ये चारों सहायक कामाचार की वृद्धि में उपयोगी रहते हैं। इनका उपयोग उसी रूप में ही होता आया है। इसी प्रकार नायिकाओं के साथ अनेक दूतियों का उल्लेख मिलता है। ये व्यभिचार एवं कामपूर्ण वातावरण तैयार करने में विशेष रूप से सहायक सिद्ध होती हैं।

दूतियों के वर्ग का अध्ययन तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का ऐसा पृष्ठ खोलता

---

२. सरस्वती कण्ठाभरण, ५।१०२

३. (क) अनभिज्ञो नायको नायकाभास एव। अनभिज्ञः साङ्केतिकचेष्टाज्ञानशून्यः नायकवदाभासत इतिनायकाभासो गौणनायकः ·

—रसमंजरी पृ० १८७

(ख) बेनी प्रवीन ने इसका वर्णन इसलिए नहीं किया कि इससे रसाभास होता है।
नायक अनभिज्ञादि जे, नर्मसचिव् उदोत।
तेन इहां बरनत किये, रसाभास से होत।

—नवरसतरंग (सं० कृ०बि० मिश्र), २३८

१. कुपित स्त्री प्रसादकः पीठ-मर्दः,...कामतन्त्रकला कोविदो विटः,... सन्धान—चतुरश्चेटकः...अङ्गादिवैकृत्यैं हास्यकारी विदूषकः।

— रसमंजरी, १९१-९४।

है, जिसमें अधःपतन का स्पष्ट विवरण मिल जाता है। भरत, धनंजय, रुद्रभट्ट द्वारा वर्णित बाला प्रव्रजिता प्रेमी और प्रेमिकाओं के मिलन की सूत्रधारिका हो गई थी। केशव और देव के समय में संन्यासिनी भी दूती का कार्य करने लग गई थीं। देव ने संन्यासिनी के अतिरिक्त भिक्षुकवधू (भिक्षुणी) का भी उल्लेख किया है। भिक्षुक-वधू तो परम्परा-पालन के निमित्त 'भिक्षुणी' के अर्थ में गृहीत हुई है। किन्तु यह संन्यासिनी कौन है? आलवार भक्तों की कृपा से दक्षिण में जिन देवदासियों का उदय हुआ था, कालान्तर में वही वासना के अतल गर्त में गिर पड़ीं। उत्तर में भी वैष्णव भक्तिनों में से कुछ इस तरह संलग्न रही हों तो कोई आश्चर्य नहीं। तोष ने भक्तिन को एक दुती माना है।[1] भक्तिन की धर्मशाला सहेट-स्थल का काम करती है :

छाजत तिलक भुज मूलन छयाइ बैंठी,
बैस नव बैस रति ऐसी लगतिनि है।
चंपी की कलित कंठी रोम अवली की सेली
पीत पट ही सो प्रीति जीते भगतनि है॥
कहै कवि तोष एक टोपी है अनोखी,
ओसे ताके हित तोसे जरकस भगतनि है।
वोके संग वाही के धरमसाला लाला
आनु कीजिये भजन जू भली भगतिनि है॥

—सुधानिधि, छं० २६२, पृ० ६० ।

वस्तुतः कामाचार विषयक वातावरण उत्पन्न करने में इन कवियों को जिस-जिसकी सहायता मिली, इन्होंने निःसंकोच उसे ग्रहण किया।

नायक-नायिका-भेद प्रसंग के अन्तर्गत जिन नायकों और नायिकाओं को 'रसा-भास' में अन्तर्भूत किया गया है उनसे सम्बद्ध ये सहायक-वर्ग भी रसाभास के ही विषय माने जाने चाहिएं।

× × ×

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अन्त में निष्कर्ष रूप में यह कहना संगत होगा कि :

(१) नायक-नायिका भेद जो कुलटा आदि नायिकाएं पाठक के उपहास अथवा उपेक्षा की पात्री बनी हैं उसका मूल कारण उनकी अनियन्त्रित काम-पिपासा का प्रकट हो जाना है। व्यक्ति भले स्वयं कितना ही विलास-प्रिय हो, किन्तु दूसरे को ऐसा करते देख उसका उपहास करने से नहीं चूकता। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका कारण यह है कि वह इस प्रकार अपनी दुर्बलता को छिपाने का प्रयत्न करता है।

(२) जो नायक पाठक के क्षोभ अथवा घृणा के आलम्बन बने हैं उसका मूल कारण पुरुष का स्त्री के प्रति उपेक्षित व्यवहार है, वह उसे अपने शरीर की भूख को

---

१. रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यञ्जना, पृ० ७० ।

शान्त करने का साधन मात्र समझता है। धीरा, अधीरा, धीराधीरा, खण्डिता, अन्य-सम्भोग-दु:खिता आदि के वर्णन में उसकी यह दूषित वृत्ति पाठक के सम्मुख आ जाती है। अतः ये सब भी रसाभास के प्रसंग बने हैं।

(३) कलहान्तरिता के वर्णन से नायिका का और विप्रलब्धा तथा उत्का आदि नायिकाओं के वर्णन से नायकों का कपट-पूर्ण व्यवहार पाठक के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। और यह उस पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं डालता। जिस कारण इनके वर्णन को भी रसाभास के अन्तर्गत परिगणित किया गया है।

(४) इसके अतिरिक्त स्त्री-पुरुष के असमान व्यवहार के कारण उत्तमा, मध्यमा आदि भेदों का वर्णन भी रसाभास का विषय बना है।

(५) शंखिनी-हस्तिनी नायिकाएं तथा शठ, धृष्ट नायक अपने असौन्दर्य तथा अभद्र व्यवहार के कारण पाठक की घृणा एवं उपेक्षा के पात्र हैं, अतः ये भी रसाभास के विषय हैं।

षष्ठ अध्याय

विभिन्न रसों में रसाभास

रसाभास के स्वरूप एवं आधार तथा इसका अन्य काव्य-तत्त्वों के साथ सम्बन्ध-निर्देश कर चुकने के उपरान्त अब हम इस स्थिति में पहुंच चुके हैं कि इसके परिवेश में विभिन्न रसों के उदाहरण तथा इसका विवेचन प्रस्तुत करें। शास्त्रीय दृष्टि से रस-आदि आठों सभी रसों से सम्बद्ध हैं। स्वाभावतः रसाभास की भी यही स्थिति है, और वह इन रसों के विभाव (आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन), अनुभाव और संचारिभाव के—कुल मिलाकर इन पांचों के—अनौचित्य निर्देश पर आधारित है। इस अध्याय में प्रस्तुत उदाहरणों से इन सभी के अनौचित्य का स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा। यहां यह उल्लेखनीय है कि शृंगार-रस की एतद्विषयक सामग्री अन्य रसों की तुलना में अधिक उपलब्ध हुई है, अतः यह अध्याय दो प्रमुख खण्डों में विभक्त है :

—शृंगार रसाभास।

—शृंगारेतर रसाभास—हास्य रसाभास आदि।

शृंगार रसाभास

आचार्य विश्वनाथ ने अपने से पूर्व के सभी आचार्यों के मतों का संग्रह करते हुए निम्नोक्त स्थलों पर शृंगाराभास स्वीकार किया है—(क) उपनायक-निष्ठ रति, (ख) मुनि एवं गुरुपत्नी आदि गत रति, (ग) बहुनायक-निष्ठ रति, (घ) अनुभय-निष्ठ रति, (ङ) प्रतिनायक-निष्ठ रति, (च) अधम पात्र-निष्ठ रति, (छ) तिर्यक्-गत रति।[1] इनके अतिरिक्त (ज) निरिन्द्रियगत रति, (झ) बालक एवं वृद्ध में प्रदर्शित रति, तथा (ञ) कुछ वर्जित अनुभाव एवं स्तर भेद से किये गये शृंगार के भेद भी शृंगाराभास के अन्तर्गत विवेच्य हैं। अब इन पर क्रमशः विचार करते हैं :

(क) उपनायक-निष्ठरति

संस्कृत काव्याचार्यों में विश्वनाथ एवं जगन्नाथ ने परपुरुष के प्रति नारी की

---

१. उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्॥
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते।
शृङ्गारेऽनौचित्यं··························॥ —सा० द० ३।२६३-६४।

रति को उपनायक-निष्ठ रति की संज्ञा देकर इसे रसाभास स्वीकार किया है। इसमें परनारी के प्रति परपुरुष की रति को भी ग्रहण कर लेना चाहिए। अपने पति को देवता तुल्य समझने वाली भारतीय नारी यदि किसी दूसरे पुरुष की ओर आकृष्ट है तो सचमुच उसका यह कृत्य अनुचित ही कहा जायगा। किन्तु इस आदर्श की भी अपनी कुछ सीमाएं हैं। पहले यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि किसी सम्भ्रान्त महिला का पति यदि दुराचारी है तो साहित्यकार उस महिला का किसी श्रेष्ठ पुरुष से (भले ही यह परपुरुष उपनायक हो) प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करवा सकता है और उससे भारतीय पाठक के चित्त में भी विरसता उत्पन्न न होगी।[1] वास्तविकता यह है कि संस्कृत काव्याचार्यों ने जब उपनायक-निष्ठ रति को रसाभास की संज्ञा प्रदान की तब उनके सम्मुख संस्कृत के वे महान् प्रबन्ध काव्य थे जिनका नायक तथा जिनकी नायिका सभी भारतीय जीवनादर्शों को अपने जीवन में समेटे हुए थे। उन महाकाव्यों की नायिकाएं अथवा नायक किसी अन्य पुरुष अथवा स्त्री की कामना करने लगें तो सचमुच यह रसाभास की स्थिति होगी। और यह रसाभास इतना व्यापक होगा कि न केवल इसकी अनुभूति भारतीय पाठक को होगी वरन् अधिकांश विदेशी पाठक भी उसी प्रकार की अनुभूति करेंगे। अभिप्राय यह कि परपुरुष के प्रति अनुराग से रसाभास होने की सम्भावना अपने धर्म पर आरूढ़ नायक-नायिका के सम्बन्ध में ही अधिक है। नायक अथवा नायिका के उच्च शील से अनभिज्ञ आधुनिक पाठक उन्हें जब इस प्रकार की रति में अनुरक्त देखता है—तो उसके चित्त में उनके प्रति घृणा अथवा क्षोभ जागरित नहीं होता। इसके दो कारण हैं—(१) एक तो वह मनोविज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार के कामुकतापूर्ण क्षणों को स्वाभाविक मानने लगा है और (२) दूसरे वह इसका कारण उन दोनों के जीवन में अपने पति अथवा अपनी पत्नी से काम-पूर्ति का अभाव मानता है। इस दृष्टि से आचार्य विश्वनाथ ने उपनायक-निष्ठ रति का जो स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह रसाभास का उदाहरण स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए :

स्वामी मुग्धतरो, वनं घनमिदं, बालाहमेकाकिनी,
क्षोणीमावृणुते तमालमलिनच्छाया तमःसन्ततिः।
तन्मे सुन्दर! मुञ्च कृष्ण, सहसा वर्त्मेति गोप्या गिरः,
श्रुत्वा तां परिरभ्य मन्मथकलासक्तो हरिः पातु वः ॥[2]

विश्वनाथ को अपने पति को मूढ़ कहना और एक परपुरुष से काम की प्रार्थना करने में महान् अनौचित्य प्रतीत हुआ, किन्तु वात्स्यायन एवं फ्रायड के सिद्धान्त के

---

१. देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ४६।
२. अर्थात् मेरा स्वामी नितान्त मूढ़ है, यह वन सघन है, मैं बाला हूं और अकेली हूं। आबनूस के समान काला अन्धकार पृथ्वी को ढांके हुए है। इसलिए हे सुंदर कृष्ण! झट से मेरा रास्ता छोड़ो। गोपी की इस प्रकार की बात को सुनकर उसके आलिंगन में रत एवं कामकला में लीन हरि आप की रक्षा करें।

अनुसार काम को ही सर्वस्व (ईश्वर) मानने वाला आज का पाठक नारी की इस प्रकार की कामना को अनुचित नहीं मानता। यदि उसका पति मूर्ख है और उसकी कामनाओं को तृप्त करने में असमर्थ है तो उसका इस प्रकार का कथन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वाभाविक तो है ही, साथ ही इससे उसकी अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता भी सूचित होती है। किन्तु हां, एक ऐसी परिस्थिति में जिसमें कि किसी स्त्री का परिणय एक राजघराने में हुआ हो, अपने पति से उसे पूरे अधिकार भी प्राप्त हों, उसका पति सब प्रकार से योग्य हो तो भी यदि वह नायिका किसी अन्य व्यक्ति से जो कि शील, सौन्दर्य आदि में उसके पति से हीन कोटि का है, छिप-छिपकर प्रेम (वासना) करती है तो उसकी रति के साथ प्रमाता साधारणीकरण करने में असमर्थ रहेगा। इसके तीन प्रमुख कारण हैं—(१) वह राजांगना है और राजांगना का प्रणय-सम्बन्ध किसी उच्च कुल के व्यक्ति के साथ ही उपयुक्त है। (२) अपने पति से पूर्ण प्रेम प्राप्त करने के उपरान्त किसी हीन कोटि के व्यक्ति के साथ उसका इस प्रकार का सम्बन्ध केवल उसके वासना के उद्दाम वेग का ही सूचक है, सच्चे प्रेम का नहीं। (३) पुनः उसका यह सम्बन्ध छिप-छिपकर होने से अपने अवैध रूप को भी प्रकट कर देता है। इस प्रकार के उदाहरण निश्चय ही रसाभास के अन्तर्गत परिगणित होंगे। जगन्नाथ ने इसी प्रकार का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है :

शतेनोपायानां कथमपि गतः सौधशिखरं,
सुधाफेनस्वच्छे रहसि शयितां पुष्पशयने।
विबोध्य क्षामांगीं चकितनयनां स्मेरवदनां,
सनिःश्वासं श्लिष्यत्यहह सुकृती राजरमणीम्॥[१]

यहां राजांगना आलम्बन है। एकान्त और रात्रि का समय आदि उद्दीपन हैं। साहस करके राजा के अन्तःपुर में जाना, प्राणों की परवाह न करना, सांस भरना और आलिंगन आदि करना अनुभाव हैं तथा शंका आदि सञ्चारी भाव हैं, किन्तु फिर भी उकी इस रति के साथ किसी पाठक की रुचि नहीं है। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि इस रति में राजांगना का पूरा योग है। अतः इसमें रसाभास अनुभयनिष्ठ रति के कारण नहीं, वरन् उपनायक-निष्ठ रति के ही कारण है। प्रारम्भ में अकस्मात् नींद से उठकर वह राजांगना चकित (भयभीत) सी अवश्य हुई किन्तु शीघ्र ही अपने जार को पहिचान कर सारी परिस्थिति को समझ लेने के उपरान्त अपनी सुमधुर मुस्कान से उसने उसका स्वागत किया और तभी कौतूहल की स्थिति में पड़े हुए पाठक के चित्त

---

१. कवि का कथन है—(वह काम-वासना में लिप्त उपनायक) सैकड़ों उपाय करके, किसी प्रकार प्रासाद की चोटी पर पहुंचा और उसने अमृत के झागों के समान निर्मल पुष्पों की सेज पर एकान्त में सोई हुई कृशांगी राजांगना को जगाया। उसने जगते ही पहले तो उसे चकित नेत्रों से देखा किन्तु फिर उसका मुख-कमल खिल उठा। ऐसी अवस्था में वह पुण्यवान् पुरुष उस राजांगना का सांस भर-भर के आलिंगन कर रहा है।

में उसके प्रति घृणा उत्पन्न हुई।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह सर्वथा स्पष्ट है कि उपनायक अथवा उप-नायिका-निष्ठ रति रसाभास वहीं होती है जहां पाठक ऐसे नायक अथवा नायिका के चरित्र को भ्रष्ट होते देखता है, जिसके चरित्र की गरिमा से वह पहले अत्यधिक प्रभावित होता है।

प्रस्तुत प्रसंग में हमें भारतीय आदर्शों की पृष्ठभूमि में लिखे हुए साहित्य पर विचार करना अभीष्ट न होकर रीतिकाल के उस घोर श्रृंगारी मुक्तक काव्य पर विचार करना अपेक्षित है जिसको कि पाठक पढ़ता ही अपनी हलकी मनोवृत्तियों की भूख को शान्त करने के लिए है। उस साहित्य को पढ़कर पाठक को उज्ज्वल वेषात्मक श्रृंगार रस की अनुभूति न होकर काम-वासना का अमुभव होता है और उसी वासना के अनुभव से जन्य आनन्द (जो कि निस्सन्देह लौकिक वासना के आनन्द के तुल्य होता है) को उपलब्ध करके ही सन्तुष्ट हो जाता है। इस आनन्द को प्राप्त करने के लिये उसके पास औचित्य, अनौचित्य तथा नैतिकता, अनैतिकता आदि तत्त्वों पर विचार करने का थोड़ा भी अवकाश नहीं होता। हां, यदि इसी साहित्य को जब कोई अत्यधिक धार्मिक व्यक्ति पढ़ने लगता है तो वह भले ही क्षुब्ध होकर इसे उठाकर गंगा में फेंक देने की बात कह दे, किन्तु सामान्य पाठक तो (उसमें विद्वान् और मूर्ख सभी सम्मिलित हैं) उसे अत्यन्त रुचि के साथ ग्रहण करता है और वह उस वासना-जन्य आनन्द को प्राप्त करने के लिए उस साहित्य की बारम्बार चर्वणा करता है। इस दृष्टि से पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'[1] द्वारा प्रस्तुत उपनायक-निष्ठ रति अथवा पर-पुरुषानुराग का उदाहरण देखिए :

लखहु लपटि तरुपुंज सों ललित लता लहराहि।
पथिक जात हो कित चले इत विरमत कत नाहिं॥

इस दोहे में किसी विलासिनी का एक अपरिचित पथिक के प्रति अनुराग प्रकट होता है। आचार्यों की दृष्टि में यह रसभास है। किन्तु हमारा इससे थोड़ा मतभेद है। इस पद को पढ़कर उस स्त्री के प्रति वितृष्णा एवं क्षोभ की भावना जागरित नहीं होती, प्रत्युत उसकी विलास-भावना के साथ तादात्म्य हो जाता है। वस्तुतः इन मुक्तक-कवियों का लक्ष्य भी पाठक के चित्त में इसी विलास भावना को जागरित करना था। यहां हम यह बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि पाठक की यह अनुभूति न रसानुभूति है और न भावानुभूति ही। यह तो इन दोनों से पृथक् एक अन्य ही प्रकार की अनुभूति है, जिसे हम लौकिक अनुभूति कह सकते हैं। रीतिकवियों ने इस लौकिक अनुभूति को उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त की है। इसे रसाभास इसलिए नहीं कहा जा सकता कि रसाभास के उदाहरणों को पढ़ने के अन्त में श्रृंगार की अनुभूति समाप्त हो जानी चाहिए। किन्तु इस उदाहरण को पढ़कर सहृदय को श्रृंगार का ही अनुभव होता है। चाहे उसे श्रृंगार का विकृत रूप कहा जाए अथवा लौकिक

---

१. रस कलस, पृ० ६५।

शृंगार। इसी प्रकार की उपनायक-निष्ठ रति का प्रसंग बिहारी के निम्नोक्त दोहे में देखिए :

फिरि फिरि चितु उत हीं रहतु, टुटी लाज की लाव।
अंग-अंग छवि झौंर मैं भयौ भौंर की नाव।। बि० र०, १०।

अन्तरंग सखी का नायक से कथन है कि उस बेचारी बाला पर न जाने आपने क्या जादू-सा फेर दिया है, जिसके प्रभाव से उसका चित्त आपके अंगों के लावण्य रूप झौंर के भौंर में फंस गया है। उसकी गति जल के भंवर में फंसी हुई नाव की तरह हो रही है। वहां से उसका निकलना असम्भव हो रहा है। कन्हैयालाल पोद्दार ने इसे रसाभास का उदाहरण स्वीकार किया है।[1] किन्तु वस्तुतः यह रसाभास नहीं है। इस दोहे को पढ़ने से नायक की कुशलता एवं उसके सौन्दर्य के प्रति हमारे मन में आकर्षण उत्पन्न होता है, न कि उपनायिका के प्रति वितृष्णा की भावना। सच तो यह है जब तक नायिका की नैतिकता का अथवा उसके पातिव्रत्य का हमारे सामने चित्र न खींचा जाए तब तक उस नायिका के किसी भी काम के प्रति सहसा वितृष्णा का जागरित होना सम्भव नहीं। इसी कारण इसे रसाभास मानना भी समुचित नहीं।

इसी प्रकार बिहारी का एक अन्य दोहा जिसे कि पं० रामदहिन मिश्र ने रसाभास स्वीकार किया है, शुद्ध रस का प्रसंग है :

निसि अंधियारी, नील पटु पहिरि, चली पिय-गेह।
कहौ दुराई क्यों दुरै, दीपसिखा सी देह।।

—बिहारी रत्नाकर, २०७।

शास्त्रीय दृष्टि से यह दोहा कृष्णाभिसारिका नायिका का उदाहरण है। अंधेरी रात में वह नीली साड़ी पहिन कर प्रीतम के घर जाना चाहती है, परन्तु दीप की ज्योति के सदृश देदीप्यमान शरीर की आभा किसी प्रकार भी उस अंधेरी रात तथा नीली साड़ी में छिपाये नहीं छिपती। पं० जी का कथन है कि इस पद्य के वाच्यार्थ से नायिका का परपुरुष विषयक प्रेम स्पष्ट रूप से व्यंजित होता है।[2] अतः यह शृंगार रसाभास है। किन्तु वस्तुतः इस छन्द को पढ़कर पाठक का चित्त नायिका की अद्भुत देदीप्यमान देह के प्रति आकृष्ट हो जाता है। वह उस नायिका के रूप की एक भव्य कल्पना कर उसमें आत्मविभोर हो उठता है। उसे न उस नायिका के प्रति वितृष्णा है और न नायक के प्रति क्षोभ ही। ऐसी स्थिति में इसे रसाभास का उदाहरण मानना भी उपयुक्त नहीं। अब पद्माकर का निम्नलिखित पद देखिए :

झांकि झरोखे रही कबकी दबकी वह बाल मनैमन भाखै।
कोऊ न ऐसो हितू हमरो जो परोसिन के पिय को गहि राखै।।

—पद्माकर।

यहां किसी पड़ोसिन के पति में एक नायिका का प्रेम प्रदर्शित किया गया

१. देखिए, काव्यकल्पद्रुम, पृ० २४६।
२. देखिए, काव्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० २६३।

है। पं० रामदहिन मिश्र का कथन है कि यह काम लोक वेद-विरुद्ध है। इससे यहां श्रृंगार रस का परिपाक अनौचित्य से होता है।[1] किन्तु इस पद को पढ़कर पाठक को अनौचित्य का ज्ञान नहीं होता, अपितु उस नायिका की भांति अपने किसी पड़ोसी पर कटाक्ष करने की इच्छा होती है। शास्त्रीय दृष्टि से रसाभास वहीं होता है, जहां सहृदय की बुद्धि आश्रय के अनुचित कार्य के प्रति विरोध प्रकट कर दे। इस उदाहरण में ऐसा कुछ नहीं होता। अतः इसे रसाभास मानना भी समीचीन नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनायक निष्ठ रति के जितने भी उदाहरण रसाभास के अन्तर्गत प्रस्तुत किये गये हैं उनमें से जगन्नाथ द्वारा प्रस्तुत उदाहरण को छोड़ कर शेष कोई भी उदाहरण रसाभास का विषय नहीं बना। कारण स्पष्ट है कि रसाभास के ऐसे उदाहरणों से वैरस्य की अनुभूति नहीं होती।

(ख) मुनि एवं गुरुपत्नी आदि गत रति :

विश्वनाथ एवं जगन्नाथ ने मुनि एवं गुरुपत्नी आदि गत रति को रसाभास के अन्तर्गत स्वीकार किया है।[2] आदि पद से योगी, तपस्वी, प्रस्नुषा तथा भावज आदि का ग्रहण करना चाहिए। ये सभी पाठक की श्रद्धा अथवा सम्मान के पात्र हैं। उसके चित्त में इनके प्रति प्रतिष्ठा का भाव रहता है। रति एक लौकिक युवा-व्यक्तियों के अनुरूप भाव है। इनमें प्रदर्शित रति से पाठक पर यह एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है कि वे अपने स्तर, अपनी मर्यादा अथवा अपनी प्रतिष्ठा का परित्याग कर रहे हैं। उसके चित्त पर परोक्ष रूप से यह प्रभाव पड़ता है कि यह अलौकिकता पर लौकिकता की विजय है। एक महिमामय तत्त्व की पराजय है। उनके उज्ज्वल चरित्र का स्पष्टतः अपकर्ष है। परिणामतः इस प्रकार के स्थलों में उसे महान् अनौचित्य प्रतीत होता है। तुलसीदास द्वारा वर्णित इस प्रकार का एक प्रसंग देखिए :

देखि रूप मुनि विरति बिसारी।
बड़ी बाट लग रहे निहारी॥

यहां एक ध्यानावस्थित योगी केवल रूप को ही देखकर अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर बैठा है। परिणामतः इससे पाठक के चित्त में उसके प्रति विद्यमान आस्था अनास्था में परिणत हो जाती है। इस प्रकार के प्रसंगों को रसाभास ही स्वीकार करना चाहिए। भानु कवि तथा सरदार कवि ने 'प्रभु लछमन पहि फेर पठाई' इस पद को रसाभास स्वीकार किया है। यदि राम शूर्पणखा को लक्ष्मण के पास इसलिए भेज रहे हैं कि लक्ष्मण शूर्पणखा को उसकी धृष्ठता का पाठ पढ़ाएं तब तो इससे रसाभास होने का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। किन्तु यदि कवि का प्रयोजन उक्त पद से राम की हलकी मनोवृत्ति का प्रदर्शन करना रहा है, कि मेरी तो पत्नी यहां है—अतः मैं तो

---

१. देखिए, काव्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० २६३।
२. (क) साहित्यदर्पण, ३।२६३।
(ख) रसगंगाधर, रसाभास प्रकरण।

असमर्थ हूं, लक्ष्मण ही इससे हंसी-मजाक कर, इसके रूप एवं यौवन के साथ कुछ खिलवाड़ कर लें तो उनका यह व्यवहार उनकी मर्यादा के विपरीत होने के कारण रसाभास का जनक होगा। सरदार कवि ने इस उदाहरण में रसाभास होने का कारण बहुनायक निष्ठ रति बतलाया है—'तो इहां एक सुपनखा कालकेय राम लछमन सो रति याते रसाभास' किन्तु यहां रसाभास बहुनायक निष्ठ रति के कारण न होकर उसे राम द्वारा लक्ष्मण के पास भेजने के कारण है। शूर्पणखा को लक्ष्मण के पास भेजना राम की हलकी मनोवृत्ति का द्योतक है और शूर्पणखा का भी लक्ष्मण के पास जाना घृणित है। उपर्युक्त विवेचन में यह सर्वथा स्पष्ट है कि इस प्रकार के प्रसंगों में रसाभास तभी होगा जबकि पाठक के चित्त में मुनि, गुरु-पत्नी अथवा अन्य किसी पात्र के प्रति पूज्य बुद्धि होगी। यदि किसी भी कारणवश उसका उनके प्रति आस्था का अभाव है तब इस प्रकार के स्थलों में रसाभास होना अनिवार्य नहीं।

इसी प्रसंग में पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का कथन भी द्रष्टव्य है। उनके अनुसार यदि नीच स्त्री पर उत्तम पुरुष का प्रेम व उत्तम स्त्री पर नीच पुरुष का प्रेम प्रकट किया जाए[1] तो वह स्थिति रसाभास की होगी। इस कथन में नीच शब्द से अभिप्राय अछूत समझी जाने वाली शूद्र जातियों से है और उत्तम शब्द से अभिप्राय उच्च वर्ण की जातियों से। जब एक उच्च वर्ण का व्यक्ति निम्न वर्ण के व्यक्ति से रति सम्बन्ध स्थापित करता है तब वह अपनी मर्यादा, प्रतिष्ठा अथवा स्तर का हनन कर लेता है। हमारे यहां मध्य काल में शूद्र वर्ण के स्त्री-पुरुषों में पठन-पाठन की प्रक्रिया नहीं रही। अतः वे अन्य वर्णों की तुलना में शिक्षा, गुण, सभ्यता, व्यवहार और यहां तक कि रूप में भी पिछड़ गये। निःसन्देह यह हमारे समाज का दोष रहा किन्तु यह एक सत्य है—इससे इन्कार करना सत्य का अपलाप करना है। मनुष्य के मन की यह एक मनोवैज्ञानिक मांग है कि प्रेमी और प्रेमिका का समान स्तर व प्रतिष्ठा का होना अनिवार्य है। यदि कोई साहित्यकार उसकी इस मांग की उपेक्षा कर देता है तो निःसन्देह वह रसाभास की स्थिति होगी। किन्तु इसी प्रसंग में यह ध्यान रखना अनिवार्य है कि आधुनिक युग में जबकि समाज और राजनीति उन जातियों के उत्थान में प्रयत्नशील है—यदि कोई अछूत (शूद्र) कन्या भी शील, गुण, शिक्षा तथा रूप आदि में उच्चवर्ण के युवक की समानता कर लेती है तो उसके प्रति चित्रित प्रेम रसाभास का जनक नहीं होगा। अतः उपर्युक्त कथन में नीच एवं उत्तम शब्दों से अभिप्राय समान एवं असमान स्तर का ग्रहण करना चाहिए। यह स्तर उन दोनों की योग्यता, चरित्र, शिक्षा, धन आदि सभी की अपेक्षा रखता है। यह समान स्तर अथवा प्रतिष्ठा की मांग इतनी प्रबल है, कि यदि कोई कवि केवल वासना जागरित करने के लिए भी इस प्रसंग का उपयोग करे तो भी पाठक उसे ग्रहण करने में असमर्थ रहता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसा करना अपने अहं का हनन है। अपने को अत्यन्त नीच बना लेना है। पं० रामदहिन मिश्र ने परस्त्री में परपुरुष से शृंगार रसाभास का

---

१. देखिए, रसवाटिका, पृ० १२८।

जो उदाहरण प्रस्तुत किया है[1] वह वस्तुतः एक नवविवाहित का असमान स्तर की युवती (बिन्दा नाम की दासी) के प्रति प्रदर्शित रति के कारण रसाभास का उदाहरण है। देखिए:

मैं सोयी थी नहीं, छिपा मत मुछ से कुछ भी, छोरी।
ली थी पकड़ कलाई उनने, देती थी जब पान,
तूने मेरी ओर किया इंगित कि गयी मैं जान।
तब वे बोले दीख रही मैं जनम जनम की भोरी।
उसके बाद उढ़ाया उनने मुझे स्वयं आ शाल,
तू हंस पायी भी न तभी सट काटे तेरे गाल।
किया तनिक सीत्कार कहा उनने कि खूब तू गोरी।।

निष्कर्षतः—

(१) रति एक सामान्य लौकिक युवा व्यक्तियों का अनुरूप भाव है अतः इसके आलम्बन अथवा आश्रय कोई पूज्य अथवा प्रतिष्ठित व्यक्ति नहीं हो सकते।

(२) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रति के लिए आलम्बन और आश्रय का परस्पर समान स्तर अथवा समान प्रतिष्ठा का होना अनिवार्य है। अन्यथा वह रसाभास का जनक होगा।

(३) यदि सहृदय को ऐसा प्रतीत हो, कि इस रति से आलम्बन अथवा आश्रय की मर्यादा का हनन हुआ है तो उससे उसको रसाभास की अनुभूति होती है।

(ग) बहुनायक-निष्ठ रति

संस्कृत काव्याचार्यों में मम्मट, विश्वनाथ, रूपगोस्वामी, जगन्नाथ एवं नरसिंह ने बहुनायक-निष्ठ रति को तथा अल्लराज ने बहुनायिका-निष्ठ रति को भी रसाभास माना है।[2] कारण स्पष्ट है कि प्रेम एकनिष्ठ होता है। उसकी अनन्यता में ही उसकी सिद्धि है। भारतीय विचार परम्परा के अनुसार पति और पत्नी का पारस्परिक सम्बन्ध युग-युगान्तरों से है और सदा रहेगा। परिणामतः एक भारतीय पाठक जब काव्य में नायक अथवा नायिका को अपने इस धर्म से पृथक् होते देखता है तो वह स्पष्टतः उनकी भर्त्सना करने लगता है। प्राचीन काव्याचार्यों की दृष्टि इसी प्रकार की आध्यात्मिक अथवा नैतिक दृष्टि थी। वे इस प्रकार की उच्छृंखल वृत्ति को घोर पाप समझते थे किन्तु आज का पाठक पश्चिम की भौतिकवादी विचारधारा से प्रभावित होने के कारण इस प्रकार की नैतिक दृष्टि का उपहास करता है। वह इस प्रकार की एकनिष्ठता

---

१. देखिए, काव्यदर्पण, पृ० २९३।

२. (क) नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ३८।

(ख) रूपगोस्वामी ने भी कुछ आचार्यों का मत दिया है, जो अनेक नायिकाओं में नायक के अनुराग को शुचि-उपरस मानते हैं:

केचित्तु नायकस्यापि सर्वथा तुल्यरागतः।। हि०भ०र०सि० ९।११।
नायिकास्वप्यनेकासु वदन्त्युपरसं शुचिम्।

को भ्रम समझता है। उसकी दृष्टि में विवाह का सम्बन्ध आध्यात्मिकता से न होकर वासना की भूख को शान्त करने के निमित्त है।[1] सिद्धान्त रूप से वह इस प्रकार के विचारों को व्यक्त करने में संकोच का अनुभव करता है किन्तु इस विचारधारा ने उसकी वृत्ति को भोगमय अधिक कर दिया है और आज वह अपनी इस काम-पिपासा को काव्य के माध्यम से शान्त करने का इच्छुक है। उसे अब प्रेम के पावन एकनिष्ठ रूप को अभिव्यक्त करने वाले महान् प्रबन्ध काव्यों से शृंगार के शुद्ध स्वरूप का आस्वाद उपलब्ध करने में विशेष रुचि नहीं रही। वह इस प्रकार के काव्यों को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगा है। उसके विचार में राम ने सीता का जो विरह अनुभव किया और उसे प्राप्त करने के लिए अनेक कष्टों को सहकर जिस धर्म का पालन किया वह सब एक सनकी मनुष्य का दीवानापन है। इसी दृष्टिकोण के कारण उनके लिए अब काव्य में वर्णित विरह का कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा। संयोग या सम्भोग के नानाविध चित्रों को देखकर ही उसे कुछ आह्लाद का अनुभव होता है। इस आह्लाद के होने का एक कारण यह भी है कि इन मुक्तक पदों में उसके सम्मुख नायक अथवा नायिका के चरित्र की गरिमा का कोई विवरण नहीं होता। वह उन्हें अपनी ही तरह का एक विलासी (रसिक) मान लेता है। और उनके वर्णन में अपने को ही कभी आश्रय और आलम्बन समझकर उसमें पूर्णतः मग्न हो जाता है। यही कारण है कि उपर्युक्त आचार्यों द्वारा प्रस्तुत बहुनायक-निष्ठ रति के उदाहरण उसके लिए रसाभास उत्पन्न न कर उसकी वासना को तुष्ट करने में सहायक सिद्ध होते हैं। मम्मट द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए—

> स्तुमः कं वामाक्षि, क्षणमपि विना यं न रमसे,
> विलेभ कः प्राणान् रणमखमुखे यं मृगयसे।
> सुलग्ने को जातः शशिमुखि, यमालिङ्गसि बलात्,
> तपः श्रीः कस्यैषा मदननगरि, ध्यायसि तु यम्।
>
> —काव्यप्रकाश, ४८।

हे सुन्दर नेत्रों वाली, हम (उस) किस (भाग्यशाली व्यक्ति) की प्रशंसा करें ? जिसके बिना तुम क्षण-भर भी प्रसन्न नहीं रह पाती। वह (दूसरा) कौन (पुण्यात्मा व्यक्ति) है जिसने संग्राम रूपी यज्ञ में (तुम्हारे लिए पूर्वजन्म में) प्राण समर्पित किये थे और जिसे तुम ढूंढ़ती रहती हो। हे चन्द्रमुखि ! जिसका तुम बलात् आलिंगन करती हो वह सुमुहूर्त में उत्पन्न कौन (युवक) है ? अरी कामदेव की नगरि ! यह किसकी तपस्या की कान्ति (का प्रभाव) है (जिससे तू उसकी ओर आकृष्ट होकर) उसी का ध्यान करती है ?

यह उक्ति किसी कामुक व्यक्ति की वेश्या अथवा परकीया से कही गयी प्रतीत होती है। इसमें नायिका के बहुकामुक-विषयक रमण, अन्वेषण आदि व्यापारों का वर्णन किया गया है। उसका प्रशंसक युवती के अद्भुत रूप से आकृष्ट है और वह

---

१. देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० १४९

चाहता है कि वह उसे भी अपना एक प्रेमी स्वीकार कर ले। इसे पढ़ते हुए पाठक के सम्मुख भी अपनी एक वास्तविक अथवा काल्पनिक नायिका का चित्र आ जाता है मानो वही आश्रय है और उसकी अपनी प्रेमिका आलम्बन। वह इस प्रसंग में पूर्णतः लीन है। अतः इसे रसाभास स्वीकार करना उपयुक्त नहीं।

इसी प्रकार का एक उदाहरण विश्वनाथ ने भी प्रस्तुत किया है—'कान्तास्त एव भुवनत्रितयेऽपि मन्ये येषां कृते सुतनु पाण्डुरयं कपोलः'[1]—अर्थात् हे सुतनु! मेरी समझ में तो वे ही पुरुष तीनों लोक में सुन्दर हैं जिनके लिए तुम्हारे ये कपोल विरह से पाण्डुवर्ण हैं। यहां विश्वनाथ ने विरह में दग्ध नायिका को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए मनोविज्ञान का आश्रय लिया है। उक्त कथन के अभिधार्थ से यद्यपि नायिका के प्रेमियों के सौन्दर्य की प्रशंसा प्रतीत होती है किन्तु उन पुरुषों के सौन्दर्य का कारण नायिका को ही बतलाना व्यंग्यार्थ में नायिका के ही अलौकिक लावण्य की प्रशंसा की गई है। पाठक इसे पढ़कर नायिका के ही रूप की कल्पना करने में मग्न होता है। और नायिका के विरह का आलम्बन अपने आपको समझने की भूल भी उससे हो जाती है। इस प्रसंग को भी रसाभास नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार गोस्वामी द्वारा प्रस्तुत उदाहरण भी रसाभास का नहीं है :

गान्धर्वि ! कुर्वाणमवेक्ष्य लीला-
मग्रे धरण्यां सखि ! कामपालम् ।
आकर्णयन्ती च मुकुन्दवेणुं
भिन्नाऽद्यसाध्वि ! स्मरतो द्विधाऽसि ।।

अर्थात् हे सखि गान्धर्वि ! सम्मुख पृथ्वी पर लीला करते हुए बलराम को देखकर और हे साध्वि, मुकुन्द की वेणु को सुनती हुई तू आज काम से दो तरह भिन्न हो रही है।

आचार्य जगन्नाथ ने भी बहुनायक-निष्ठ रति का उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनका उदाहरण उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से अधिक कमनीय है :

भवनं करुणावती विशन्ती गमनाज्ञालवलाभलालसेषु ।
तरुणेषु विलोचनाब्जमालामथ बाला पथि पातयाम्बभूव ।।[2]

---

१. सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने इसी का अनुवाद प्रस्तुत कर इसे बहुनायक-निष्ठ रति के कारण रसाभास माना है :

बड़ भागी जन सुघर वे त्रिभुवन मांहि जनात ।
जिनके हित तेरे सुमुखि ! पीत कपोल लखात ।।

—का० क० दु०-द्वि० सं०, १४६

किन्तु अगले संस्करणों में उन्होंने इसे नहीं रखा।

२. कवि कहता है—बालिका जब अपने घर में घुसने लगी तो उसने देखा कि मार्ग में युवा पुरुषों की एक टोली की टोली बिदाई के लिए आज्ञा प्राप्त करना चाहती है। करुणावती बालिका से न रहा गया। उसने सब युवाओं के ऊपर एक ही साथ नेत्र-कमलों की माला गिरा दी—सभी को प्रेम-भरी दृष्टि से देख लिया।

एक नायिका कहीं से आ रही थी, रास्ते में उसके रूप-यौवन ने कुछ युवकों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया और वे उसके पीछे-पीछे चलने लगे। नायिका जब घर में प्रविष्ट होने लगी, तो उसने देखा कि बेचारे युवक अपने परिश्रम की सफलता के इच्छुक हैं और विदाई की आज्ञा प्राप्त करने के अभिलाषी हैं। उसे दया आ गई, और उसने उन पर कमल-नयनों की माला डाल दी। उसने एकसाथ अनेक युवकों को उपकृत कर दिया। ऐसे प्रसंगों को पढ़कर सहृदय स्त्री अपने को आलम्बन मान लेती है, मानो उसी ने उन युवकों को उपकृत किया हो और सहृदय पुरुष अपने को आश्रय समझ लेता है मानो वही उपकृत हुआ हो। इस प्रकार का प्रसंग युवावस्था के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट करता है। वह इसे पढ़कर विभोर हो उठता है।

अल्लराज ने पुरुष का अनेक रमणियों के प्रति (अर्थात् बहुनायिकानिष्ठ) रति को भी रसाभास माना है[1]:

शिलष्यति कामपि चुम्बति कामपि कामपि रमयति रामाम्।
पश्यति स्मितचारुपरामपरामनुगच्छति वामाम्॥

अर्थात् (कोई कामी पुरुष) किसी का आलिंगन करता है, किसी का चुम्बन लेता है, किसी से रमण करता है, मुस्कराहट से सुन्दर किसी रमणी को देखता है, और किसी अन्य का अनुसरण करता है। किन्तु यदि अनेक रमणियों का उपभोग तो एक ही पुरुष करे लेकिन उसका अनुराग केवल एक ही के प्रति हो तो वहां रसाभास नहीं होता। किसी ने कंचुकी से पूछा कि राजा ने आज किसका उपभोग किया है तो कंचुकी ने उत्तर दिया[2]:

स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वर सुता वाराङ्गराजस्वसु,
द्यूते रात्रिरियं जिता कमलयादेवी प्रसाद्याद्य च।
इत्यंतः पुरसुन्दरीः प्रतिमया विज्ञाय विज्ञापिते,
देवानांप्रतिपत्ति शून्यमनसा द्वित्रा: स्थितं नाडिकाः।[3]

वस्तुतः इस प्रकार के उदाहरण भी कामुकता के ही जनक हैं।

रीतिकाव्याचार्यों में से अधिकांश आचार्यों ने रसाभास के उदाहरण बहुनायक-निष्ठ रति के दिये हैं। ये उदाहरण संस्कृत काव्याचार्यों द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों की तुलना में अधिक कमनीय हैं। रीतिकाल की नायिकाएं किन्हीं सदाचारी पुरुषों की पत्नियां नहीं हैं। वे विलसिनी हैं—उनकी विलास-भावना का वर्णन कर पाठक में

---

१. एकस्य पुरुषस्य अनेकासु कामिनीषु अनुरागः रसाभास एव।
—रसरत्न प्रदीपिका, पृ० ३९।

२. यदि पुनर्बहुषु कामिनीषु एकस्य पुरुषस्योपभोगे प्रतिपद्यमाने एकस्यामनुरागो ध्वन्यते तदा रस एव स्यात्। यथा अद्य राज्ञा का उपभोक्तव्या इति केनापि पृष्ठः कञ्चुकी तमाह।
—रसरत्नप्रदीपिका, पृ० ३९।

३. अत्रान्यासु व्यवहारमात्रप्रतीतेः द्यूतविजितरात्रौ कमलायामनुरागो व्यज्यते इति रसः।
—रसरत्न प्रदीपिका, पृ० ३९।

वासना जागरित करना इन कवियों का लक्ष्य है। उसका यह लक्ष्य उनके काव्य में पूर्ण हुआ है। इस दृष्टि से प्रस्तुत प्रसंग में कुलपति, सोमनाथ, भिखारीदास, उजियारे कवि एवं आधुनिक काल के संग्रहकर्ता आचार्यों में से श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', सेठ कन्हैयालाल पोद्दार एवं पं० रामदहिन मिश्र द्वारा प्रस्तुत उदाहरण द्रष्टव्य हैं। कुलपति मिश्र द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए :

> नागरि कित हित लाज सों कहा दाम के हेत।
> दुरे दुरे हित कित कियो को है भाग निकेत ॥
>
> —रस रहस्य, ३।९९।

इसमें धन के कारण एक ही नायिका की छिप-छिपकर अनेक व्यक्तियों के प्रति रति प्रदर्शित की गयी है। यहां सहृदय के मन में सामान्या नायिका के प्रति वितृष्णा की भावना जागरित होती है। कारण यह कि वह किसी एक पुरुष के प्रति 'वफादार' नहीं है, और दूसरा कारण यह कि वह धन के लिए ही यह सब कुछ कर रही है। अतः यहां कुलपति द्वारा रसाभास की स्वीकृति समुचित ही है। सामान्या के वे सभी उदाहरण जिनमें उसकी धनप्रियता लक्षित हो जाती है और जिस कारण सहृदय के मन में उसके प्रति क्षोभ ही उत्पन्न होता है, रसाभास के उदाहरण स्वरूप ही स्वीकृत किए जाने चाहिएं। किन्तु इसके विपरीत सोमनाथ द्वारा प्रस्तुत निम्नोक्त उदाहरण रसाभास का विषय नहीं बन सका :

> होरी खेलत ग्वालि के गहे उरोज गुपाल।
> तब लौं और गुवाल ने छिये कपोल रसाल।
>
> —रसपीयूषनिधि, १८।१९।

इस पद में अनेक ग्वालों द्वारा गोपिका के उरोजों एवं कपोलों को पकड़ने का नग्न वर्णन किया गया है। दोनों ही अनुचित कार्य हैं। किन्तु पाठक उस अनौचित्य की बिना परवाह किये मानो स्वयं होली का वेश धारण कर आत्म-विभोर हो उठता है। ऐसे उदाहरण लौकिक शृंगार के अन्तर्गत ही परिगणित होने चाहिए। इसी प्रकार भिखारीदास का काव्य-निर्णय में दिया गया इस प्रसंग का उदाहरण देखिए :

> सुदा सुराढर तुव नजरि, तूं, मोहिनी सुभाइ।
> अछकन्ह देत छकाइ है, मार-मरन्ह को ज्याइ ॥
>
> —काव्यनिर्णय, ४।५३।

यह पद्य भी रसाभास का उदाहरण नहीं है क्योंकि इस नायिका के प्रति पाठक के मन में किसी प्रकार की क्षोभ की भावना जागरित नहीं होती। वह उसके नशीले नयनों की कल्पना कर उनसे अपने को तृप्त करने का प्रयत्न करता है। उजियारे कवि ने जुगल प्रकाश में दो उदाहरण प्रस्तुत किये है जिनमें से प्रथम 'एक नाइका कैं अव्यवस्थित रति अनेक नाइक सौं' का है और द्वितीय 'एक नाइक कैं अनेक नाइका रति' का :

> (१) सुंदर सुदेस केस पासनि सुधारि वेस
> पेसवाज ओढ़नी जरी के सिरताज की।

मनैं उजिआरे पैन्हि भूषन वसन प्यारी
झनक मनक ओप ऊगी रसराज की।
बैठी परजंक पै मयंक सौं निहारै मुष
मुकर सुकर कीनैं सुरति समाज की।
को है आजु ऐहै सुष लैहै धन दैहै आनि
ओज मौज पै है या मनोज महाराज की ॥६३॥

(२) कोहै मैंन कासी जो है वसी मैंन कासी सो है
वसी मैंन कासी मोहै फासी फूंद नाषी है।
भनैं उजिआरे संभु कापर निहारे सो
हमारे कर कंजन सौं पूजा अभिलाषी है ॥
कौंन पै भयौ है अति रति पति प्रसंन आजु
ताही की सुरतिया तैं मेरी मति चाषी है।
कौंन मृगनैनी बीच बैंनी में अन्हाई पिक-
बैंनी जी हमारे हेत बैंनी गूंदि राषी है ॥६२॥

प्रथम उदाहरण में एक सजीधजी रूपजीवा का वर्णन विद्यमान है जिससे पाठक के चित्त में उसके अद्‌भुत रूप एवं साज-शृंगार के प्रति एक लालसा उत्पन्न हो जाती है और द्वितीय उदाहरण में वह भी अपनी ओर आकृष्ट हो रही अनेक नायिकाओं को देखने की कामना उत्पन्न कर लेता है। अपने इस अनुचित कार्य का उसे थोड़ा भी ज्ञान नहीं रहता। अतः यहां भी रसाभास नहीं है।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने बहुनायकनिष्ठ रति का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है :

किन नयनन में नहिं बसे को न इनहिं मन देत।
बड़े छबीले छयल ए काको नहिं छरि लेत ॥[1]

नायिका का मन अनेक सुन्दर युवकों के सौन्दर्य-सरोज का मधुप है, इसलिए उसका बहुनायकनिष्ठ होना स्पष्ट है। इस पद को पढ़कर सामान्य पाठक उस नायिका के लावण्य का उपभोग करने के लिए लालायित हो उठता है।

उपर्युक्त पद्यों के सम्बन्ध में जिन्हें रसाभास के स्थान पर लौकिक शृंगार का उदाहरण स्वीकार कर लिया गया है, प्रतिवादी का यह आक्षेप हो सकता है कि ये स्थल शास्त्रीय दृष्टि से रसाभास के अन्तर्गत भले ही परिगणित न किये जाएं, किन्तु इन्हें शुद्ध शृंगार भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। उनका यह आक्षेप उपर्युक्त उदाहरणों के विषय में सत्य हो सकता है, किन्तु कुछ अन्य ऐसे प्रसंगों की उद्‌भावना भी काव्यों में विद्यमान है जो कि बहुनायकनिष्ठ रति के होते हुए भी शुद्ध शृंगार के अन्तर्गत परिगणित किये जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक हृदय के प्रत्येक तार को किसी दूसरे के हृदय के प्रत्येक तार से सम्बद्ध करना एक कठिन कर्म है, और

१. रसकलस, पृ० ६५।

ऐसी स्थिति में यदि एक तीसरे व्यक्ति के हृदय से भी उन तारों का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा हो, तो उनके टूटने की सम्भावना प्रायः अधिक रहती है। किन्तु फिर भी एक कुशल शिल्पी एक ही हृदय के तारों को दो या इससे भी अधिक व्यक्तियों के तारों से समान सुदृढ़ता के साथ परिबद्ध कर सकता है। और यह सम्भव है कि आत्मिक आस्थावान् व्यक्ति अपनी दोनों प्रेमिकाओं से समान प्रेम का व्यवहार करे। दोनों की भावनाओं को समान रूप से परितुष्ट रखे। किसी के भी अधिकार को तिरस्कृत न होने दे। पद्मावत में जायसी ने ऐसा ही एक दिव्य उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, और उसमें उसे सफलता भी मिली है। किन्तु फिर भी यह एक असन्दिग्ध सत्य है कि इस प्रकार का समान व्यवहार एक असाधारण कृत्य है। अतः प्रथम तो प्रत्येक सहृदय को इस प्रसंग में आनन्द आ नहीं सकता, और यदि कुछ को आ भी जाए, तो भी वह आनन्द पूर्ण न होगा। इस प्रकार के प्रसंगों में पूर्ण तादात्म्य अथवा साधारणीकरण का होना अत्यन्त कठिन है। अतः ऐसे स्थलों पर रस पूर्ण रूप से निष्पन्न न होगा। शास्त्रीय दृष्टि से इसे भाव की कोटि तक ही परिसीमित मानना चाहिए। कुछ के लिये यह रसाभास हो सकता है।

प्रस्तुत प्रकरण में दो प्रसंग अवशिष्ट हैं—

(क) कृष्ण-गोपिका-प्रसंग।
(ख) द्रौपदी-पञ्च-पाण्डव-प्रसंग।

इनमें से प्रथम प्रसंग बहुनायिकानिष्ठ रति का है और द्वितीय बहुनायक-निष्ठ का। अतः रस गंगाधर के टीकाकार नागेश भट्ट तथा पं० गंगाप्रसाद अग्नि-होत्री इन्हें रसाभास मानते हैं[1], किन्तु रसतरंगिणीकार का कथन है कि जिस नायक के लिए अनेक नायिकाएं व्यवस्थित हों वहां अनौचित्य का अभाव रहता है[2], अतः वहां रसाभास भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। इसी आधार पर वे सकल नायकोत्तम कृष्ण की अनेक नायिकानिष्ठ रति को रसाभास नहीं मानते। उजियारे कवि का भी यही मत है कि जहां रति निश्चित हो वहां रसाभास नहीं मानना चाहिए। एकाकी कृष्ण की सहस्र स्त्रियां होने पर भी वहां रसाभास नहीं होता :

ऐसेंई जँहँ एक कैं है अनेक मह प्रीति।
रसाभास की होति तहं निहचै बिन परतीति॥

---

१. (क) अत्र—पांचाल्याः बहुविषयाया रतेरभिव्यंजनाद्रसाभास एवेति नव्याः। प्राच्यस्तु अपरिणेतृबहुनायकविषयत्वे रतेराभासतेत्याहुः।
—रसगंगाधर, रसाभास प्रकरण।

(ख) राधा जी के परकीया होने के कारण श्री राधाकृष्ण का शृंगार-वर्णन शुद्ध शृंगार रस नहीं हो सकता, किन्तु वह शृंगार रसाभास कहा जा सकता है। —रस-वाटिका, पृ० १२८।

२. रस तरंगिणी, पृ० १७८।

जौ तह निहचौ होइ तौ रसाभास नहि जांनि ।
कृष्ण एक सौं रह सहस तिअ तहं नहि रस हांनि ।
याही तै वैसिकान अरु बिरवनी कौं व्यौहार ।
रसाभास नित जांनि निजहु यह प्राचीन विचार ।।

जुगल प्रकाश, ५६-६१ ।

भारतीय सहृदय उक्त दोनों प्रसंगों को पूर्ण रस के प्रसंग स्वीकार करता है । इन्हें पूर्ण रस का प्रसंग स्वीकार करने में निम्नोक्त कारण हो सकते हैं :

(१) कृष्ण के उपभोग के लिए गोपियां व्यवस्थित हैं और उधर कुन्ती ने द्रौपदी को पांचों पाण्डवों के लिए समान रूप से व्यवस्थित कर दिया है ।

(२) कृष्ण के प्रति हमारी पूज्य बुद्धि है, वे अवतार हैं और भगवान् द्वारा किया हुआ कोई भी कर्म अनुचित नहीं कहला सकता । अर्थात् हमारे कृष्ण के प्रति परम्परागत संस्कार उसके इस कृत्य में अरुचि उत्पन्न नहीं होने देते, पाण्डवों के प्रति भी हमारी आस्था है । परिणामतः उनका यह कर्म हमारी दृष्टि में मां कुन्ती के प्रति भक्ति का प्रतीक है ।

(३) कृष्ण गोपिका-सम्बन्ध दार्शनिक मतवादियों के अनुसार आत्मा-परमात्मा का परस्पर सम्बन्ध है । इस कल्पना ने भी भारतीय मस्तिष्क में अपना विशेष स्थान बना लिया है जो कि इस प्रसंग को रसाभास नहीं होने देती ।

(४) सहजिया सम्प्रदाय के अनुयायी वैष्णव अलौकिक प्रेम का मूल आधार परकीया प्रेम समझते हैं, उनकी धारणा है कि भक्ति-परक भाव योग के समुचित विकास के लिए किसी साधक को चाहिए कि वह अपनी स्वकीया पत्नी का त्याग कर किसी परकीया और विशेषतः किसी सधवा परकीया के साथ प्रेम करे । एक गोपिका का स्पष्ट कथन है :

सकलैः नायकगुणैः सहितः सखि मे पतिः ।
स एव यदि जारः स्यात् सफलं मम जीवितम् ।

और अपने मत का वे समर्थन कृष्ण एवं गोपियों के प्रेम से ही करते हैं ।

(५) गोपियां कृष्ण के प्रति समान रूप से अनुरक्त हैं । सभी अपने को कृष्ण के प्रेम का अधिकारी समझती हैं । वे राधा का ही दूसरा रूप प्रतीत होती हैं । सभी को समान रूप से प्रेम की प्राप्ति हो रही है । अतः उनमें परस्पर ईर्ष्या का भी अभाव है । युधिष्ठिर आदि में भी कवियों ने ईर्ष्या प्रदर्शित नहीं की । द्रौपदी के प्रति सभी का समान अनुराग है । जगन्नाथ द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए :

व्यानम्राश्चलिताश्चैव स्फारिताः परमाकुलाः ।
पाण्डुपुत्रेषु पांचाल्याः पतन्ति प्रथमा दृशः ।।

अर्थात् पाण्डवों पर द्रौपदी की दृष्टियां क्रमशः अत्यन्त नम्र, चंचल, विकसित और परम व्याकुल होकर गिर रही हैं । द्रौपदी पूर्णतः सन्तुष्ट प्रतीत होती है । अतः अनौचित्य का प्रश्न ही कहां है ।

उपर्युक्त चारों कारणों में अनुस्यूत किसी एक कारण का अन्वेषण करें तो उक्त

दोनों प्रसंगों के प्रति सहृदय के परम्परागत संस्कार इन्हें रस प्रसंग सिद्ध करने के उत्तरदायी ठहरते हैं। साथ ही उनके ये संस्कार मनोविज्ञान सम्मत हैं। यदि सचमुच यह सम्भव हो सके कि नायक या नायिका का अपने एक से अधिक प्रेमियों से सच्चा प्रेम है और उनमें से किसी को भी ईर्ष्या अथवा द्वेष नहीं होता तो उस प्रसंग में रसाभास भी नहीं होना चाहिए। सच बात तो यह है कि मनोविज्ञान के अनुसार अनेक के प्रति रति अनुचित कार्य नहीं है। किन्तु क्योंकि प्रेमी को एकाधिकार की आकांक्षा रहती है, और एक से अधिक में समान रूप से प्रेम-व्यवहार एक कठिन कार्य है, अत: किसी को अनेक से प्रेम करता हुआ देखकर हमारे अनुदार चित्त में एक सन्देहात्मक वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। लोक में इस प्रकार के कर्म इसलिए अनुचित प्रतीत होते हैं कि हमें विश्वास नहीं हो पाता कि वह सचमुच अपनी सभी प्रेमिकाओं से अथवा अपने सभी प्रेमियों से समान व्यवहार कर रहा है। काव्य में कवि अपनी प्रतिभा के बल पर सहृदय के चित्त में इस प्रकार का विश्वास उत्पन्न कर सकता है। अत: वहां इस प्रकार के प्रसंगों का अनौचित्य से भी बचाना सम्भव है। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि सहृदय के चित्त में प्रबल रूप से प्रेम की एकनिष्ठता बद्धमूल हो चुकी हो तो उसे कृष्ण-गोपिका के प्रसंग में भी आनन्द नहीं आएगा। उसे ऐसे प्रसंगों में लम्पटता की झलक मिलेगी और वह इनके प्रति कुछ अरुचि भी उत्पन्न करेगा।

उपर्युक्त बहुनायकनिष्ठ रति विषयक सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर निम्नोक्त निष्कर्ष निकलते हैं :

—सामान्य रूप से स्वीकृत धारणा के अनुसार भारतीय काव्याचार्यों के मन में भी यह धारणा प्रायः बद्धमूल हो चुकी थी कि प्रेम एकनिष्ठ होता है। अतः सहृदय बहुनायकनिष्ठ रति को रस रूप में स्वीकार न करके इससे रसाभास की प्रतीति करता है।

—इस प्रकार की धारणा के मूल में व्यक्ति का अनुदार चित्त उत्तरदायी है, जो कि स्वार्थवश अनेक से रति सम्बन्ध रखने के उपरान्त भी प्रत्येक से एक समान प्रेम का व्यवहार नहीं रख पाता।

—किन्तु वस्तुत: काव्य में प्रौढ़ एवं सक्षम कवि किसी ऐसे उदारचेता व्यक्ति का चित्रण कर सहृदय के चित्त में उसके प्रेम की पवित्रता एवं समानता के सम्बन्ध में विश्वास उत्पन्न कर सकता है। अत: ऐसे प्रसंग शुद्ध शृंगार रस अथवा भाव का आस्वाद कराने में समर्थ सिद्ध होते हैं।

—बहुनायकनिष्ठ रति का प्रसंग व्यक्ति में वासना जागरित करने में विशेष रूप से सहायक सिद्ध होता है। अत: प्रेम की निष्ठा के अभाव में इससे शृंगार रस की अनुभूति भले ही न हो, किन्तु यह प्रसंग अत्यन्त कमनीय होने के कारण रसाभास भी उत्पन्न नहीं करता।

—यह प्रसंग तीन ही अवस्थाओं में रसाभास का जनक हो सकता है। (क) प्रथम वहां जहां कि प्रमाता का सशंकित हृदय प्रेम की एकनिष्ठ धारणा से इतना

बद्धमूल हो कि उसका मनोविज्ञान कवि के भाव के साथ तादात्म्य करने में असमर्थ सिद्ध हो जाए, (ख) द्वितीय वहां जहां कि पाठक नायक अथवा नायिका की हलकी वृत्ति से परिचित हो जाये। सामान्या के वे उदाहरण जिनमें कि उसकी धन-लोलुपता झलकती है, रसाभास के ही उदाहरण हैं। इसी प्रकार कुलटा के चित्रण में उसकी वासना की भूख प्रकट हो जाती है, वह भी पाठक पर अच्छा प्रभाव नहीं डालती। और (ग) तृतीय वहां जहां कि एक पक्ष (नायक अथवा नायिका) पूर्ण रूप से अपने धर्म पर आरूढ़ हो, किन्तु द्वितीय पक्ष (नायिका अथवा नायक) अपने हितैषी प्रेमी से छल करके अपनी कुत्सित वासना की पूर्ति में लगा हो। इस द्वितीय अवस्था में व्यक्ति की आश्रय के प्रति घृणा उत्पन्न होगी। उदाहरणार्थ :

लक्ष्मणे वाथ भरते वा किं बुद्धि यथा सुखम्
सुग्रीवे वानरेन्द्रे वा राक्षसेन्द्रे विभीषणे
निवेशय मनः सीते यथा वा सुखमात्मनः।

—युद्ध काण्ड, ११८-२०-२३।

इस प्रकार के (प्रक्षिप्त) पद्य प्रत्येक प्रकार के सहृदय के लिए समान रूप से अरुचिकर होने के कारण रसाभास के विषय बन सकते हैं।

—हिन्दी रीतिकालीन साहित्य किन्हीं सदाचारी नायक-नायिकाओं का साहित्य नहीं है, अतः वह व्यक्ति के हृदय में काम उत्पन्न करने में समर्थ सिद्ध होता है।

(घ) अनुभयनिष्ठ रति

अभिनव गुप्त द्वारा प्रस्तुत 'दूराकर्षण मोहमन्त्र इव ते' आदि उदाहरण में अनुराग केवल रावण में ही विद्यमान है, अतः यहां श्रृंगार न होकर श्रृंगाराभास है। किन्तु अभिनव गुप्त के अनुसार यदि आगे चलकर रति उभयनिष्ठ हो जाये तो जब तक वह अनुभय निष्ठ है तब तक रसाभास होगा और जब वह उभयनिष्ठ हो जायेगी तब रस हो जायेगा। रत्नावली में परस्पर दर्शन के अनन्तर सागरिका का वत्सराज से पहला प्रेम इसी प्रकार का उदाहरण होगा।[1] विश्वनाथ ने भी अनुभयनिष्ठ रति को श्रृंगाराभास स्वीकार किया है। उनके अनुसार मालती-माधव में नन्दन का मालती में अनुराग अनुभयनिष्ठ होने के कारण श्रृंगार न होकर श्रृंगाराभास है।[2] विश्वनाथ के उपरान्त भानुदत्त ने 'अनुभयनिष्ठ' इस परिभाषिक शब्द का बिना प्रयोग किये इस

---

१. 'पश्चादुभयनिष्ठत्वेऽपि प्रथममेकनिष्ठत्वे रतेराभासत्वम्' इति श्रीमल्लोचनकाराः। तत्रोदाहरणं यथा—रत्नावल्यां सागरिकाया अन्योन्यसंदर्शनात्प्राग्वत्सराजे रतिः। —साहित्य-दर्पण, पृ० १२६।
(किन्तु हमारी दृष्टि में वह पूर्वराग की अवस्था होगी, उसे रसाभास स्वीकार करना उपयुक्त नहीं।)

२. अनुभय निष्ठत्वे यथा—मालतीमाधवे नन्दनस्य मालत्याम्
—साहित्य-दर्पण, पृ० १२६।

प्रकार की रति को रसाभास ही स्वीकार किया है। उनका कथन है कि संयोग शृंगार से तात्पर्य बहिरिन्द्रिय संयोग है।[1] किन्तु शृंगार के अन्तर्गत तभी इसका ग्रहण होता है, जब यह अनुकूल रूप में उपस्थित किया जाता है। बलात्कार के साथ अनुचित संयोग का वर्णन अथवा किसी एक की ओर से रति का अधिक अथवा न्यून प्रदर्शन संयोग शृंगार का उदाहरण न बनकर शृंगार रसाभास बन जाता है।[2] रूपगोस्वामी ने 'द्वयोरेकतरस्यैव रतिर्या खलु दृश्यते' कहकर अनुभयनिष्ठ रति को शृंगार उपरस कहा है। (देखिए हि० भ० र० सि० ९।८)

यहां इस सम्बन्ध में उनका मत है कि रति का अत्यन्ताभाव ही शृंगार उपरस होता है, रति का प्रागभाव नहीं—

अत्यन्ताभाव एवात्र रतेः खलु विवक्षितः।
एतस्याः प्रागभावे तु शुचिर्नोपरसो भवेत्॥

—हि० भ० र० सि० ९।१०

उपर्युक्त उदाहरण में श्रीकृष्ण की ब्राह्मण-वधुओं में न रति थी, न है, न होगी, अतः यहां अत्यन्ताभाव के कारण रसाभास है। रति जन्म से तो किसी में रहती नहीं, बाद में ही उत्पन्न होती है अतः प्रागभाव का रसाभास से कोई सम्बन्ध नहीं है। रूपगोस्वामी ने इसका ललित माधव से निम्नलिखित उदाहरण दिया है :

मन्दस्मितं प्रकृतिसिद्धमपि व्युदस्तं-
सङ्गोपितश्च सहजोऽपि दृशोस्तरङ्गः
धूमायिते द्विजवधूमदनात्तिवह्ना—
वन्हाय काऽपि गतिरङ्कुरितामयासीत्॥

अर्थात् स्वभाव सिद्ध भी मन्द मुस्कराहट हटा दी एवं सहज भी नेत्र की चंचलता छिपा ली। (इसप्रकार) विप्रस्त्रियों में कामाग्नि को धूमायित (प्रारम्भित) होने पर शीघ्र ही कोई दशा अंकुरित हो गई। श्रीकृष्ण के दर्शनों से विप्रस्त्रियों में तो कामाग्नि आरम्भ हो गयी पर कृष्ण ने यह समझ कर कि ये ब्राह्मणी हैं, अतः पूज्या हैं उनमें रति नहीं की। और इसीलिए उन्होंने अपनी स्वाभाविक मुस्कराहट को भी इस भय से छिपा लिया कि कहीं यह विप्रवधू मुझे अपने में अनुरक्त न समझ लें। इस प्रकार केवल विप्रस्त्रियों में ही रति होने से यह शृंगार उपरस है।

इनके उपरान्त शिंग भूपाल ने 'अराग' की अवस्था को रसाभास स्वीकार

---

१. तत्र दर्शनस्पर्शनसंलापादिभिरितरेतरमनुभूयमानं सुखं परस्पर संयोगेनोत्पद्यमान आनन्दो वा संयोगः। संयोगो बहिरिन्द्रियसम्बन्धः।

—रसतरंगिणी, पृ० १२८।

२. यूनोः परस्परं परिपूर्णः प्रमोदः सम्यक्सम्पूर्णरतिभावो वा शृंगारः। यूनोरेकत्र प्रमोदस्य रतेर्वाधिक्ये न्यूनतायां व्यतिरेके वा परिपूर्तेरभावात् रसाभाभासत्वमिति।

—वही।

किया है। अराग का अर्थ सकल रागाभाव है।[1] अर्थात् पूर्वानुराग की अवस्था में दर्शनादि कारण विद्यमान रहता है, अतः वहां रसाभास नहीं मानना चाहिए।[2] अभाव के तीन प्रकार हैं—प्रागभाव, अत्यन्ताभाव, प्रध्वंसाभाव।[3] अत्यन्ताभाव और प्रध्वंसाभाव में कारण होने पर भी राग की अनुत्पत्ति होती है अतः वहां रसाभास ही होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि अराग के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद रहा है। कुछ विद्वान् केवल स्त्रियों के रागाभाव को ही रसाभास का कारण स्वीकार करते रहे हैं। पुरुष के रागाभाव को नहीं। किन्तु शिंगभूपाल का कथन है कि कुछ पुरुषों में रागाभाव होने पर भी रस आस्वादनीय नहीं रहता। ऐसी स्थिति में रसाभास ही होगा। उदाहरणार्थ आपने निम्न श्लोक उद्धृत किया है :

गते प्रेमावेशे प्रणय बहुमानेपि गलिते,
निवृत्ते सद्भावे प्रणयिनि जने गच्छति पुरः।
तदुत्प्रेक्ष्योत्प्रेक्ष्य प्रियसखि, गतांस्तांश्च दिवसान्
न जाने को हेतुर्दलति शतधा यन्न हृदयम्॥

इस श्लोक से प्रकट होता है कि यह किसी परित्यक्ता का कथन है। इसे उसके पति ने पूर्णतः त्याग दिया है। उसका अब अपने पति से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। उनका परस्पर प्रेमावेग अब समाप्त हो चुका है। प्रणय गलित हो गया है, सद्भाव भी विनष्ट हो चुका है। ऐसी स्थिति में भी वह गत दिवसों के विषयों में सोचती हुई दुःखी हो रही है। किन्तु खेद है कि फिर भी उसका हृदय शतधा नहीं हो जाता। यह बात और भी कष्ट दायक है।

यद्यपि यहां स्त्री की ओर से स्मृति के सहारे पति के प्रति अत्यन्त अनुराग प्रदर्शित किया गया है, किन्तु पति के पूर्णतया त्याग देने से स्पष्ट है कि इस स्थल पर केवल नायिका में ही प्रेमावेश अथवा रतिभाव विद्यमान है। अतः इस वर्णन में चारुता नहीं है जिससे इसे रसमय कहा जा सके। इसी कारण इसे रसाभास कहना उचित होगा। अल्लराज ने इसे रसाभास इसलिए माना है कि यह केवल योषित के अनुराग को प्रगट करता है—केवलं योषिदनुरागात्। यह उदाहरण रसाभास दो ही कारणों से सम्भव है (१) चपल वृत्ति नायक ने बिना किसी कारण के नायिका का परित्याग कर दिया हो, (२) अथवा उसने नायिका की किसी छोटी-सी भूल पर इतना बड़ा दण्ड दे दिया हो। प्रथम अवस्था में नायिका का इस प्रकार का कथन उसके ही अगाम्भीर्य का द्योतक है। द्वितीय अवस्था में नायिका का इस प्रकार का कथन स्वाभाविक तो अवश्य है किन्तु इससे नायक के प्रति क्षोभ उत्पन्न होने के कारण रसाभास ही होगा।

---

१. तत्रारागस्त्वेकत्र रागाभावः। रसार्णव सुधाकर, २६४।
२. तत्र प्रागभावे दर्शनादि कारणेषु रागोत्पत्तिसंभावनयानाभासत्वम्। —वही, २६३।
३. अभावो हि त्रिविधः। प्रागभावोऽत्यन्ताभावः प्रध्वंसाभावश्चेति।...इतरयोस्तु कारण सद्भावेऽपि रागानुपपत्तेराभासत्वमेव। —वही।

जगन्नाथ द्वारा प्रस्तुत अनुभयनिष्ठरति का उदाहरण देखिए :

भुजपञ्जरे गृहीता नवपरिणीता वरेण वधूः ।
तत्काल जाल पतिता बालकुरंगी वेपते नितराम् ।।

कन्हैयालाल पोद्दार ने जगन्नाथ द्वारा प्रस्तुत उदाहरण का अनुवाद प्रस्तुत किया है :

भुज पंजरगत नव-वधू कम्पित गात लखात ।
जाल परी तत्काल ज्यों बाल मृगी दरसात ।।[1]

यहां नववधू में रति का अभाव होने के कारण केवल नायकनिष्ठ रति है अतः अनुभयनिष्ठ रति होने से रसाभास है । इस प्रकार के उदाहरणों का रसाभास होने का एक मूल कारण मर्यादा का हनन है । उपर्युक्त पद को पढ़ने के उपरान्त जो चित्र सामने आता है, वह अत्यन्त भयावह है । ऐसा प्रतीत होता है कि नव-विवाहिता वधू बहुत छोटी आयु की एक कोमलांगिनी कन्या है और उसका पति कोई उजड्ड जवान है जो कि अपनी उद्दाम वासना की तृप्ति के लिए उस नवोढ़ा की मर्यादा का हनन कर रहा है । विवाहित होने के कारण यद्यपि उसे अपनी पत्नी से प्रेम करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है किन्तु उस प्रेम की भी एक निश्चित मर्यादा होती है । यहां उसी मर्यादा का अतिक्रमण किया गया है । इस उदाहरण को पढ़कर नायक के प्रति घृणा, क्षोभ तथा नायिका के प्रति दया उत्पन्न होती है । इसी प्रकार रावण का सीता के प्रति तीव्र अनुराग अनुभयनिष्ठता के कारण रसाभास के अन्तर्गत ही परिगणित होता है ।

व्यत्यस्तं लपति क्षणं क्षणमथो मौनं समालम्बते,
सर्वस्मिन् विदधाति किञ्च विषये दृष्टिं निरालम्बनाम् ।
श्वासं दीर्घमुरीकरोति न मनागङ्गेषु धत्तेधृति ।
वैदेहीकमनीयताकवलितो हा हन्त लङ्केश्वरः ।।

श्रीमती जनकनंदिनी के सौंदर्य से ग्रस्त किया हुआ लंकेश्वर रावण बड़ा बेहाल हो रहा है । वह थोड़ी देर अंटसंट बोलता है तो थोड़ी देर चुप हो जाता है । सब चीजों को देखता है, पर उसकी आंखें कहीं जम नहीं पातीं, वह लम्बी श्वास लिया करता है और उसके अंगों में तनिक भी धैर्य नहीं है—कभी हाथ पटकता है कभी पैर । उससे थोड़ा भी शान्त नहीं रहा जाता । यहां सीता के विषय में जो लंकेश की विरहावस्था का प्रेम है, सो अनुभयनिष्ठ—केवल रावण में—होने के कारण और जगद्गुरु भगवान् रामचन्द्र की पत्नी के विषय में होने के कारण आभास रूप है । अंटसंट बोलने के द्वारा अभिव्यक्त होने वाला उन्माद, चुप होने के द्वारा व्यक्त होने वाला श्रम, आलम्बन रहित देखने से अभिव्यक्त होने वाला मोह, लम्बे सांसों के द्वारा अभिव्यक्त होने वाली चिन्ता और अंगों की अधीरता द्वारा अभिव्यक्त होने वाली व्याधि में संचारिभाव, जगद्गुरु की पत्नी के विषय में रति होने के कारण ये सभी आभास रूप में प्रकट होते

---

१. एक सखी दूसरी सखी से कह रही है—नई ब्याही हुई दुलहिन को वर ने, भुज रूपी पिंजरे में पकड़ लिया है, अतः वह बेचारी तत्काल जाल में पड़ी हुई हरिण की बच्ची की तरह कांप रही है ।

हैं। अतः यह विप्रलम्भाभास है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने सीता और रावण की रति को निम्नोक्त रूप में प्रस्तुत किया है :

पुलकं जनयन्ति दशकन्धरस्य राघवशराः शरीरे।
जनकसुतास्पर्शमहार्घ करतलाकृष्ट विमुक्ताः।

अर्थात् सीता के स्पर्श के कारण बहुमूल्य हाथों से छोड़े हुए रामचन्द्र के बाण रावण के शरीर में रोमांच पैदा कर रहे हैं। एकनिष्ठ अनुराग से रसाभास होने का उल्लेख नरसिंह (अभिनव कालिदास) ने भी किया है।[1]

हिन्दी के रीतिकवियों में उजियारे कवि रसाभास की परिभाषा ही प्रेम की अनुभयनिष्ठता पर आधारित करते हैं :

जहां परसपर प्रीति है तहां सुरस पहिचानि।
एक एक महं प्रीति जहं रसाभास तहं मानि॥

—जुगल प्रकाश, ५६।

दंपतिमधि जह एकमधि अधिक नूनरति होइ।
रसाभास तह कहत है कवि कोविद सोई॥

—रस-चन्द्रिका, २।३४।

अर्थात् पति-पत्नी अथवा नायक-नायिका में से जब एक में दूसरे के प्रति प्रेम भाव हो किन्तु इसमें उसके प्रति प्रेम कम अथवा उसका सर्वथा अभाव प्रदर्शित किया गया हो तो उस वर्णन से रस न होकर रसाभास होगा। कारण स्पष्ट है कि संयोग शृंगार में नायक और नायिका दोनों ही आश्रय और आलम्बन बनते हैं और एक दूसरे के लिए उद्दीपन भी वही सिद्ध होते हैं, ऐसा न होने की स्थिति में सहृदय को उन दोनों के परस्पर प्रेम पर सन्देह होने लगता है अथवा इससे आलम्बन की आश्रय के प्रति वितृष्णा अथवा उपेक्षा होती है जिससे रतिभाव अपुष्ट रह जाता है और जो अन्ततः रस-निष्पत्ति में बाधक सिद्ध होता है।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने इस प्रकार का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है—

पिय तन छांह बनन चहत तिय लखि छांह डरति।

पति का प्रेम तो इतना वर्द्धित है कि वह प्रायः पत्नी के साथ ही रहना चाहता है, किन्तु पत्नी इतनी सलज्ज और संकोचवती है कि पति की छाया देख कर भी घबराती है। रस की पूर्णता दोनों के प्रेम साम्य से होती हे।[2] ऐसे स्थलों को पढ़कर पाठक का मन करने लगता है कि नायिका नायक से प्रेम करे। इस पद को पढ़ कर पाठक को नायिका के संकोच के प्रति थोड़ा क्षोभ होता है, अतः यहां रसाभास है। अनुभयनिष्ठ रति का एक अन्य प्रसंग देखिए :

---

१. नन्जराज यशोभूषण, पृ० ३८।
२. रसकलस, पृ० ६५।

भरयौं कोप सों पिय लखत पीक लीक पल माहिं ।
लालहि लागत हू गरे लगत काम सर नाहि ।।
—(बेरी लाल)।

यह प्रेम एकांगी है और इससे नायक का परकीया गत प्रेम भी प्रकट होता है। इस दोहे में श्रृंगार की अपेक्षा अमर्ष की मुख्यता है । अतः स्पष्टतः यहां रसाभास है। शास्त्रीय दृष्टि से यह पद खण्डिता नायिका का उदाहरण है । इसमें रसाभास का मुख्य कारण अनैतिकता है और गौण कारण अनुभयनिष्ठता भी । जब पत्नी को (या प्रेमिका को) यह ज्ञात है कि उसका पति (या प्रेमी) किसी और से भी प्रेम करता है तो उसके पास इस क्रोध का कोई अर्थ नहीं है । इस प्रकार के उदाहरण क्रोध के उदाहरण तभी बन सकते हैं जब नायिका अपने पति अथवा अपने प्रेमी से घृणा करने लगे और उसके प्रति क्रोध व्यक्त कर उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर ले । किन्तु काव्य में विशेषतः रीतिकाव्य में ऐसी नायिकाओं से मान करवाने की प्रणाली है । मान प्रायः नायक द्वारा अपराध करने के कारण किया जाता है। इसमें बिना किसी कारण के मान, मान का शीघ्र परित्याग तथा मान का छुड़वाना ये तीनों ही स्थितियां रसाभास के अन्तर्गत आती हैं । चौथी स्थिति नायक द्वारा किसी महान् अपराध के किए जाने पर मान करने की हो सकती है और इस मान की समाप्ति पर्याप्त समय के उपरान्त नायक द्वारा अपनी भूल सुधार करने से सम्भव है किन्तु आधुनिक पाठक इससे भी तादात्म्य करने से निषेध करता है। क्योंकि उसकी दृष्टि में नायक की भूल सुधार एक प्रवंचना मात्र है ।

किन्तु अनुभयनिष्ठता प्रत्येक स्थिति में रसाभास का विषय नहीं बनती । विशेष रूप से इससे अनेक बार प्रतिदान की भावना से मुक्त निःस्वार्थ प्रेम की झलक मिलती है । उदाहरणार्थ विरह के प्रसंग में यह अनुभयनिष्ठता विरहभावना को तीव्र करती है ।

नीचे अनुभयनिष्ठ रति के कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर उसके श्रृंगाराभास के साथ नित्य सम्बन्ध का परिहार करेंगे । उजियारे कवि ने अनुभयनिष्ठ रति के दो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं । उनमें से एक नायिका में अराग का है और द्वितीय नायक में अराग का । प्रथम उदाहरण सीता और रावण का है ।[1] द्वितीय उदाहरण विवेच्य है :

अब आइ वहार अनाई भई अरुनाई नई तन तां भनैं है ।
उजियारे वसंत के तंत निरंतर कोटि कलां समझामनै हैं ।

---

१. सीतहि लाइ महां सुष पाइ किये चित चाइ मनोरथ भारे ।
सुन्दर मन्दिर वास प्रकासित सुन्दर भूषण भेद समारे ।।
अंग सुवास तरंगनि सौं अंग अंग अनंग उमंग सुधारे ।
राम लौं रामन कैं उरकाम नै तांनि कैं वान हजार कुमारे ।।
'इहां रामन (रावण) कैं रति सीता कै नहीं ।' —जुगलप्रकाश, ५७ ।

बलि कोकिल कूकनि सौं पल हूकन चूकन कौं न सतामनै हैं।
चलि कंत इकंत हमैं तुमैं आजु मनोज कौ मत मंतामनै हैं।।

—जुगलप्रकाश, ५८।

उजियारे कवि का कथन है कि 'इहां नाइका कैं रति नाइक कै नहीं।' वसन्त के आते ही नायिका प्रिय से मिलने को उत्सुक हो उठी है। उसकी देह में नवयौवन की अरुणाई है। कोयल की कूक के साथ उसके हृदय में प्रिय से मिलने की हूक उठती है। किन्तु नायक के अभाव में नायिका की अभिलाषा पर पानी फिर जाता है। यदि इस उदाहरण को विप्रलम्भ श्रृंगार का उदाहरण स्वीकार कर लिया जाए तो यह शुद्ध रस का प्रसंग है। पाठक का नायिका के साथ पूर्ण तादात्म्य होता है। विप्रलम्भ श्रृंगार में रस की तीव्र अनुभूति तब तक रहती है, जब तक यह ज्ञात रहता है कि दोनों को एक दूसरे के प्रति समान प्रेम है। इधर नायिका नायक के वियोग में व्याकुल है और उधर नायक विदेश में किसी और के साथ प्रेम-क्रीड़ा में अनुरक्त है तो यह स्थिति रसाभास की होगी। किन्तु इस उदाहरण में नायक के इस प्रकार के व्यवहार का कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता, अतः इसे रस का ही उदाहरण स्वीकार करना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि यह कथन ऐसी नायिका का है, जिसका कि प्रेमी उसके प्रेम से अपरिचित है तो भी यह उदाहरण रसाभास का नहीं होगा। ऐसी अवस्था में पाठक युवा नायिका से और भी अधिक सहानुभूति करेगा और इससे उसे विप्रलम्भ श्रृंगार की अनुभूति होगी। इसी प्रकार सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने अनुभयनिष्ठ रति से श्रृंगाराभास का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह भी रसाभास का उदाहरण नहीं है :

गात पै पातन के कपरा गर गुञ्जनि की दुलरी मन मोहै,
लाल कनेर के काननि फूल सदा वन को बिसबो चित्त टोहै।
आजु अचानक ही वन में ब्रजराज कुमार चरावतु गो है।
देखि पुलिन्द-वधू बस-काम सखान सो पूछत ही यह को है।।

—(हरिप्रसाद कृत बालकराम विनोद)

पोद्दार जी का कथन है कि यहां श्री नन्दनन्दन को देखकर पुलिन्द रमणियों के रति (प्रेम) उत्पन्न होने में अनुभयनिष्ठ रति है क्योंकि श्रीकृष्ण की उनमें रति नहीं है। अतः रसाभास है।[1] किन्तु वस्तुतः इस पद को पढ़ कर पाठक के चित्त में न कृष्ण के प्रति कोई विरोधी भाव जागरित होता है और न पुलिन्द रमणियों के प्रति ही। रसाभास के उदाहरणों में पाठक के चित्त में इस प्रकार की कोई न कोई अनुभूति जागरित होनी अनिवार्य है। इस पद से पुलिन्द रमणियों का कृष्ण के प्रति प्रेम सूचित होता है। पाठक इस प्रेम भावना से परिचित होकर न तो इसे अकाम्य मानता है और न यही चाहता है कि कृष्ण इस प्रेम का प्रत्युत्तर दें। वह इस प्रेम से परिचित मात्र हो जाता है। इस प्रकार के स्थल शास्त्रीय दृष्टि से भाव कोटि के अन्तर्गत परिगणित

१. काव्य कल्पद्रुम (रसमंजरी), प्रथम भाग, पृ० २४८।

होते हैं। ये रस भी हो सकते हैं। सहृदय का पुलिन्द रमणियों से पूर्ण साधारणीकरण सम्भव है। गोपियां कृष्ण से प्रेम का उत्तर न प्राप्त करके भी अपने प्रेम से सन्तुष्ट हैं। सारा भक्ति साहित्य इसी प्रकार की अनुभयनिष्ठ रति पर आधारित है।

पं० रामदहिन मिश्र ने अनुभयनिष्ठ रति से शृंगार-रसाभास का केशव का निम्नोक्त दोहा प्रस्तुत किया है :

केसव केसनि असकरी, जस अरिहु न कराहिं।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहिं।

पं० जी ने उक्त दोहे में रसाभास होने के दो कारण बतलाये हैं।—(१) परनायिका में अनुराग, (२) अकेले केशव की ओर से ही प्रेम व्यंजना।[1] उक्त दोनों कारण निःसन्देह रसाभास उत्पन्न करते हैं। किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि इन दोनों कारणों को हटा दिया जाये अर्थात् यह वर्णित कर दिया जाय कि केशव का यह प्रेम स्वकीया के प्रति है और स्वकीया भी उसके प्रेम का पूर्णतः प्रत्युत्तर देती है तो क्या रस की व्यंजना हो सकेगी। वस्तुतः ऐसा करने से यह दोहा रसाभास का अधिक सुन्दर उदाहरण बनता। उक्त दोहे में यदि रसाभास स्वीकार किया जाये तो उसका कारण अनुभयनिष्ठ रति नहीं है प्रत्युत एक वृद्ध व्यक्ति के द्वारा प्रेम की आकांक्षा करना है। सच तो यह है कि उक्त दोहा रसाभास का उदाहरण न होकर हास्य रस का उदाहरण है। केशव वृद्ध हैं किन्तु चन्द्र वदनी एवं मृगलोचनी से प्रेम की आकांक्षा रखते हैं। यहां अनौचित्य हो सकता है। किन्तु कवि का भाव यहां अनौचित्य पर प्रकाश डालना नहीं रहा। केशव की यह स्थिति उस युवक विदूषक के समान है जो कि रूपवती नायिका से प्रेम की आकांक्षा करता है किन्तु नायिका उसकी इस आकांक्षा को समझकर उसे 'भाई' कहकर सम्बोधन कर देती है। हमारा अनुमान है कि केशव को अपने वृद्धत्व का ज्ञान हो गया होगा। हां, यदि केशव को अपने प्रति 'बाबा' शब्द का व्यवहार देखकर सचमुच शोक अनुभव हुआ है तो निःसन्देह यह दोहा रसाभास का उदाहरण है किन्तु उसका कारण अनुभयनिष्ठ रति न होकर अयोग्य आश्रय का होना है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण उदाहरणों के विवेचन के उपरान्त निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि अनुभयनिष्ठता अपने आप में रसाभास का कोई विशेष कारण नहीं है, वह रसाभास को उत्पन्न करने में सहायक मात्र है, इसके साथ जब कोई अन्य कारण भी उपस्थित हो जाता है, तभी वस्तुतः पूर्ण रूप से रसाभास होता है, अन्यथा नहीं। यदि अनुभयनिष्ठता शृंगाराभास का कारण स्वीकार कर लिया जाए तो प्रायः सम्पूर्ण माधुर्य-भक्ति-सम्बन्धी साहित्य तथा रीतिकालीन स्वच्छन्द कवियों का काव्य रसाभास के अन्तर्गत परिणित होगा।

(ङ) प्रतिनायक-निष्ठ रति

भोजराज एवं आचार्य विश्वनाथ ने प्रतिनायक-निष्ठ-रति (अर्थात् ऐसी रति

---

१. काव्यालोक, पृ० २६४।

जो नायक के शत्रु में हो) को रसाभास स्वीकार किया है। किसी शत्रु का नामोल्लेख होते ही पाठक उसके अपकर्ष एवं निन्दा की बात सुनने का अभिलाषी होता है। उसके रूप के प्रति आकर्षण का वर्णन उसके लिए असह्य है। इस प्रकार के वर्णन से उसके चित्त में आश्रय के प्रति एक तीव्र घृणा की भावना जागरित होती है। अत: ऐसे स्थल रसाभास के अन्तर्गत परिगणित होंगे। विश्वनाथ के अनुसार हयग्रीववध में हयग्रीव की जल-क्रीड़ा इसी कारण रसाभास का उदाहरण है।[1] पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने इस प्रसंग का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है :

हो सुन्दर सुनयन रुचिर-रुचि कामिनि चित चोर।
कत चितवति है चतुर तिय प्रियतम अरि की ओर॥

पति के शत्रु की ओर उसके सौन्दर्य के कारण किसी स्त्री को बार-बार अवलोकन करते देखकर किसी बुद्धिमती सखि को यह बात असंगत जान पड़ी, अत: उसने उसको सावधान किया। क्योंकि उसकी चितवन में उसके आकर्षण की झलक उसे स्पष्टत: दिखलाई पड़ी। यह प्रत्यक्ष रसाभास है, क्योंकि सहधर्मिणी की यह प्रवृत्ति अनौचित्य के अन्तर्गत है।[2] साहित्य एवं इतिहास में इस प्रकार की रति के उदाहरणों का प्राय: अभाव है। कृष्ण-रुक्मिणी, पृथ्वीराज-संयोगिता आदि प्रसंग इस प्रकार की रति के नहीं हैं। ये कन्याएं शत्रु पक्ष की हैं, शत्रु पक्ष का कोई भी व्यक्ति यदि नायक पक्ष के व्यक्ति के साथ किसी भी प्रकार से सहानुभूति प्रकट करता है, वह पाठक की रुचि के अनुकूल होती है। प्रसाद जी द्वारा लिखित पुरस्कार कहानी भी प्रतिनायकनिष्ट रति के अन्तर्गत परिगणित नहीं होती। वहां नायिका एक देश-द्रोही से प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करने के उपरान्त भी अपने कर्तव्य पर दृढ़ है, अत: प्रतिनायकनिष्ठ रति एक सम्भावना मात्र है, यदि ऐसा हुआ तो वह रसाभास की ही स्थिति होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं।

इसके विपरीत शत्रु-कन्या का नायक के प्रति रति शृंगार रस का उदाहरण होगी, यथा—संयोगिता-पृथ्वीराज आदि प्रसंग।

(च) अधमपात्र-निष्ठ रति

भरत के अनुसार शृंगार रस उज्ज्वल वेषात्मक, शुचि और दर्शनीय है। उत्तम प्रकृति के युवक और युवती की रति ही शृंगार का वर्ण्य विषय है।[3] अत: अधम पात्र-निष्ठ रति को भोजराज, आचार्य विश्वनाथ, नरेन्द्रप्रभसूरि एवं नरसिंह ने रसाभास माना है। रूपगोस्वामी और रामकान्त शर्मा ने प्रकारान्तर से इसे ग्राम्यत्व कहकर रसाभास के अन्तर्गत ही परिगणित किया है :

---

१. प्रतिनायकनिष्ठत्वे यथा—हयग्रीववधे हयग्रीवस्य जलक्रीडावर्णने। पृ० १२६।
(हयग्रीववध अनुपलब्ध होने के कारण हम उसे नहीं देख सके—देखिए, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ११४, वरदाचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०)।

२. रसकलस, पृ० ६६।

३. उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते। —साहित्यदर्पण, ३।१८३।

कटी कण्डूतिरित्वाद्यं ग्राम्यत्वं कथितं बुधैः ।

—हिन्दी भक्तिरसामृतसिन्धु, ६।१८।

कटि कंडुति इतयादि वहु, कविन ग्राम्यता सार ।।

—प्रेमसुधारत्नाकर, पृ० ११७।

रामचन्द्र गुणचन्द्र ने इस तथ्य को प्रकारान्तर से इस प्रकार प्रकट किया है :

—'निन्द्यपाखण्डि-प्रभृतीनां शृंगारस्यानौचित्येनाभावात् केवलहास्यविषयत्व-मेव ।

—हिन्दीनाट्यदर्पण, पृ० २३१।

अर्थात् निन्दनीय पाखंडी आदि में शृंगार रस का अनौचित्य होने से उनमें केवल हास्य विषयत्व ही होता है । यहां यह स्पष्ट है कि अधम पात्रों से अभिप्राय परस्पर अयोग्य नायक-नायिका से न होकर समाज में निम्न माने जाने वाले (ग्रामीण, असभ्य) लोगों की परस्पर रति से है । भोजराज ने इसका कोई उदाहरण नहीं दिया । विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए :

जघनस्थलनद्धपत्रवल्ली गिरिमल्लीकुसुमानि कापि भिल्ली ।
अवचित्य गिरौ पुरो निषण्णा स्वकचानुत्कचयाञ्चकार भर्त्रा ।।

जघन स्थल पर लताओं से पत्तों को बांधें हुए कोई भील की स्त्री कुटज के फूल चुन-कर, पहाड़ में पति के आगे बैठी हुई उससे अपने केशों को अलंकृत करा रही है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी हीन जाति के मनुष्यों के परस्पर भाव-प्रदर्शन को रसाभास माना है :

विक्रीणाति माघ मासे पामरो बदरं बली-वर्दैन
निर्धूम-मुर्मुरौ श्यामायाः स्तनौ पश्यन् ।

—अलंकार महोदधिः, ९७।

श्यामा स्त्री के निर्धूम मुर्मुर (कामोद्दीपक) स्तनों को देखकर, नीच मनुष्य माघ के महीने में बैल से (बैल पर) बेरों को बेचता है । यह तो समझ में आता है कि यदि एक सर्वगुण सम्पन्न रूपवान् नायक किसी कुरूपा नारी से प्रेम करता है तो सहृदय इसे परस्पर अयोग्य नायक-नायिका समझ कर उनकी रति से पूर्णतः रस की उपलब्धि न कर सकेगा । किन्तु विश्वनाथ एवं नरेन्द्रप्रभसूरी द्वारा प्रस्तुत उदाहरण अवश्य आलोच्य हैं । प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या समाज के निम्न जाति के लोगों को परस्पर प्रेम करने का अधिकार नहीं है ? क्या वे घृणा के ही पात्र हैं ? और बीभत्स अथवा भयानक रस के निष्पन्न करने में ही सहायक सिद्ध होते हैं ? इन उदाहरणों के रसाभास होने के निम्नोक्त कारण प्रस्तुत किए जा सकते हैं :

(१) इस प्रकार के उदाहरणों में रसाभास इसलिए है कि सहृदय काव्य में सर्वोत्कृष्ट तत्त्वों का ही दर्शन करने का इच्छुक रहता है । काव्य में उसे वे ही तत्त्व अभीष्ट होते हैं जो कि उसकी अपनी अन्तरात्मा की सुन्दरतम कल्पना है ।

(२) काव्य के आस्वादयिता प्रायः सुशिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति ही होते हैं । उनका जीवन स्तर बहुत ऊंचा होता है । वे अपने स्तर के अनुसार ही अपने सम्मुख वातावरण चाहते हैं । एक ऐरिस्टोकेट व्यक्ति को घिनौनी, दुर्गन्ध पूर्ण गली

के वर्णन मात्र से घृणा होने लगेगी। इस स्थान पर प्रेम किया जाता देखकर तो उसे और भी अरुचिकर लगेगा।

(३) ये निम्न जाति के लोग प्रेम करने की उन सूक्ष्मताओं से सर्वथा अपरिचित होते हैं जो कि एक सभ्य नायक-नायिका में विद्यमान होती हैं। प्रेम का प्रसंग एक विचित्र प्रसंग है। वह जब तक गोपनीय रहता है तब तक उसमें आकर्षण भी रहता है और वह आनन्द भी प्रदान करता है, पर जैसे ही उसका आवरण हट जाता है उससे घृणा उत्पन्न होने लगती है। एक गंवार व्यक्ति किसी रमणी के पीन पयोधरों पर तो मुग्ध हो सकता है पर उसे विलासिनियों के विलासोद्दीपक कटाक्षों एवं स्निग्ध मुस्कान के मूल्य का क्या पता ? अभिप्राय यह कि प्रेम करना एक कला है जिससे निम्न वर्ग अधिकांशतः अनभिज्ञ ही होता है। इसी लिए उनके अनुभाव परिष्कृत रुचि के लोगों को निम्नस्तर के प्रतीत होते हैं। इस सम्बन्ध में निम्नोक्त दो तथ्य ध्यान रखने चाहिए :

(क) यदि सहृदय का स्तर निम्न जाति के लोगों के समान ही हुआ तो उसे उस प्रसंग में पूर्ण रस की प्राप्ति होगी। अभिनवगुप्त ने 'कस्यचिदुचित विषय नियन्त्रिता, कस्यचिदन्यथा' कहकर इसी तथ्य का समर्थन किया है।[1]

(ख) और यदि कवि का उद्देश्य यह हुआ कि दिन भर खून-पसीना एक करने के बाद श्रान्त श्रमिक की थकान उसकी रमणी की मुस्कान दूर कर देती है तो भी उसे रस की निष्पत्ति हो जाएगी।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने अधमपात्रगतरति की जो परिभाषा और उदाहरण दिया है वह उपयुक्त नहीं है, उनका कथन है कि जो पात्र रति योग्य नहीं है, उससे प्रतियुक्त अधमपात्रगतरति है और यह रसाभास है, यथा :

काहे लालायित बनत कोऊ द्विजकुल जात।
मानि-मानि यवनीन को नवनी कोमलगात॥

उनका कथन है कि एक विप्रवंश जाति का किसी युवती को नवनीत कोमलांगी कहकर प्रशंसा करना और उसके प्रेमपाश में बद्ध होना कितना अनुचित है, इसको प्रत्येक आर्य धर्मावलम्बी समझ सकता है। अधमपात्रगतरति का यह रोमाञ्चकर उदाहरण है।[2] किन्तु वस्तुतः अधमपात्रगतरति से अभिप्राय दरजी-चमार आदि निम्न मानी जाने वाली जातियों, म्लेच्छों, भीलों आदि में रति का प्रदर्शन है। उक्त उदाहरण यदि रसाभास का उदाहरण है तो इसका कारण यह है कि द्विज के प्रति हिन्दू समाज में पूज्य बुद्धि विद्यमान है। वह प्रायः काव्य में एक धर्मोपदेष्टा के रूप में चित्रित किया गया है। उसका किसी युवती के प्रेमपाश में बद्ध होना ऐसा ही है जैसे कि हमारा पूज्य गुरु, पिता अथवा भाई किसी परकीया के प्रेम में बद्ध हो गया हो। अभिप्राय यह है कि उक्त उदाहरण रसाभास का उदाहरण इसलिए नहीं कि उसमें अधमपात्र निष्ठ

---

१. देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ५७।
२. रसकलस, पृ० ६६।

रति है। प्रत्युत इसके विपरीत इससे यह सिद्ध होता है कि अत्यधिक (पूज्य) व्यक्ति में रति के प्रदर्शन से भी रसाभास की सम्भावना रहती है।

(छ) तिर्यक्-गत-रति

कुछ संस्कृत काव्य-शास्त्रियों ने तिर्यक्-गत-भाव को रसाभास के अन्तर्गत स्वीकार किया है। हिन्दी रीतिकाल के आचार्यों ने उसका उल्लेख नहीं किया। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि उन्हें ऐसा कहना अभीष्ट नहीं था। वास्तविकता यह है कि इन आचार्यों ने रसाभास का सविस्तार विवेचन न कर उसका सप्रसंग उल्लेख मात्र किया है। आधुनिक काल में संस्कृत एवं हिन्दी रीतिशास्त्र का अपने ग्रन्थों में संग्रह करते हुए कुछ विद्वानों ने तिर्यक् गत प्रत्येक भाव का उल्लेख न कर केवल तिर्यक् गत रति की ही चर्चा की है। इसका कारण यह है कि संस्कृत के आचार्यों ने तिर्यक्-गत-भाव को रसाभास के अन्दर स्वीकार करके भी उदाहरण केवल तिर्यक्-गत-रति के प्रस्तुत किए हैं। हम पहले यह निर्दिष्ट कर चुके हैं कि तिर्यक्-गत-भाव रसाभास होना अनिवार्य नहीं है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने पशु-पक्षियों में रति के आरोप का जो उदाहरण दिया है, हमारी दृष्टि में वह रसाभास का उदाहरण नहीं है :

सब राति वियोग के जोग जगे न वियोग-सराप सराहत हैं,
पुनि प्रात संयोग भए पै नए तऊ प्रेम उछाह उछावत हैं।
चकवाइ रहे चकई चकवा सु छकै चकि भै चकि चाहत हैं,
बिछुरे न मरे इहि लाज मनो सुर खरे खरे नेह निबाहत हैं ॥[1]

—कुलपति मिश्र का रसरहस्य

यहां चकवा-चकवी में परस्पर विप्रलम्भ प्रदर्शित किया गया है। अतः पोद्दार जी के अनुसार यह रसाभास है। हरिऔध जी के अनुसार इसमें अधिकांश विकल्पना होती है, वास्तविकता कम। मानव समाज की रति के समान उसमें पूर्णता भी नहीं होती।[2] किन्तु कविगण सदा से चकवा-चकवी का इस प्रकार का वर्णन करते रहे हैं। चकवा और चकवी के परस्पर वियोग की कल्पना की कहानी पढ़ते-पढ़ते सहृदय इससे इतना अभिभूत हो चुका है कि उसका चित्त इनके वियोग के प्रसंग को पढ़ कर द्रवीभूत होने लगता है। कवि गण चकवा-चकवी के वियोग को उपमान के रूप में प्रस्तुत करते आए हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वे इसे मानव प्रेमी-प्रेमिका के वियोग की पीड़ा से भी अधिक पीड़ित करने वाला प्रसंग स्वीकार करते हैं। और उनकी यह कल्पना (जो कि सत्य भी हो सकती है और मिथ्या भी) सहृदय के संस्कारों में इतनी बद्धमूल हो चुकी है कि आज यदि कोई पक्षी विशेषज्ञ यह भी सिद्ध कर दे कि चकवा-चकवी के वियोग का अनुभव नहीं करता तो भी उस पर विश्वास नहीं होगा। कवि-कल्पना से यह प्रसंग इतना व्यापक हो गया है कि यदि कवि चकवा-चकवी के केवल नाम का ही

१. काव्यकल्पद्रुम, पृ० २४८।
२. रसकलस, पृ० ६६।

उल्लेख कर दे और उनके वियोग का वर्णन न भी करे तो भी सहृदय को वियोग का अनुभव होने लगता है, इनके साथ साधारणीकरण करने में सहृदय को थोड़ी भी कठिनाई नहीं होती।

इसके अतिरिक्त यदि कवि तिर्यक्-योनि-गत-रति का वर्णन उद्दीपन रूप में करता है तो भी रसाभास नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने तिर्यक्-योनिगत-रति का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह द्रष्टव्य है :

जाति चमेली कुंज में निरखति ललित लतान।
अलिनी खोजति फिरति है, अलि को करि कलगान ॥[1]

जिस प्रकार एक नायिका अपने नायक से मिलने के लिए व्यग्रता का अनुभव करती है और उसे सर्वत्र ढूंढती फिरती है, उसी प्रकार अलिनी भी अपने प्रेमी अलि से मिलने के लिए आतुर है और इसे चमेली के कुंजों में एवं प्रत्येक लता-लतिका में देखती फिर रही है। इस प्रकार के प्रसंग प्रायः कवि उद्दीपन रूप में प्रस्तुत करते हैं। यदि कवि ने उक्त प्रसंग का उल्लेख कर किसी मानुषी नायिका को अपने प्रेमी नायक की खोज में लगा हुआ दिखला दिया तो यह उद्दीपन का कार्य करेगा। और तब इसे हम शास्त्रीय दृष्टि से उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत परिगणित करेंगे। कालिदास के कुमारसम्भव में भगवान् शंकर की तपस्या भंग करने के लिए कामदेव ने जो अपना माया-जाल फैलाया है, उस समय का पशुपक्षियों तथा पेड़-पौधों का प्रणय परिरम्भण आदि तथा इसी प्रसंग का तुलसीदास कृत रामायण में भी ऐसा वर्णन पं० रामदहिन मिश्र ने रसाभास स्वीकार किया है।[2] किन्तु वस्तुतः ये सभी प्रसंग उद्दीपन रूप में वर्णित होने के कारण उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत परिगणित होने चाहिएं। किन्तु हां, यदि कवि उक्त प्रसंग का वर्णन उद्दीपन रूप में नहीं करता, तो सहृदय के चित्त में इससे रसानुभूति होनी सम्भव नहीं क्योंकि—इसमें मानव समाज की रति के समान पूर्णता नहीं है। सामान्य सहृदय के लिए यह अनुभव करना अत्यन्त कठिन है कि अलिनि को अलि से वही प्रयोजन हो सकता है जो कि एक नायिका को नायक से। कवि यदि बहुत ही कुशल हुआ तो सहृदय भावुक के चित्त में भावानुभूति को जागरित करने में शायद सफल हो जाए। किन्तु ऐसे प्रसंग सर्वथा स्वतन्त्र रूप में रसानुभूति कराने में सदा ही असमर्थ होंगे।

पं० रामदहिन मिश्र ने पशु-पक्षी गत रति के आरोप से शृंगार रसाभास स्वीकार करते हुए कविवर पन्त जी की रचना की निम्नलिखित पंक्तियां उद्धृत की हैं :

मृगियों ने चंचल आलोकन औ चकोर ने निशाभिसार।
सारस ने मृदु-ग्रीवालिंगन हंसों ने गति वारि-विहार ॥

उनका कथन है कि यहां पशु-पक्षियों में मनुष्यवत् संभोग शृंगार का वर्णन किया है, उससे शृंगार रसाभास है। किन्तु वस्तुतः इस कविता में कवि का प्रयोजन काम का

---

1. रसकलस, पृ० ६६
2. काव्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० २६५।

सृष्टि व्यापी प्रभाव वर्णित करना रहा है। निर्दिष्ट पद उक्त प्रभावोत्पन्न करने की एक कड़ी है। यहां कवि ने काम के प्रभाव को प्रभावपूर्ण सिद्ध करने के लिए तिर्यक्-गत रति की सहायता ली है। और इससे वे वाञ्छनीय प्रभाव उत्पन्न करने में सफल हैं। शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो इस वर्णन ने उक्त प्रभाव को उत्पन्न करने में उद्दीपन का कार्य किया है। अतः इसे रसाभास स्वीकार नहीं करना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि तिर्यक्गत-रति का सफलता पूर्वक चित्रण कोई कुशल कवि ही कर सकता है। यों प्रायः कवियों ने यह वर्णन उद्दीपन रूप में किया है और इस प्रकार यह कवि-परम्परा में स्वीकार्य होने से रसाभास का जनक नहीं है।

(ज) निरिन्द्रियगत-रति

तिर्यग्-गत-रति के समान निरिन्द्रियों में रति विषयक आरोप से भी रसाभास स्वीकार किया गया है। किन्तु यहां भी यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि निरिन्द्रियों में रति का आरोप उद्दीपन रूप में किया है तो वह रसाभास का जनक नहीं होगा। उसे शास्त्रीय दृष्टि से उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही परिगणित करना चाहिए। उदाहरण के लिए गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, भानुकवि, हरिशंकर शर्मा एवं पं० रामदहिन मिश्र ने तुलसीदास की निम्नोक्त चौपाई को रसाभास स्वीकार किया है[1] जो कि वस्तुतः रसाभास स्वीकार नहीं की जानी चाहिए।

जे सजीव जग चर अचर, नीर पुरुष असनाम।
ते निज मर्य्याद तजि, भये सकल वश काम ॥
सबके हृदय मदन अभिलाखा, लता विलोकि नवहिं तरु शाखा।
नदी उमड़ि अंबुध कह धाई ; संगम करहिं तलाब तलाई ॥
जहं असदशा जड़न की बरणी, को कहि सकें सचेतन करणी।
पशुपक्षी नभ जल थल चारी, भए कामवश समय बिसारी ॥

यहां तुलसीदास का प्रयोजन सृष्टि मात्र में काम का व्यापक प्रभाव उत्पन्न करना रहा है। लता, नदी आदि में प्रदर्शित काम उस प्रभाव में एक कड़ी का काम करता है। यदि तुलसीदास काम के व्यापक प्रभाव को केवल इन निरिन्द्रिय जड़ पदार्थों में ही प्रदर्शित कर अपना कथन समाप्त कर देते तो इससे रसाभास की सम्भावना हो सकती थी किन्तु उक्त पद के उपरान्त निम्नोक्त पंक्तियों को पढ़कर उन्हें उद्दीपन मान लेना चाहिए :

मदन अंध व्याकुल सब लोका, निशिदिन नहिं अवलोकहिं कोका।
देव दनुज नर किन्नर व्याला, प्रेत पिशाच भूत बैताला ॥

---

१. (क) रसवाटिका, पृ० १२८।
(ख) रसरत्नाकर, पृ० १०४।
(ग) रस रत्नाकर, पृ० ५४।
(घ) काव्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० २६५।

इनकी दशा न कहहुं बखानी, सदा काम के चेरे जानी।
सिद्ध विरक्त महामुनि योगी, कामवश भये वियोगी ॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि उद्दीपन रूप से वर्णित निरिन्द्रियगतरति रसाभास नहीं है। उक्त पद में तो मुनि-योगी आदि को भी काम के वशीभूत बतलाकर काम के व्यापक प्रभाव को सप्रमाण प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार के वर्णनों में पाठक मुनि-योगी आदि में प्रदर्शित रति से उत्पन्न अनौचित्य की ओर भी ध्यान नहीं दे पाता। वह कवि के भाव से अभिभूत हो जाता है। कवि का लक्ष्य मुनि-योगी आदि में रति प्रदर्शित कर काम का महत्त्व प्रतिपादित करना रहा है। पाठक मुनि, योगी आदि में किए गए अनौचित्य से, अप्रभावित रह कर काम की प्रबल शक्ति से अभिभूत हो जाता है। अत: ऐसे स्थल रसाभास के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किए जा सकते। इसी प्रकार सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने मेघदूत का निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है। जो कि वस्तुतः रसाभास नहीं है :

देखी जाती सलिल-कृश हो एक वेणी-स्वरूप,
जो वृक्षों के गिर दल पके हो रही पांडु रूप।
तेरे को है उचित, उसका मेटना कार्श्य, क्योंकि,
ऐसे तेरा प्रकट करती मित्र ! सौभाग्य जो कि।

—हिन्दी मेघदूत विमर्श।

उनके अनुसार यहां नदी में विप्रलम्भ श्रृंगार का आरोप किये जाने से रसाभास है।[1] किन्तु सम्पूर्ण प्रसंग को दृष्टि में रखने से उक्त पद रसाभास प्रतीत नहीं होता। पं० रामदहिन मिश्र ने निरिन्द्रियों में रति विषयक आरोप से श्रृंगार रसाभास स्वीकार करते हुए 'छाया' शीर्षक कविता की ये पंक्तियां उद्धृत की हैं :

कौन कौन तुम परिहृतवसना म्लान मन भू-पतिता सी।
धूलि-धूसरित मुक्त कुन्तला किसके चरणों की दासी।
विजन निशा में सहज गले तुम लगती हो फिर तरुवर के।
आनन्दित होती हो सखि ! तुम उसकी पद-सेवा करके ॥

—सुमित्रानन्दन पन्त।

यहां छाया को 'परिहृत वसना' (अर्थात् नग्ना कहना) तथा निर्जन एकान्त स्थान में तरु के गले लगना आदि संयोग श्रृंगार के जो व्यापार दिखलाए गए हैं, वे अनौचित्य के जनक हैं। इससे रसाभास है।[2] क्योंकि छाया आदि आलम्बनों में रति आदि स्थायी भावों को रखने की योग्यता नहीं है। शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो अयोग्य विभाव होने के कारण ये रस की सृष्टि करने में असमर्थ हैं। इसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्त ने निरिन्द्रिय वनस्थली पर रति विषयक आरोप किया है जो कि श्रृंगार रसाभास का जनक है :

---

१. काव्य कल्पद्रुम (रसमंजरी), पृ० २४८।
२. काव्य दर्पण, पृ० २२२।

लेकर सुख की सांस स्वस्थ थी आगत पतिका वनिका।
चौमासे भर तक चिन्ता से मुक्त हुई वह घनिका॥

इस प्रकार के स्थलों में कवि कल्पना का इतना अतिरेक करता है कि सहृदय उसके साथ तादात्म्य करने में असमर्थ रहता है। अतः ऐसे स्थल उद्दीपन रूप में ही काम्य हैं।

किन्तु इस प्रसंग में यह बात ध्यान में रखने की है कि छायावाद युग में मानवीकरण अलंकार का अत्यधिक प्रयोग हुआ है। छायावादी काव्य का अत्यधिक पाठ करने वाला पाठक अब धीरे-धीरे इस प्रकार के प्रसंगों से तादात्म्य करने लगा है। प्रकृति एवं अमूर्त भावों की मानव के रूप में कल्पना धीरे-धीरे उसके हृदय की अनुभूति का विषय हो रही है। वह प्रकृति को हंसता-खेलता एवं रोता देखता है और उसे ही सच मान लेता है। अत: निरिन्द्रिय पदार्थों में रति का आरोप साध्य रूप में करने पर भी वह अनेक पाठकों के चित्त में भाव और यदि कवि समर्थ हुआ तो रस की भी अनुभूति करवा देता है।

निष्कर्षतः निरिन्द्रियगत रति में मनुष्य रति की भांति पूर्णता न होने के कारण यह रसाभास का विषय स्वीकार की गई है किन्तु यदि कवि ने (क) यह वर्णन उद्दीपन रूप में किया है अथवा (ख) सहृदय प्रकृति के प्रति अत्यधिक संवेदनशील है तो वह उद्दीपन विभाव एवं शृंगार रस के अन्तर्गत परिगणित हो सकती है।

(झ) बालक एवं वृद्ध में प्रदर्शित रति

रति युवा स्त्री-पुरुषों के अनुरूप भाव है।[1] अत: जगन्नाथ ने बालक एवं वृद्ध का स्त्री-सेवन अवस्था के विरुद्ध अनौचित्य स्वीकार किया है तथा रूपगोस्वामी एवं श्री रामकान्त शर्मा ने वृद्धागत रति को रसाभास माना है।[2] उदाहरण देखिए :

—कज्जलेन कृतकेशकालिमा
बिल्वयुग्मरचितोन्नतस्तनी।
पश्य गौरि ! किरती दृगञ्चलं-
स्मेरयत्यघहरं जरत्यसौ॥

अर्थात् काजल के द्वारा बालों को काला कर लेने वाली, दो बिल्वों के द्वारा उच्च कुच बना लेने वाली एवं कटाक्षपात करने वाली यह वृद्धा अघहर (कृष्ण) को स्मित युक्त बना रही है।

—उज्ज्वल ते रंगि केश को, श्री फल कुचन बनाय,
रघुवर लखि बुढ़िया भले, तिरछैं लखि मुसकाय।१४।

---

१. यूनोः परस्परं परिपूर्णः प्रमोदः सम्यक्-सम्पूर्णरतिभावो वा शृंगारः।
—रसतरंगिणी।

२. (क) हिन्दी भक्तिरसामृत सिन्धु, ६।१२
(ख) प्रेमसुधारत्नाकर, पृ० १७०।

इस प्रकार के स्थलों को पढ़ कर पाठक वैरस्य का अनुभव करता है, अतः यह प्रत्यक्ष रसाभास है। इस प्रकार यदि बालक को रति का आश्रय अथवा आलम्बन चित्रित कर दिया जाए तो भी रसाभास होगा। रूप गोस्वामी ने 'बाल शब्दाद्युपन्यासो' (ह० भ० र० सि० ६।१७) से इसी तथ्य को प्रकट किया है। श्री रामकान्त शर्मा का स्पष्ट कथन है :

> रति रानी के चिन्ह जो, लखी बालकन बीच।
> तौ वह रत्याभास है, समुझें संत न नीच॥
> —प्रेमसुधा रत्नाकर, पृ० ११।

रूपगोस्वामी द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए :

> किं नः फणिकिशोरीणां त्वं पुष्करसदां सदा।
> मुरलीध्वनिना नीविं गोपबाल! विलुम्पसि॥

अर्थात् हे गोपबाल ! तुम क्यों मुरली के शब्द से सदा जल में रहने वाली हम नागकिशोरियों की नीवी को शिथिल कर रहे हो।

भक्त कवियों ने अनेक स्थलों पर बालक कृष्ण के साथ गोपकिशोरियों की रति-क्रीड़ाओं का वर्णन किया है, वे स्थल पाठक को या तो कुरुचिपूर्ण प्रतीत होते हैं, अथवा उस रति वर्णन से रस की निष्पत्ति नहीं होती। उदाहरण देखिए :

> गए स्याम तिहिं ग्वालिन कें घर
> देखी जाइ मथति दधि ठाढ़ी, आप लगे खेलन द्वारे पर।
> फिरि चितई, हरि दृष्टि गए परि, बोलि लए हरएं सूनें घर।
> लिए लगाइ कठिन कुच कें बिच, गाढ़ें चांपि रही अपनें कर।
> उमंगि अंग अंगिया उर दरकी, सुधि बिसरी तब की तिहिं औसर।
> तब भए स्याम बरष द्वादस के, रिझै लई जुवती वा छवि पर।
> मन हरि लियौ तनक से ह्वै गए देखि रही सिसु-रूप मनोहर।
> माखन ले मुख धरति स्याम कें सरज प्रभु रति पति नागर बर।
> —सूरसागर (सभा) दशम स्कन्ध, ३०१।

ऐसे स्थल रसाभास के सुन्दर उदाहरण हैं।

(ञ) कुछ वर्जित अनुभाव एवं स्तर भेद से किये गये शृंगार के भेद

शृंगार के सम्भोग पक्ष के अन्तर्गत आने वाली कुछ काम-दशाएं जो भौतिक रूप में स्वीकरणीय हैं रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं की जातीं। साथ ही उनका यथार्थ वर्णन श्रव्य काव्य में भी उचित नहीं माना गया। दन्तच्छेद, चुम्बन, चूषण, शयनादि उपचार आदि के सहारे प्रदर्शित शृंगार जिन्हें कि शिंगभूपाल ने क्रियात्मक शृंगार की संज्ञा प्रदान की है[1] काव्य के उपयोगी तत्त्व नहीं हैं। संस्कृत काव्याचार्यों ने उन्हें नाट्यवर्जनाओं के अन्तर्गत रखा है। अभिप्राय यह है कि नितान्त नग्न रूप का वासना-

---

१. रसार्णव सुधारकर, श्लोक २१७ के उदाहरण स्वरूप।

त्मक चित्रण सहृदयों के चित्त में रसाभास उत्पन्न करता है। इस प्रकार के नग्न वर्णन से वैरस्य उत्पन्न होने के दो कारण हैं। (१) नैतिकता एवं (२) मनोविज्ञान। जहां इस प्रकार के नग्न चित्रण सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से अवाञ्छनीय हैं, वहां प्रमाता का अन्तःकरण भी उनका प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष विरोध कर उठता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि रति अथवा प्रेम में मानसिक आकर्षण ही अधिक है। उसकी मांसल उपलब्धि तो उनके प्रति वितृष्णा उत्पन्न कर देती है। अपरिष्कृत रुचि एवं कुसंस्कार युक्त कोई कुंठित व्यक्ति भले ही इस प्रकार के चित्रण से अपने दूषित मनोवेगों को शान्त कर ले अथवा अपनी वासना की भूख को मिटाने के लिए किसी समुचित शिकार के न मिल सकने के कारण उस क्षण कोई सहृदय उससे उत्तेजित हो जाए, किन्तु सामान्यतः ऐसे चित्रों को आंखों से ओझल कर देने की इच्छा होती है। अतः इन्हें शृंगाराभास के अन्तर्गत ही परिगणित करना चाहिए। रूप गोस्वामी का इस सम्बन्ध में स्पष्ट अभिमत है :

शुचित्वौज्ज्वल्यवैदग्ध्यात्सुवेषत्त्वाच्च कथ्यते।
शृंगारस्य विभावत्वमन्यत्राभासता ततः॥

हि० भ० र० सि० ६।१४

अर्थात् शुचिता, उज्ज्वलता, चतुरता एवं सुवेशता से शृंगार का विभावत्व कहा जाता है। इससे अन्यत्र स्थलों पर शृंगाराभासता कही जाती है। यहां यह लिखने की आवश्यकता नहीं है कि यह वर्णन नैतिक व्यक्ति के नैतिक क्षणों में ही रसाभास का जनक होगा। ऐसे व्यक्ति के चित्त में उपनायक-निष्ठ एवं बहुनायक-निष्ठ रति के अनेक उदाहरण जो कि हम लौकिक शृंगार में प्रदर्शित कर आये हैं—रसाभास के ही जनक होंगे।

इसी प्रकार स्तर भेद से शृंगार के जिन भेदों का चित्रण शिंगभूपाल एवं शारदातनय ने किया है[1] वह भी द्रष्टव्य है। शील-संकोच के कारण लज्जादि उपचारों से अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति संक्षिप्त कहाती है, किसी त्रुटि के कारण संकोच के साथ अपने भावों का प्रकाशन संकीर्ण कहाता है। भय, त्रुटि अथवा संकोच रहित भाव प्रकाशन 'सम्पन्नतर' कहाता है, तथा सम्भोग की बार-बार इच्छा का प्रकाशन समृद्धिमान कहलाता है। ये सभी अवस्थाएं नायक-नायिका के परस्पर मिलन में नैतिकता का प्रश्न उपस्थित कर देती हैं जिससे प्रथम दो अवस्थाओं से पाठक को उनकी निष्कपटता पर सन्देह होता है और अन्तिम दो अवस्थाएं उनकी हलकी मनोवृत्ति की द्योतक हैं। रूपगोस्वामी तथा श्री रामकान्त शर्मा ने समृद्धिमान् को प्रकारान्तर से धृष्टता कह कर इसे स्पष्टतः रसाभास माना है :

—प्रकटप्रार्थनाऽऽदिः स्यात्सम्भोगादेस्तु धृष्टता।

—हिन्दी भक्तरसामृतसिंधु, ६।१८

---

१. (क) रसार्णवसुधाकर, २२१-२२५।
(ख) भाव प्रकाशन, पृ ८७।

—प्रगट प्रार्थना सुरत की करहिं नायिका आप।
संभोगादिक में सोई, होइ धृष्टता दाप ॥
—प्रेमसुधारत्नाकर, पृ० १७०।

रूपगोस्वामी द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए :

कान्त: कैलासकुञ्जोऽयं रम्याऽहं नवयौवना।
त्वं विदग्धोसि गोविन्द किं वा वाच्यमत: परम् ॥
—हिन्दी भक्तिरसामृतसिन्धु

यह रमणीय कैलास कुञ्ज है, मैं रम्य नवयौवनवती हूं, और हे गोविन्द ! तुम चतुर हो। इससे अधिक क्या कहना चाहिए।

हमारी दृष्टि में सम्पन्नतर एवं समृद्धिमान् (धृष्टता) इन दो भेदों को तथा ऊपर निर्दिष्ट वर्जनाओं को लौकिक शृंगार उत्पन्न करने में साधक मान लें तो अधिक उपयुक्त रहेगा। इसका प्रयोग इसी निमित्त ही होता है।

शृंगारेतर रसाभास

१. हास्य रसाभास

हास्य रस के रसाभास होने में मुख्यत: निम्नोक्त कारण सम्भव हैं : (क) आलम्बन विभाव में क्षीणता, (ख) उद्दीपन विभाव में क्षीणता, और (ग) विरोधी भाव का आगमन। अब क्रमश: इन पर विचार करते हैं।

(क) आलम्बन विभाव में क्षीणता :

हास्य रस के आलम्बन विकृत वेश एवं विकृत अलंकार कहे गये हैं। साथ ही धृष्टता लौल्य, प्रलाप, व्यंग्य, दर्शन तथा दोष उदाहरण आदि भी उसके आलम्बन माने गये हैं।[1] इसके अतिरिक्त भरत ने "स्त्रीनीचप्रकृतावेष भूयिष्ठं दृश्यते रसः" (नाट्यशास्त्र, ६।५१) कह कर हास्य का क्षेत्र सीमित कर दिया है। इससे स्पष्ट है कि हास्य रस का आलम्बन कोई पूज्य अथवा मान्य व्यक्ति नहीं हो सकता। अत: विश्वनाथ ने गुरु आदि के प्रति प्रदर्शित हास्य को हास्याभास स्वीकार किया है। रूपगोस्वामी ने जरासन्ध द्वारा कृष्ण के प्रति प्रदर्शित हास्य को हास्य अपरस (रसाभास) कहा है। उदाहरण देखिए :

पलायमानमुद्वीक्ष्य चपलायतलोचनम्।
कृष्णमाराज्जरासन्धः सौल्लुण्ठमहसीन्मुहुः ॥ —हिन्दी भक्तिरसामृतसिन्धु,

अर्थात् चंचल एवं विशाल नेत्रों वाले कृष्ण को (युद्ध में से) भागता हुआ देखकर जरासन्ध बारम्बार ज़ोर-ज़ोर से हंसा।

हिन्दी के आचार्यों में रस-विवेक के कर्ता का भी यही कथन है।

"गुरुजन में रस हास्य को, होवै हास्याभास।" —पृष्ठ ८३

---

१. स च विकृत परवेषालंकार-धार्ष्ट्य-लौल्य-कुहक-असत्प्रलाप-व्यंगदर्शन-दोषोदाहरणादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।—हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५७१।

गुरुजन से अभिप्राय गुरु, माता, पिता आदि अपने से श्रेष्ठ अथवा पूज्य व्यक्तियों से है। इनमें हास्य प्रदर्शित करने से हास्याभास होने का कारण यह है कि ये हास्य के उपयुक्त आलम्बन नहीं हैं। शान्तिलाल जैन बालेन्दु का कथन है कि रावण द्वारा रामचन्द्र जी का उपहास करने में हास्यरसाभास होगा।[1] रावण पाठक की घृणा का और राम श्रद्धा का आलम्बन है। रावण का ऐसा कृत्य पाठक के चित्त में उसके प्रति क्षोभ उत्पन्न करता है। रसरत्नाकर तथा रसवाटिका में भानु-कवि तथा गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने रसाभास का निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है :

सुनत बचन बिहंसे ऋषय, गिरि संभव तव देह।
नारद कर उपदेश सुनि, करहु बसे को गेह॥

राजर्षि नारद का हास्य होने से यह हास्याभास का उदाहरण है। किन्तु नारद का वर्णन अनेक स्थानों पर उनके अगाम्भीर्य को प्रकट करता है। अत: वे कुछ स्थानों पर हास्य के आलम्बन भी बने हैं। इस दृष्टि से पं० रामदहिन मिश्र द्वारा प्रस्तुत हास्य रसाभास का उदाहरण देखिए :

करहिं फूट नारदहिं सुनाई, नीक दीन्हं हरि सुन्दरताई।
रीझिहि राजकुंअरि छवि देखी, इनहिं बरिहि हरि जानि बिसेखी॥

नारद मोह के प्रसंग में शंकर के दो गण नारद जी के रूप को देख कर उनकी हंसी उड़ाने लगे। मिश्र जी के अनुसार यहां शिव के गणों के हास्य का अनुचित रूप में परिपाक हुआ है।[2] किन्तु वस्तुत: यह हास्याभास का उदाहरण न होकर हास्य रस का उदाहरण है। क्योंकि जिन पाठकों को उक्त सम्पूर्ण प्रसंग ज्ञात है, और यह पता है कि नारद अपनी मर्यादा का अतिक्रमण कर किसी सुन्दरी कन्या के चक्कर में पड़े हैं और इसी कारण विष्णु ने उन्हें ऐसा बनाया है तो नारद उनके लिये हास्य का ही आलम्बन बनता है। प्रसंग के पूर्ण ज्ञात होने पर हास्याभास का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अभिप्राय यह कि यदि कोई व्यक्ति हमारी श्रद्धा का भाजन नहीं, भले ही वह गुरु अथवा मुनि भी क्यों न हो हास्य, का आलम्बन बना सकता है। जी० पी० श्रीवास्तव की कहानी 'पंडित जी' इसी प्रकार की कहानी है।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने हास्य रसाभास का निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है :

सेत केस मिस अवनि में पसरी कीरति सेस।
कौन दांत के गिर गये दांत सुमुखि पै देत॥

इस पद्य में एक वयोवृद्ध की हंसी उड़ाई गई है। अनेक बार वृद्धावस्था में हवस बढ़ जाती है, किसी-किसी का मन वृद्धावस्था में भी युवा बना रहता है, और वह दांत गिर जाने पर भी सुमुखियों पर दांत देता रहता है। दांत गिर जाने पर दांत देना एक अद्भुत बात है, इसलिये पद्य में कहा गया है कि वृद्ध ने अद्भुत कर्मा बनकर

---

१. हिन्दी काव्य शास्त्र, पृ० ७८।
२. काव्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० २६६।

श्वेत दाढ़ी के बहाने पृथ्वी पर अपनी श्वेत कीर्ति फैलाई है। यह घोर व्यंग्य है, जो वृद्ध के चरित्र पर कुत्सित कटाक्ष करता है। किन्तु वस्तुतः यह हास्याभास का उदाहरण न होकर शृंगाराभास का उदाहरण है। अथवा यहां शृंगाराभास को हास्यरस की उत्पत्ति का कारण मानना चाहिए।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार हास्य के आलम्बन का उपहास, हास्याभास का जनक होता है। अतः उनका मत है कि उपहास रूप अनौचित्य का त्याग सभी पुरुषार्थों में निबाहना चाहिए। उन द्वारा प्रस्तुत हास्याभास का उदाहरण देखिए :

लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एष,
सम्मन्यते यदि किमङ्ग वदाम नाम।
यस्त्वत्र हासमुखरत्वममुष्य तेन,
पार्श्वोपपीडमिह को न विजाहसीति ॥[1]

कोरी गपें हांकने वाले व्यक्ति का उपहास लोगों को हंसा देता है। किन्तु उसी का उपहास हास्योत्पत्ति न कर हास्याभास ही उत्पन्न करता है। किसी विदूषक का उपहास करना पाठक पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं डालता।

(ख) उद्दीपन विभाव में क्षीणता

हास्य के लिये वातावरण में गम्भीरता का सर्वथा अभाव होना चाहिए। अतः ऐसी स्थति में जबकि (क) नायक का कोई विनोदी अनुचर उससे हास्य करते हुए अकस्मात् ही उसका अपमान कर बैठे अथवा (ख) किसी गम्भीर समस्या पर विचार करते हुए कोई हास्यात्मक उक्ति का प्रयोग कर दे—हास्य रस का संचरण न हो सकेगा। जबकि ये उक्तियां कुछ भिन्न वातावरण में उत्कृष्ट हास्य उत्पन्न कर सकती थीं।

इसी प्रकार हास्य को उद्दीप्त करने के लिये नयी सूझ का अपना विशेष महत्त्व है किन्तु ऐसी स्थिति में जब कि (क) व्यंग्य द्वारा हास्य की बात कही गयी हो, किन्तु आश्रय उसे समझ ही न सके अथवा (ख) विदूषक एक ही हास्य की बारम्बार आवृत्ति कर रहा हो, हास्य का प्रभाव क्षीण हो जाएगा। इसके विपरीत यदि आश्रय आलम्बन के अभिप्राय को भली प्रकार समझ कर थोड़ा खीझ उठे अथवा विदूषक की प्रत्येक उक्ति अथवा क्रिया में कोई नवीनता हो तो हास्य को उद्दीप्त होने में विशेष बल मिलेगा।

(ग) विरोधी भाव का आगमन :

सुखात्मक रस होने के कारण यदि इसमें कोई दुःखद भाव उत्पन्न हो जाए तो वह हास्याभास हो जाता है। कतिपय उदाहरण देखिए—(क) वही 'जोकर' (विदूषक) जो अपनी ओर से जान-बूझ कर दूसरों को हंसाने के लिए बेढंगी बातों का प्रदर्शन

---

१. प्रहसन रूपस्य (रूपः।) अनौचित्यत्यागः सर्वपुरुषार्थेषु व्युत्पाद्यः
—हि० अ० भा०, पृ० ५२०।

करता है, उस समय हास्य का विभाव नहीं रह जाता, जब खेल ही खेल में अचानक उसे चोट लग जाती है। यदि हंसते-हंसते कूद-फांद में अचानक उस विदूषक की टांग टूट जाय अथवा जिस छड़ को वह हंसी के लिए, अपनी आंख पर रख कर मोड़ने का प्रयत्न करता है, वही उसकी आंख में घुस जाए, तो हमारी हंसी गुम हो जाती है। कारण—स्पष्ट है कि यहां हास्य के प्रसंग में शोक उत्पन्न हो गया है। (ख) इसी प्रकार यदि कोई जोकर (विदूषक) बीभत्सपूर्ण कृत्य का प्रदर्शन करने लगे, हास्य के लिए अपनी नाक आदि को खाने लगे तो यह सहृदय के लिए अरुचिकर होने के कारण रसाभास होगा। यहां हास के साथ घृणा—इस विरोधी भाव का आगमन हो गया है। (ग) यदि कोई स्थूल काय औरत अकस्मात् बम्बई की किसी यातायात से भरी सड़क के बीच में अपने एक दर्जन बच्चों के साथ फंस जाए तो वह स्थिति हास्य होती हुई भी हास्याभास उत्पन्न करेगी। यहां हास्य के साथ उस नारी के प्रति करुणा भी जागरित होनी स्वाभाविक है।

२. करुण रसाभास

करुण रस के रसाभास होने में निम्नोक्त मुख्य कारण हैं—(क) आश्रय विभाव में क्षीणता, तथा (ख) आलम्बन विभाव में क्षीणता। अब क्रमशः इन पर विचार करते हैं :

(क) आश्रय विभाव में क्षीणता :

यदि आश्रय वास्तविक शोक की अनुभूति न कर रहा हो, तो पाठक को करुणाभास की अनुभूति होती है। कारण स्पष्ट है कि उसका ऐसा करना उसके कपट का द्योतक है। रामायण का यह प्रसंग देखिए :

तात बात में सकल सम्हारी, भइ मन्थरा सहाय बिचारी;
कछुक व्याज विधि बीज बिगारा, भूपति सुरपति सुर पगुधारा॥
सुनि सुत बचन सनेहमय कपट नीर भर नैन।
भरत हृदय जनु शूल सम पापिनि बोली बैन॥

भरत के ननिहाल से लौटने पर कैकेयी का राम-वन-गमन का वृत्तान्त सुनाते हुए घोर शोक का अनुभव, उसकी कपटता का ही द्योतक है। वह चाहे जितने भी आंसू बहा ले किन्तु पाठक को उसके साथ सहानुभूति नहीं हो सकती। यहां कवि का उद्देश्य भी उसकी कपटता को सूचित करना रहा है। अतः पाठक के मन में उसके प्रति क्षोभ ही उत्पन्न होता है। हां, यदि यही बात कौशल्या कहती, तो इससे शोक की तीव्र अनुभूति होती। इस प्रसंग में पं० रामदहिन मिश्र द्वारा प्रस्तुत करुण रसाभास का उदाहरण विवेच्य है[1] :

गौने जात नई बहू रोवति अति बिलखाती।
पिय मिलने की चाह से मन ही मन मुसकाती॥

---

१. काव्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० २६६।

यहां प्रथम तो यह ध्यान रखना चाहिए कि इस पद का सम्बन्ध करुण रस से नहीं है, और द्वितीय यह कि यहां एक ओर नवविवाहिता का पितृ परिवार के प्रियजनों से वियोग और दूसरी ओर अपने प्रीतम से मिलने की उत्कण्ठा—वस्तुतः यह भाव सन्धि का उदाहरण है। इसे रसाभास मानना उपयुक्त नहीं।

रस विवेक के कर्ता का कथन है कि 'मुनि त्रिकाल दरशीन मह करुणाभास प्रकाश' अर्थात् त्रिकालदर्शी मुनियों में प्रदर्शित शोक करुण रसाभास का जनक होता है। शोक का आलम्बन कोई लौकिक तत्त्व होता है। अतः उसका आश्रय भी सांसारिक व्यक्ति होना चाहिए। अतः यदि कोई मुनि शोकसन्तप्त है तो यह उसके व्यक्तित्व को क्षीण बनाता है। वह शोक का उपयुक्त आश्रय नहीं बन सकता। इस प्रसंग का पं० रामदहिन मिश्र द्वारा प्रस्तुत करुण रसाभास का उदाहरण विवेच्य है :

बहुरि-बहुरि कोसलपति कहहीं, जनक प्रेम-बस फिरा न चहहीं।
पुनि कहि भूपति बचन सुहाए, फिरिय महीप दूरि बड़ि आए॥

—तुलसी।

बरात को विदा करके जनक सीता के स्नेह के वशीभूत होने के कारण जल्द न लौट सके। वे परम विदेह थे, अतः यह 'करुण-रसाभास' का उदाहरण है।[1] किन्तु यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि उक्त उदाहरण 'करुण रसाभास' का उदाहरण तभी बनता है जब कि पाठक जनक जी की विरक्ति से पूर्णतः परिचित हो। अथवा कवि ने पहले तो उनकी विरक्ति का वर्णन किया हो और बाद में उन्हें शोक से सन्तप्त दिखला दिया हो। किन्तु यदि कवि का प्रयोजन कन्या के वियोग की अनुभूति को अत्यधिक मार्मिक प्रदर्शित करना हुआ तो सफल कवि एक विरक्त व्यक्ति की आंखों से आंसू निकलवाकर पाठक का उसके साथ तादात्म्य स्थापित करवा सकता है। किन्तु वस्तुतः ऐसे प्रसंगों में वत्सल रस की ही स्वीकृति करनी चाहिए क्योंकि करुण रस में इष्ट नाश का होना अवश्यम्भावी माना गया है। इसी प्रकार शकुन्तला के पति-गृह में जाने के अवसर पर कण्व के उद्गार भी वत्सल रस के ही अन्तर्गत आएंगे, करुण रस के अथवा करुण रसाभास के अन्तर्गत नहीं। पाठक तत्क्षण उस मुनि के वैराग्य भाव को भूल जाता है। 'शाकुन्तलम्' में कण्व के यह कहते ही कि 'पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनया विश्लेष दुःखैर्नव' पाठक की आंखों में आंसू बहने लगते हैं। यहां मुनि की आंखों में आंसू विप्रलम्भवत्सल रस के अनुभाव हैं। किन्तु इससे रस विवेक के कर्ता का उक्त कथन खण्डित नहीं होता। कोई कवि किसी त्यागी में लौकिक शोक का अत्यधिक वर्णन कर उसके प्रभाव को क्षीण कर इससे रसाभास उत्पन्न कर सकता है।

(ख) आलम्बन विभाव में क्षीणता :

करुण रस के स्थायिभाव शोक का आलम्बन अत्यन्त प्रबल होना चाहिए।

---

१. वही, पृ० २६६।

आनन्दवर्द्धन ने जो जिसका प्रियजन नहीं है उसके शोक को करुणाभास माना है।[१] भानुदत्त ने इसे परनिष्ठ करुण रस कहा है। दूसरे के अनिष्ट से उत्पन्न शोक में तीव्रता का अभाव होगा। किन्तु दया, सहानुभूति आदि भावों के आधार पर कुशल कवि इसे भी रस का विषय बना सकता है।

जगन्नाथ ने कलहशील कपूत एवं वीतराग के प्रति प्रदर्शित शोक को करुणाभास स्वीकार किया है।[२] इनमें से एक घर से निर्मोही है और दूसरा संसार से। इस प्रकार से दोनों ही क्षीण आलम्बन हैं। जगन्नाथ के अनुसार इनके कारण किया गया शोक रसाभास का जनक होगा। किन्तु यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि इन दोनों के कारण उत्पन्न शोक भाव अथवा रस दशा तक पहुंच सकता है। वस्तुत: जब मां अपने कलहशील पुत्र के कारण भी शोक करती है, तब उसके शोक का कारण (आलम्बन) उसकी ममता अथवा उसके हृदय की वत्सलता होती है। इसी प्रकार वीतराग के प्रति किए जाने वाले शोक का आलम्बन श्रद्धा होती है। इसके विपरीत यदि कलहशील कुपूत एवं संन्यासी शोक के आश्रय बनते हैं तो वह निश्चय ही रसाभास की स्थिति होगी। कलहशील कुपूत के शोक में कोई स्वार्थ निहित होगा और वीतराग संन्यासी का शोक उसके मिथ्या वैराग्य का द्योतक है। यदि कुपूत सचमुच पश्चात्ताप कर रहा है तो यह स्थिति अधिक से अधिक भाव अवस्था तक ही पहुंच सकेगी।

जगन्नाथ के कथन से यदि कुपूत का अभिप्राय किसी दुर्गुणी एवं घृणित व्यक्ति से लिया जाए, जिसकी मृत्यु में परिवार अथवा लोक-कल्याण निहित हो तो उसके प्रति मां का ममत्त्व भी सहृदय को अधिक शोकानुभूति न करा सकेगा। इस प्रसंग में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का यह कथन उपयुक्त है कि जो करुणा अथवा दया का पात्र नहीं है, जब उस पर कृपा अथवा उसके विषय में करुणा की जाती है, तब करुण रसाभास होता है। यथा :

चहत अपावन करन सो भवपावन रस सोत।
देख पतित की यातना जो दुख निपतित होत॥

पाप कर्म में रत रहने के कारण जिस व्यक्ति का पतन हो गया है उसको यातना मिलने से ही समाज का मंगल सम्भव है। विवेकी व्यक्ति उसकी यातना से प्रसन्नता का अनुभव करता है। किन्तु इसके विपरीत जो व्यक्ति इस प्रकार के व्यक्ति की यातना से दु:खी होता है तो वह वस्तुत: दया का अनुचित प्रयोग करता है और उसकी वह करुणा उचित प्रतीत नहीं होती। इस पद्य में इसी का वर्णन है, अत: इसमें करुण रसाभास है।[३] इस प्रसंग में प्रतिवादी का आक्षेप हो सकता है कि बालि की मृत्यु पर तारा का तथा मेघनाद की मृत्यु पर सुलोचना का विलाप क्या रसाभास का विषय

१. यो यस्य न बन्धुस्तच्छोके करुणोपि हास्य एवेति सर्वत्र योज्यम्।
—हिन्दी अभिनवभारती, ५२०।

२. रस गंगाधर, पृ० १०१।

३. रसकलस, पृ० ६७।

होगा ! इस विषय में हम अधिक विवाद में न पड़ते हुए केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि रामायण के सम्पूर्ण प्रभाव से अभिभूत सहृदय इनसे उतना प्रभावित नहीं होता जितना कि वह महाभारत में अभिमन्यु की मृत्यु पर उत्तरा को विलाप करते देखकर होता है। दूसरे हमें शोक बालि एवं मेघनाद की मृत्यु का नहीं होता वरन् तारा एवं सुलोचना—जो कि हमारी दृष्टि में सर्वथा निर्दोष हैं—के वैधव्य का होता है। यहां शोक का आलम्बन बालि अथवा मेघनाद की मृत्यु को न मानकर तारा एवं सुलोचना के वैधव्य को समझना चाहिए। यद्यपि यह वैधव्य उनकी मृत्यु के ही कारण है, तथापि हम तत्क्षण बालि एवं मेघनाद के दुष्ट चरित्र को भूलकर केवल तारा एवं सुलोचना के वैधव्य को ही देखते हैं। बालि और मेघनाद की मृत्यु तो इनके विलाप से सहानुभूति रखने के उपरान्त भी पाठक को काम्य है।

शान्तिलाल जैन 'बालेन्दु' ने वैराग्य-जन्य शोक में करुण रसाभास स्वीकार करके राजकुमार सिद्धार्थ की विरक्ति पर गुरु, माता, पिता आदि की करुण दशा को प्राप्त होने में करुण रसाभास माना है।[1] किन्तु ऐसे स्थलों में रसाभास का कोई कारण ज्ञात नहीं होता। यहां शोक के आश्रय सांसारिक व्यक्ति हैं। इनके लिए उनके गुणी युवक पुत्र का विरक्त हो जाना उसकी मृत्यु से कम नहीं है। अतः उनको यदि शोक की अनुभूति होती है तो वह अत्यन्त स्वाभाविक है। समर्थ कवि उनके साथ पाठक का साधारणीकरण करवा सकता है। इस प्रसंग में यदि पाठक अत्यधिक शोक का अनुभव नहीं कर पाता तो उसका कारण यह है कि पाठक का प्रयोजन मुख्यतः सिद्धार्थ के साथ है। इस प्रसंग को पढ़ते हुए वह तटस्थ होकर सम्पूर्ण घटना को विस्फारित नयनों से देखने लगता है। उसे सिद्धार्थ के माता-पिता के शोक के प्रति पूर्ण सहानुभूति होती है, किन्तु उसके साथ पूर्ण साधारणीकरण न हो सकने के कारण वह भाव कोटि तक ही पहुंचती है। इसे रसाभास तो किसी भी अवस्था में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पं० रामदहिन मिश्र ने करुण रसाभास का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है :

मेटती तृषा को कंठ लगि-लगि सींचि-सींचि
जीवन के संचिबे में रही पूरी सूमड़ी।
हाथ से न छूटी कबौ जब ते लगाई साथ
हाय-हाय फूटी मेरी प्रान प्रिय तूमड़ी ॥—हिन्दी प्रेमी

यहां तूमड़ी आलम्बन है। उसका गुण कथन उद्दीपन है, हाथ पटकना, सिर धुनना, अनुभाव हैं और विषाद, चिन्ता आदि सञ्चारी भाव हैं। इनसे परिपुष्ट शोक से करुण रस व्यंजित होना चाहिए, किन्तु एक तुच्छ तूमड़ी के लिए इतनी हाय-हाय करने से यह करुण रसाभास बन गया है।[2]

---

१. हिन्दी काव्यशास्त्र, पृ० ७२।
२. काव्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० २६५।

३. रौद्र रसाभास

रौद्र रस के रसाभास होने में मुख्यतः निम्नोक्त कारण हैं— (क) आश्रय विभाव में क्षीणता, और (ख) आलम्बन विभाव में क्षीणता। अब क्रमशः इन पर विचार करते हैं :

आश्रय विभाव में क्षीणता :

यदि कोई रौद्र का आश्रय रौद्रकर्म करने के उपरान्त (अ) भयभीत होता है अथवा (आ) उसका अनुशोचन करता है, तो इससे रसाभास ही होगा। कारण स्पष्ट है कि ऐसा करके वह अपनी दुर्बलता को प्रकट कर देता है, जिससे पाठक की दृष्टि में उसका प्रभाव क्षीण हो जाता है। कलहान्तरिता नायिका इस प्रकार के रसाभास का सुन्दर उदाहरण बन सकती है :

पांयन आनि परे तो परे रहे केती करी मनुहारि न झेली।
मान्यो मनायो न मैं 'मतिराम' गुमान मैं ऐसी भई अलबेली।
प्यारो गयो दुख मान कहूं अब कैसे रहूं यहि राति अकेली।
आप ते ल्याउ मनाय कन्हाई को मेरो न लीजियो नाम सहेली।।

—रसराज, १३६।

इस प्रकार के प्रसंग सहृदय पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं डालते। वह नायिका के मान के साथ तादात्म्य करने में असमर्थ रहता है।

आलम्बन विभाव में क्षीणता :

रौद्र रस के आलम्बन अनिष्ट, अपमान अथवा विरोध करने वाले व्यक्ति या पदार्थ माने गये हैं। क्रोध की प्रबल व्यञ्जना शत्रु के प्रति ही सम्भव है। अन्य प्रायः सभी आलम्बन पूर्ण रौद्र रस को निष्पन्न करने में असफल आधार सिद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ—

(क) भृत्य, प्रिया एवं गुरुजन के प्रति रोष अनुपयुक्त एवं क्षीण होने से रसाभास उत्पन्न करता है। भृत्य के प्रति भर्त्सना आदि तो सम्भव है, पर वह भी भाव कोटि तक ही सीमित होगी। दीन पात्र होने के कारण उस पर किया गया अधिक क्रोध रसाभास होगा।

(ख) कभी-कभी स्त्रियों में आभूषणादि उतार फेंकने से लेकर कटुवचन कहने और पति की ताड़ना तक पहुंचे हुए लक्षण दीख पड़ते हैं, किन्तु यह स्त्रियों के लिए शोककारक न होने के कारण उन्हें रौद्र रस का प्रसारक नहीं माना जाना चाहिए। इसी प्रकार प्रिया के प्रति प्रकट किया गया पति का क्रोध भी रागयुक्त होने के कारण मान विप्रलम्भ के अन्तर्गत रख दिया गया है।

(ग) गुरु का अपने विनीत एवं सुशील शिष्य के प्रति प्रकट क्रोध रौद्र की अनुभूति कराने में अक्षम है। यदि द्रोणाचार्य अर्जुन के प्रति रोष करते हैं तो उससे रौद्र का

संचार न होगा । मुद्राराक्षस नाटक में चाणक्य द्वारा चन्द्रगुप्त के प्रति प्रकट किया गया क्रोध पाठक पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं डालता ।

(घ) जगन्नाथ ने निन्दनीय, कायर, एवं पिता में प्रदर्शित क्रोध को रसाभास माना है ।[1] निन्दनीय और कायर दोनों ही उपेक्षा के पात्र हैं । उनके प्रति क्रोध प्रकट करने से आश्रय का ही महत्त्व कम होता है । पिता हमारी श्रद्धा एवं पूजा के पात्र हैं। इनके प्रति प्रकट रोष रसाभास ही उत्पन्न करेगा । इस सम्बन्ध में रस-विवेक के कर्त्ता का कथन है :

> द्विज गुरु जन आदिकन के, वधन केर उत्साह ।
> रौद्र बीर युद्ध को कह्यो, रसाभास कवि ताह ।।

—रसविवेक, पृ० ८४ ।

कारण स्पष्ट है, कि ऐसा करना आश्रय के अविवेक एवं अभद्रता का परिचायक है। वह हमारी मनोगत भावना के विरुद्ध उनके प्रभाव को क्षीण करने का निष्फल प्रयत्न करता है । इस प्रकार का एक उदहरण पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने प्रस्तुत किया है :

> बात कहा बैरीन की को मो सम बलवान ।
> बिगरि गये बापहूं पै हौं बगारि हौं बान ।।

इसमें कहा गया है कि यदि मैं बिगड़ जाऊंगा तो बाप को भी बाण मार दूंगा । अपनी वीरता को प्रकट करते-करते अहंकार से वह इतना उद्धत हो उठता है कि अपने विवेक को भी खो बैठा । परिणामतः उसका यह कथन उसके प्रति सहृदय के चित्त में क्षोभ उत्पन्न करता है । अतः यह प्रत्यक्ष रौद्राभास है । इसी प्रकार का विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए :

> रक्तोत्फुल्लविशाललोलनयनः कम्पोत्तराङ्गो मुहु-
> र्मुक्त्वा कर्णमपेतभीर्धृतधनुर्बाणो हरेः पश्यतः ।
> आध्मातः कटुकोक्तिभिः स्वमसकृद्दोर्विक्रमं कीर्तय-
> न्नसास्फोटपटुर्युधिष्ठिरमसौ हन्तुंप्रविष्टोऽर्जुनः ।।[3]

एक बार युधिष्ठिर ने कर्ण से रण में परास्त होकर अर्जुन की और उसके गाण्डीव

---

१. रसगंगाधर, रसाभास प्रकरण ।

२. रसकलस, भूमिका, रसाभास प्रकरण ।

३. अर्थात् जिसके उभरे हुए विशाल और चञ्चल नेत्र क्रोध के मारे लाल हो रहे हैं, जिसका सिर बारबार कोप से कम्पित हो उठता है, युधिष्ठिर के कटु वचनों द्वारा अपनी तथा अपने गाण्डीव की निन्दा सुन कर भड़का हुआ (आध्मात) वह अर्जुन, धनुष-बाण लिये हुए अनेक बार किये हुए अपने राजविक्रमों का कीर्तन करता हुआ, कर्ण को छोड़ कर, श्री कृष्ण के सम्मुख ही ताल ठोंकता हुआ युधिष्ठिर को मारने को झपटा ।

की निन्दा करनी आरम्भ कर दी। क्रोध से अर्जुन भभक उठे और उन्हें अपनी की हुई प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया। और वे आवेश में भर कर अपने पूज्य अग्रज को ही मारने दौड़ पड़े। अर्जुन का यह भयंकर क्रोध उसके व्यक्तित्व का अपकर्षक है। अपनी क्षुद्र प्रतिज्ञा की तुलना में भाई का अपमान करके उसने अपने अविवेक का ही परिचय दिया है। पाठक उसके इस कृत्य से उसके प्रति क्षोभ प्रकट कर देता है। किन्तु यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि प्रेक्षक के चित्त में अर्जुन एवं उसकी प्रतिज्ञा का महत्त्व कुछ अधिक हुआ तो उस उदाहरण को भाव अथवा रस के अन्तर्गत भी परिगणित किया जा सकता है। इस दृष्टि से कुछ उदहरण अवश्य आलोच्य हैं जिनमें अपने पूज्यजन के प्रति क्रोध व्यक्त करने के उपरान्त भी रौद्राभास नहीं होता। प्रह्लाद यदि हिरण्यकश्यप के प्रति क्रोध व्यक्त करता है तो वह रौद्राभास न होगा।

भारतीय संस्कृति में गुरु सदा अपने शिष्य के सम्मुख एक महान् आदर्श उपस्थित करने में समर्थ रहा है। उसका जीवन अपने शिष्य के लिए अर्पित था। अतः वह देवता समान पूज्य था।[1] 'आज्ञा गुरुणामविचारणीयाः' के सिद्धान्त के अनुसार उसका प्रत्येक कथन ब्रह्मवाक्य था। उसका उपहास उसकी मृत्यु थी। अतः उसके प्रति प्रकट किये क्रोध आदि के भाव रसाभास उत्पन्न करते थे, किन्तु यदि गुरु उक्त प्रकार के आदर्श उपस्थित करने में असमर्थ हो तो उसके प्रति व्यक्त किया गया क्रोध रसाभास का जनक न होगा। इस प्रसंग में पं० रामदहिन मिश्र द्वारा प्रस्तुत रौद्र रसाभास का उदाहरण देखिए। राम के वन जाने के बाद साकेत काव्य में वर्णित कैकेयी और भरत के वार्तालाप की निम्नोक्त पंक्तियां हैं :

कैकेयी— किन्तु उठ ओ भरत; मेरा प्यार
चाहता है एक तेरा प्यार।
राज्य कर उठ वत्स, मेरे बाल
मैं नरक भोगूं भले चिरकाल॥

इस पर भारत की उक्ति—जी द्विरसने ! हम सभी को मार,
कठिन तेरा उचित न्याय-विचार॥—गुप्त जी

पुत्र स्नेह तथा सुख की भूख से तड़पती हुई माँ कैकेयी के प्रति पुत्र भरत के हृदय में इतने भयंकर क्रोध स्थायी भाव का उदय तथा उससे जो रौद्र रस व्यंजित होता है वह पं० जी के मतानुसार अनुचित रूप में परिपक्व हुआ है।[2] इसी प्रकार 'किराता-र्जुनीय' में युधिष्ठिर के प्रति द्रौपदी तथा भीम का क्रोध रौद्र रस का रसाभास माना गया है। किन्तु वस्तुतः ये प्रसंग रसाभास के अन्तर्गत परिगणित नहीं होने चाहिएं, क्योंकि पाठक के चित्त में तत्क्षण कैकेयी तथा युधिष्ठिर दोनों के ही प्रति रोष होता है। वह उस समय कैकेयी एवं इधर किरातार्जुनीय में युधिष्ठिर के प्रति अपनी अनास्था प्रकट करना चाहता है, किन्तु संस्कारवश कुछ कर नहीं पाता। इतने में भरत

---

१. आचार्य देवोभव। तै० उप०
२. काव्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० २६६।

को तथा भीम एवं द्रौपदी को उनकी भर्त्सना करता देख वह भी इसके साथ तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ सिद्ध होता है। सच तो यह है कि भरत को ऐसा करता देख कैकेयी के कुकृत्य से क्षुब्ध पाठक की दृष्टि में भरत का चरित्र और अधिक उज्ज्वल हो उठता है। इस प्रकार के प्रसंग पूर्णतः रस को ही उद्दीप्त करते हैं।

इसी प्रकार भानुकवि द्वारा प्रस्तुत उदाहरण भी रौद्र रसाभास का उदाहरण नहीं है :—

अति रिस बोले बचन कठोरा।
कहु जड़ जनक धनुष केहि तोरा॥
बेगि दिखाउ मूढ़ न तु आजू।
उलटौं महि जहँ लगि तुव राजू॥ रा० च० मा०

यह परशुराम का जनक के प्रति रोष है। अतः भानु कवि ने इसे रौद्राभास स्वीकार किया है।[1] किन्तु वस्तुतः यह उदाहरण भाव कोटि में ही परिगणित होना चाहिए क्योंकि पाठक परशुराम से भी अभिभूत होता है। इसके मुख से इन वचनों को सुन कर वह स्तब्ध रह जाता है। उस वातावरण में वह परशुराम की भी भर्त्सना करने में असमर्थ है। इसी प्रकार का एक उदाहरण सेठ कन्हैयालाल ने भी प्रस्तुत किया है :—

हैं वे वृद्ध विचार शील न अहो ! कैसी बढ़ा दी कथा,
गाते हैं वह ताडिका दमन जो स्त्री लक्ष्य ही क्या न था।
वीरों को खर दूषणादि वध भी क्या गण्य युद्धत्व है ?
बाली का वध-कृत्य सत्य कहना ? क्या उग्र वीरत्व है।

यह कुमार लव की गर्वोक्ति है। इस उक्ति में वीर रस के उद्दीपन के लिए नाटक के प्रधान नायक श्री रघुनाथजी के लोकातिरिक्त वीरत्व को, ताडिका-दमन आदि को नगण्य वीरत्व कह कर कवि ने स्वयं ही विनष्ट कर दिया है। पोद्दारजी का कथन है कि पूज्यतम श्री रघुनाथजी के विषय में क्रोधावेश के कारण लव द्वारा ऐसे कथन में रौद्र रस का आभास मात्र है।[2] किन्तु वस्तुतः यह रौद्राभास का उदाहरण नहीं है। लव द्वारा राम के प्रति प्रकट क्रोध से पाठक लव के प्रति क्षोभ नहीं कर पाता। पाठक लव की उक्ति से राम की निन्दा ग्रहण न कर केवल उसकी उत्साह भावना से प्रभावित हो रहा होता है। उसके उन रोष-युक्त वचनों को सुनकर पाठक के चित्त में यह जिज्ञासा जागरित होती है कि अब राम इसका क्या उत्तर देंगे ? अतः इसे रौद्राभास का उदाहरण स्वीकार न कर भाव कोटि के अन्तर्गत परिगणित करना चाहिए। सम्भवतः इसी कारण पोद्दारजी ने इसे अपने ग्रंथ के आगामी संस्करणों से बहिष्कृत कर दिया है और उसके स्थान पर निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है, जो कि स्पष्टतः रसाभास है—

पहले वचन देकर समय पर पालते हैं जो नहीं,

---

१. रसरत्नाकर, पृ० १०४।
२. काव्य कल्पद्रुम, (रस मंजरी), संस्करण-३, पृ० २८५।

वे हैं प्रतिज्ञा-घातकारी निन्दनीय सभी कहीं।
मैं जानता जो पाण्डवों पर प्रीत ऐसी आपकी,
आती नहीं तो यह कभी वेला विकट संताप की।।

द्रोणाचार्य के प्रति दुर्योधन के इन वचनों को सुनकर पाठक तादात्म्य स्थापित करने में असमर्थ रहता है। अतः पोद्दारजी के अनुसार इन वाक्यों में पूज्य व्यक्ति गुरु पर क्रोध की व्यंजना में रौद्र रस का आभास है।[1]

४. वीर रसाभास

वीर रस के रसाभास होने में मुख्यतः निम्नोक्त कारण हैं—(क) आश्रय विभाव में क्षीणता, और (ख) आलम्बन विभाव में क्षीणता।

आश्रय विभाव में क्षीणता :

इसके अन्तर्गत दो प्रकार के प्रसंग आते हैं—(अ) उत्साह के आश्रय में अनुत्साह, (आ) अनुपयुक्त आश्रय में उत्साह।

(अ) उत्साह के आश्रय में अनुत्साह :— युद्धवीर के वर्णन में उत्साही (आश्रय) कांप उठे तथा उसके माथे पर स्वेद-बिन्दु झलकने लगें तो वीर रस का आस्वाद उपलब्ध न हो सकेगा। इसी प्रकार दानवीर के वर्णन में यदि दानी के वैवर्ण्य अथवा उसकी जड़ता का उल्लेख कर दिया जाय तो उसके साथ भी पाठक तादात्म्य स्थापित न करेगा। वस्तुतः वीर रस के आश्रय के अनुभावों में उमंग-जन्य आनन्द की स्थिति का प्रकट होना अवश्यम्भावी है। इसके बिना उसके रसाभास होने की सम्भावना रहती है। इसी प्रकार यदि आश्रय में शंका, त्रास, चिन्ता, वितर्क, निर्वेद, असूया, ग्लानि आदि संचारियों का अत्यधिक वर्णन किया गया तो उससे रसाभास की ही सम्भावना रहेगी।

किसी उत्साह के आलम्बन को देख कर भयभीत हो जाना कायरता का द्योतक है। यदि कोई शूरवीर अपने प्रतिद्वन्द्वी के हाथ में तलवार देख कर रोने लगे अथवा रणभूमि छोड़कर भाग जाए तो यह प्रत्यक्ष रसाभास है। साहित्य पारिजात में वीर रसाभास का इसी प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है :

रामसिंह कर खड्ग लखि, अरिगन अधिक अधीर,
तजत सार साजत नदी, सूर-वीर दृग नीर।

इसी प्रसंग में भानु कवि द्वारा प्रस्तुत एतद्-विषयक उदाहरण विवेच्य है।[2] धनुषयज्ञ प्रसंग में परशुराम द्वारा अत्यधिक क्षुब्ध हो उठने पर लक्ष्मण की व्यंग्योक्ति है—

वीर वृत्ति तुम धीर अछोभा,
गारि देत न पावहु शोभा। रा० च० मा०

इसमें रसाभास दो कारणों से माना जा सकता है। प्रथम इसलिए कि

१. काव्यकल्पद्रुम पृ० २४६।
२. रसरत्नाकर, पृ० १०५।

इससे परशुराम की वीरता प्रकट न होकर उसका क्षोभ द्योतित होता है। इससे पाठक को परशुराम की वीरता पर सन्देह हो सकता है, अथवा इसके विपरीत द्वितीय इसलिए कि पाठक इसे लक्ष्मण की गर्वोक्ति मानता है, जिस कारण वह परशुराम के विरुद्ध लक्ष्मण के इस व्यवहार से तादात्म्य नहीं कर पाता। किंतु वस्तुतः यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि यह सम्पूर्ण प्रसंग भाव का उदाहरण है।[1] पाठक इसे सुनकर न परशुराम की वीरता पर सन्देह करता है और न लक्ष्मण के इस वाक्य को उसकी गर्वोक्ति ही मानता है।

(आ) अनुपयुक्त आश्रय में उत्साह :—रामदहिन मिश्र द्वारा प्रस्तुत वीर रसाभास का उदाहरण देखिए—

लेहु छुड़ाय सीय कँह कोऊ, धरि बांधहु नृप बालक दोऊ ॥
तोरे धनुष काज नहिं सरई, जीवत हमहिं कुअरि को बरई ॥
जो विदेह कछु करैं सहाई, जीतहु समर सहित दोउ भाई ॥

—रामचरित मानस, बाल कांड, २६६।२,३।

रामचन्द्र के धनुष तोड़ने पर कुछ छुटभैये 'वाक्शूर' राजाओं ने उपर्युक्त पंक्तियाँ कही हैं। यहां रामचन्द्र जैसे प्रतापी एवं सर्वशक्तिमान के आलम्बन तथा उनके धनुष-भंग कार्य के उद्दीपन से राजाओं में उत्साह स्थायी भाव जागरित होता है और जो उससे वीर रस की प्रतीति होती है मिश्रजी के अनुसार उसका परिपाक अनुचित रीति से हुआ है। क्योंकि राम जैसे वीर के प्रति इन पराजितों का यह उत्साह अत्यन्त उपहासास्पद नहीं तो और क्या है?[2] पाठक धनुष-भंग के प्रकरण से राम और अन्य राजाओं की वीरता की परीक्षा कर चुका है। एक दुर्बल पक्ष का वीर व्यक्ति के प्रति वीरता के वचन कहना उपहासास्पद इसलिए है कि ये वचन उसके क्षोभ को प्रकट करते हैं। वे व्यर्थ ही इन वचनों के द्वारा अपने अहंकार की पूर्ति कर रहे हैं। उनके ये वचन खिसियानी बिल्ली खम्बा नोचे इस कहावत को चरितार्थ कर रहे हैं। अतः इस प्रकार के स्थल वीर रसाभास के अन्तर्गत परिगणित होने चाहिए। इनको पढ़ कर पाठक उनके प्रति क्षोभ अथवा उपहास प्रकट करता है।

इस प्रसंग से यह स्पष्ट है कि चोर, दुर्जन, अवस्कंदक (डाकू), शत्रु आदि व्यक्तियों में उत्साह का वर्णन वीर रसाभास होगा, पाठक इसके प्रति असम्मान एवं बितृष्णा का भाव रखता है। उत्साह एक दिव्य भाव है। यह अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध प्रयुक्त होता है। चोर आदि के उत्साह को समर्थन देने का अर्थ है कि हम अन्याय और अत्याचार को प्रश्रय दे रहे हैं। अतः इनमें उत्साह प्रदर्शित करने से वीर रसाभास का होना अवश्यंभावी है। रमाकान्त शर्मा ने इसे प्रतिकूल रसाभास कहा है :

खर खर वनचर वालि रह, विन पद रहा कवंध।
इनहु बधे बलवान कह, तपसी जो जग अंध ॥

शर्मा जी के अनुसार—'कि बिन प्रान जो वृक्षादिक हैं तिन्ह में असत्य होते हैं'।

---

१. देखिए प्रस्तुत प्रबन्ध, पृ० २
२. काव्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० २६७

आलम्बन विभाव में क्षीणता :—

उत्साह का आलम्बन विजेतव्य माना गया है। अतः विश्वनाथ एवं जगन्नाथ ने क्रमशः ब्राह्मण एवं पिता के प्रति प्रदर्शित उत्साह को वीर रसाभास के अन्तर्गत स्वीकार किया है।[1] कारण स्पष्ट है कि ये हमारी पूजा और श्रद्धा के आलम्बन हैं और वे विजेतव्य नहीं हो सकते। उनके प्रति उत्साह प्रकट करना आश्रय की अभद्रता एवं दुःशीलता का द्योतक है। किन्तु हां, यदि ब्राह्मण और पिता के प्रति प्रदर्शित उत्साह उसकी अभद्रता को प्रकट न करे तब रसाभास की सम्भावना नहीं रहेगी। इस दृष्टि से रामायण का निम्नोक्त प्रसंग देखिए :

> हैं वे वृद्ध विचारशील न अहो ; कैसी बढ़ा दी कथा,
> गाते हैं वह ताड़िका-दमन जो स्त्री लक्ष्य ही क्या न था।
> वीरों को खर दूषणादि बध भी क्या गण्य युद्धत्व है।
> बाली का वध कृत्य सत्य कहना ? क्या उग्र वीरत्व है ?
>
> —उत्तररामचरित (अनुवाद)

यह दाशरथि कुमार लव की गर्वोक्ति है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने इसे रौद्र एवं वीर दोनों का रसाभास कहा है। उनका कथन है कि इस उक्ति में वीर रस के उद्दीपन के लिए नाटक के प्रधान नायक श्री रघुनाथजी के लोकातिरिक्त वीरत्व को कवि ने स्वयं ही विनष्ट कर दिया है क्योंकि ताडिका-दमन आदि को नगण्य वीरत्व कह दिया है।[2] किन्तु वस्तुतः इस प्रकार के स्थल अनिवार्यतः रसाभास ही हों ऐसा आवश्यक नहीं है। क्योंकि लव के मुख से राम के प्रति इस प्रकार के वचनों को सुनकर पाठक लव को अभद्र मानने की भूल नहीं करता। इसके विपरीत वह लव की इन गर्वोक्तियों को सुनकर कुतूहल का-सा अनुभव करता है। शास्त्रीय दृष्टि में इस प्रकार के स्थल भाव कोटि में परिगणित करने चाहिएं। रसाभास में तो आश्रय के प्रति विपरीत भावों का जागरित होना अनिवार्य है।

शान्तिलाल जैन बालेन्दु के अनुसार शहर में दिन-प्रतिदिन बढ़ते हुए दुराचार को देखकर राजा के उत्साहित होने में वीर रसाभास होगा।[3] कारण स्पष्ट है कि शहर का दुराचार उसकी अपनी अव्यवस्था के कारण है। उस अव्यवस्था को दूर करने के स्थान पर उसका प्रजा पर उत्साह प्रकट करना उसके प्रभाव को क्षीण कर देता है। शहर में दुराचार उत्पन्न करने वाली प्रजा उसी के संरक्षण में रहती है। राजा का कर्तव्य प्रजा का संरक्षण ही है, उन पर उत्साह आदि प्रदर्शित करना नहीं। ऐसे स्थलों पर रसाभास की स्वीकृति उपयुक्त है।

शारदातनय ने आश्रय के जातीय भाव के प्रतिकूल भाव को रसाभास माना

---

१. (क) साहित्य दर्पण, पृ० १२६
   (ख) रस गंगाधर, रसाभास प्रकरण
२. काव्य कल्पद्रुम (रसमंजरी), द्वितीय संस्करण, पृ० १५० (आगे के संस्करणों में पोद्दारजी ने इसे हटा दिया है।)
३. हिन्दी काव्यशास्त्र, पृ० ७३।

है।[1] अतः यदि कोई शूरवीर व्यक्ति नारी समाज के सम्मुख वीरता प्रदर्शित करता है तो वह रसाभास का ही जनक होगा। आचार्य जगन्नाथ ने भी कायर एवं निन्दनीय के प्रति उत्साह प्रदर्शन से रसाभास माना है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'अरिऔध' ने भी यह तथ्य स्वीकार किया है—

वीर बहकि बाहत नहीं कबहूँ अधिक सम बान।
बालक अबला बध निरत वृथा बनत बलवान॥

यह किसी बालक और अबला वध में उत्साहित व्यक्ति के प्रति किसी तेजस्वी महात्मा की उक्ति है। इसमें कहा गया है कि वीर व्यक्ति बधिक के समान निरीह प्राणियों, अबलाओं एवं शिशुओं पर बाण नहीं चलाता। उसका यह कर्म उसके व्यक्तित्व को क्षीण कर देता है।[2] इसी प्रसंग में पं० रामदहिन मिश्र द्वारा प्रस्तुत उदाहरण द्रष्टव्य है[3] :

रे हस्त सूधे आज, द्विज मुनहिं ज्यावन काज।
अब यह कृपाण सम्हार कर सूद्र मुनि पर वार॥
—सत्यनारायण।

यह रामायण का प्रसंग है। इसमें शूद्र को तपस्या करता देखकर राम उसके वध के लिए उद्यत हैं। इसमें रसाभास होने के दो कारण स्वीकार किए जा सकते हैं। (क) राम जैसे शूरवीर का एक निरीह शूद्र पर वार करने के लिए उक्त पद में जो उत्साह व्यक्त किया गया है, वह राम के प्रभाव को क्षीण कर रहा है। इस पद के पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि राम के उत्साह का आलम्बन कोई प्रबल शत्रु है। किन्तु बेचारे एक दयनीय शूद्र के प्रति प्रकट राम का प्रबल उत्साह देखकर पाठक उससे प्रभावित नहीं हो पाता। किसी शक्तिहीन के प्रति उत्साह-पूर्ण वचनों का प्रयोग ऐसा प्रतीत होता है मानो किसी कण्टीले एवं नुकीले भाग में जाता हुआ बटोही परेशान होकर मार्ग को ही कहने लगे—'तुम समझते क्या हो अपने आप को, तुम्हें उखाड़ दूंगा, आदि। (ख) दूसरे इसमें रसाभास का यह भी कारण हो सकता है कि आधुनिक पाठक वर्ण-व्यवस्था को जन्मानुसार स्वीकार नहीं करता अतः वह राम के इस कृत्य को सशंकित दृष्टि से देखता है कि उसने एक शूद्र व्यक्ति को तपस्या करने से क्यों रोका है ? उसे इसमें अनौचित्य प्रतीत होता है।

निष्कर्षतः वीर रस में आश्रय एवं आलम्बन दोनों की प्रबलता अवश्यंभावी है। किसी भी एक पक्ष के क्षीण होने पर वीर रसाभास की सम्भावना होती है।

५. भयानक रसाभास

भयानक रस में रसाभास के स्वरूप के परिज्ञान के लिए उसे मुख्य रूप से निम्नोक्त भागों में विभक्त कर सकते हैं—(क) आश्रय विभाव में क्षीणता।

---

१. भाव प्रकाशन, पृ० १३३।
२. रसकलस, भूमिका, रसाभास प्रकरण।
३. काव्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० २६७।

(ख) आलम्बन विभाव में क्षीणता।

आश्रय विभाव में क्षीणता :—

आचार्य विश्वनाथ ने उत्तम पात्र में निर्दिष्ट भय को रसाभास का जनक स्वीकार किया है।[1] हिन्दी के आचार्यों में रस विवेक के लेखक का भी यही मत है—'वीर साहसी माहिं भय रसाभास है होत' (पृ० ८४)। शास्त्रीय शब्दावली में उक्त मतों की व्याख्या यह होगी कि भयानक रस के अनुपयुक्त आश्रय में प्रदर्शित भय भयानकाभास का जनक होता है। कतिपय उदाहरण देखिए। विश्वनाथ ने इस प्रसंग में निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है—

'अशक्नुवन्सोढुमधीरलोचनः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम्।
प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं निनाय बिभ्यद्दिवसानि कौशिकः॥

अर्थात् सूर्य के समान प्रदीप्त रावण के दर्शन करने में असमर्थ, अधीर नयन कौशिक (इन्द्र अथवा उल्लू) सुमेरु की गुफा के भीतर छिपकर डरते-डरते दिन बिताता था जैसे उल्लू सूर्य से डर कर गुफाओं में छिपता है उसी प्रकार इन्द्र रावण से डर कर सुमेरु पर छिपता था। इसमें भयानकाभास है, क्योंकि उत्तम पात्र (इन्द्र) में भय दिखलाया है। इसी प्रकार स्त्री, नीच आदि में प्रदर्शित भय से भी भयानक रस की पुष्टि होती है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए :

सुने असुर की असुरता सुरपुर सकल सकात।
देखि दसवदन को वदन सुरपति मुख पियरात॥

इस पद्य में भी वीरशिरोमणि इन्द्र के मुख का रावण के भय से पीत होना वर्णित है, इसलिये इसमें भयानक रसाभास है।[2] यद्यपि देवताओं की राक्षसों से पराजय की अनेक कहानियों से पाठक परिचित होता है तथापि उसके मस्तिष्क में देवताओं का जो स्वरूप है इसमें कायरता का अंश नहीं है। अतः किसी भी देवता में भय का प्रदर्शन भयानकाभास का जनक होता है। इससे पाठक के चित्त में इन्द्रादि देवताओं के प्रति परम्परागत आस्था को चोट पहुंचती है। इसी प्रकार पं० रामदहिन मिश्र ने भयानक रसाभास का निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है—

························बिसार के।
छेड़ने चले जो इन सिंहियों की सेना को
तत्क्षण ही युद्ध साज ! मूढ़ वह जन है
देखूं चलो, मैं तुम्हारी मातृ-पुत्र-पत्नी को।
—मेघनाद वध।

यहां मेघनाद की स्त्री की सेना को देखकर राम के भयभीत होने की ध्वनि निकलती है। उत्तम व्यक्ति में भय होने से यहां भी भयानक रसाभास है।[3] सत्पात्र में भय होने

---

१. उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयम्।—सा० द० ३।२६६।
२. रसकलस, भूमिका, रसाभास प्रकरण।
३. काव्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० २६७।

से रसाभास हो जाने का शास्त्रीय कारण यह है कि इसमें दो विरोधी भावों का सम्मिलन होता है। सत्पात्र में वीरता-साहस आदि भाव पहले से ही विद्यमान हैं, उसमें भय, जो कि वीररस का विरोधी भाव है, का वर्णन अनुपयुक्त है। विरोधी भावों का मिलना रसाभास का ही जनक होता है। यहां यह आक्षेप हो सकता है कि मेघनाद वध के समय राम का कवि ने जो चित्रण किया है, उसमें उसका भाव उसकी कायरता को ही प्रकट करना रहा है। हमारी सम्मति में प्रत्येक भारतीय पाठक कवि के भाव के अनुसार राम में चित्रित कायरता के साथ तादात्म्य करने में समर्थ सिद्ध नहीं होगा।

आलम्बन विभाव में क्षीणता :—

आलम्बन विभाव में क्षीणता से उत्पन्न भयानकाभास के कतिपय कल्पित उदाहरण देखिए :

(क) यदि यह भय भ्रमवश हो जाय तो यह स्थिति रसाभास की होती है। अन्धेरे में पैर टकराने पर रस्सी को सांप मान कर चिल्लाना और उछल पड़ना भय का भ्रमपूर्ण कारण है, इससे भयानक रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

(ख) कई बार भय काल्पनिक होता है। बच्चा किसी अपराध के कारण अपनी मां से भयभीत है किन्तु उसकी मां उसे देखते ही गद्गद हो जाए और उसे गोद में ले कर प्यार करने लगे तो यह स्थिति भयानकाभास की होगी। भयानक रस का व्याजजन्य अर्थात् कृत्रिम भेद[1] पाठक को अधिक प्रभावित नहीं करता।

(ग) राजा अथवा गुरुजनादि के प्रति किए गए अपराध के कारण अपराधी को यह सोच कर, कि अब न जाने कैसा दण्ड मिलेगा[1] भय हो सकता है, किन्तु यदि राजा के पास जाने पर भय का कोई भी कारण न निकले तो उसकी स्थिति उपहास ही उत्पन्न करेगी।

(घ) यदि कोई सिपाही के अधिकार एवं व्यक्तित्व से अपरिचित ग्रामीण व्यक्ति सिपाही से अकारण ही भयभीत होने लगे तो यह स्थिति भी भयानक रस का आभास है।

(ङ) किसी अपशकुन से भी भय हो सकता है। कुछ ज्योतिषियों की इस घोषणा पर कि ४ फरवरी, १९६२ को अष्ट ग्रह के कारण विश्व में भयंकर उथल-पुथल होंगे, कोई कवि उस घोषणा से भयभीत व्यक्तियों एवं उसके निष्प्रभाव का चित्रण कर रसाभास का सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत कर सकता है।

(च) आचार्य शान्तिलाल जैन 'बालेन्दु' ने कहा है कि दुर्गा, भैरवादि के स्वरूपादि को देख कर भयभीत होने में भयानक 'रसाभास' होगा।[2] कारण स्पष्ट है कि ये देवियां सत्पुरुषों के लिए वरदान स्वरूप हैं। हिन्दू समाज की आराध्य देवियां हैं। उनकी आकृति ही भयानक है किन्तु वस्तुत: उससे भय का कोई कारण नहीं है। पापी जन ही उनसे भय खाते हैं। उनके दर्शन एवं वर्णन से उनके प्रति श्रद्धा ही जागरित होनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो वह भयानकाभास की ही स्थिति होती है।

---

१. ना० शा० ६।८१

२. हिन्दी काव्यशास्त्र, पृ० ७३।

यहाँ पर भी रसाभास का कारण आलम्बन विभाव की क्षीणता है ।

(छ) इसी प्रसंग में भानु कवि द्वारा प्रस्तुत भयानकाभास का उदाहरण द्रष्टव्य है :

> कर कुठार मैं अकरण कोही ।
> आगे अपराधी गुरु द्रोही ।।
> उत्तर देत छांडौ बिन मारे ।
> केवल कौशिक शील तुम्हारे ।।

यह धनुष-यज्ञ प्रसंग का एक पद्य है। परशुराम विश्वामित्र से उक्त वचन कह रहे हैं। इसमें भय का आलम्बन परशुराम हैं। किन्तु राम और लक्ष्मण उससे भयभीत नहीं हो रहे। इस प्रकार परशुराम भय का वास्तविक आलम्बन नहीं बन पाता। इसी कारण सम्भवत: इसमें भयानकाभास स्वीकार किया गया है। यदि इसे भयानकाभास न मानकर वीराभास का उदाहरण मानें तो और अधिक उपयुक्त होगा। इससे पाठक के चित्त में परशुराम की वीरता के प्रति सन्देह हो सकता है। किन्तु यदि सारी परिस्थिति का भली प्रकार अवलोकन करें तो यह प्रसंग वीराभास का भी उदाहरण नहीं है। पाठक परशुराम और राम-लक्ष्मण दोनों ही पक्षों से पूर्णत: अभिभूत है। लक्ष्मण के निरंकुश उत्तरों और राम के प्रति आस्था-बुद्धि होने के कारण वह परशुराम से भयभीत नहीं हो पाता, किन्तु साथ ही परशुराम के व्यक्तित्व एवं उससे भयभीत सभा-भवन एवं जनकादि को देख कर उसका तिरस्कार करने की स्थिति में भी वह नहीं है। शास्त्रीय दृष्टि से ऐसे प्रसंग भाव कोटि के अन्तर्गत परिगणित किए जाने चाहिएं।

अन्तत: यह स्पष्ट है कि किसी सत्पुरुष में भय प्रदर्शित करने से तथा किसी क्षीण आलम्बन से भयभीत होने से भयानकाभास की उत्पत्ति होती है।

६. बीभत्स रसाभास

बीभत्स रस में रसाभास का अध्ययन करने के लिए उसे निम्नोक्त भागों में विभक्त कर सकते हैं—(क) आश्रय विभाव में क्षीणता, (ख) आलम्बन विभाव में क्षीणता।

आश्रय विभाव में क्षीणता :—

आश्रय विभाव में क्षीणता से बीभत्साभास होने की निम्नोक्त तीन स्थितियां सम्भव हैं— (अ) घृणास्पद आलम्बन को देखकर घृणा का जागरित न होना, (आ) अघृणित आलम्बन को देख कर घृणा का जागरित हो जाना। (इ) अनुचित आश्रय में घृणा का जागरित होना। शास्त्रीय दृष्टि से ये तीनों ही आश्रय विभाव में क्षीणता के कारण रसाभास के जनक हैं। अब क्रमश: इन तीनों स्थितियों पर विचार करते हैं।

(अ) घृणास्पद आलम्बन को देख कर घृणा का जागरित न होना :— यदि कोई व्यक्ति किसी फूहड़ स्त्री के लार टपकाने, कीचड़ निकालने, रेटा छिनक कर डालने, सिर को खर्र-खर्र करके खुजलाने को देख कर भी घृणा नहीं करता, तो वह

व्यक्ति पाठक के क्षोभ अथवा उपेक्षा का आलम्बन होगा। शास्त्रीय दृष्टि से इसे बीभत्साभास कहेंगे। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रकार का व्यक्ति सहृदय की मनोगत भावना के प्रतिकूल वृत्ति वाला है। अतः पाठक के चित्त में उस के प्रति क्षोभ स्वाभाविक है।

(आ) अघृणित आलम्बन को देख कर घृणा का जागरित हो जाना :— आचार्य जगन्नाथ ने यज्ञ में रुधिर आदि को देख कर की गयी घृणा को बीभात्साभास स्वीकार किया है।[1] इधर हिन्दी के आचार्यों में रस-विवेक के कर्ता का भी यही मत है : 'याज्ञिक हिंसा में घृणा, रसाभास कवि मीत' शास्त्रीय दृष्टि से इस कथन का विश्लेषण करें तो इसका अभिप्राय है कि जो घृणा का आलम्बन नहीं है उसमें घृणा दिखलाना बीभात्साभास है। मध्य काल में यज्ञों में हिंसा विहित थी और हिन्दू समाज उसे एक महान् धार्मिक कृत्य समझता था।[2] अतः उसे उसकी हिंसा से शान्ति उपलब्ध होती थी। परिणामतः यज्ञार्थ प्राणी—अज, अश्व, नर, नाग, ताम्रचूड, कपोत, महिष आदि के हिंसन में ग्लानि होने पर बीभत्स रसाभास होता था। क्योंकि ऐसे स्थलों में किसी पवित्र आलम्बन के प्रति घृणा प्रदर्शित की जाती है। जब कि बीभत्स रस के आलम्बन निन्दित होते हैं।[3] किन्तु आधुनिक पाठक इन दृश्यों को देख कर बीभत्स का ही अनुभव करेगा। क्योंकि उसे इस प्रकार के कर्मकाण्डों पर विश्वास नहीं है। वह उन्हें घृणित कार्य ही समझेगा। इसी प्रकार भानु कवि द्वारा प्रस्तुत बीभत्स रसाभास का उदाहरण—'भेष अमंगल मंगल राशी' परम्परा पर आस्था रखने वालों के लिए रसाभास है[4], जबकि आधुनिक पाठक के लिये बीभत्स।

हिन्दी काव्य शास्त्र में आचार्य शान्तिलाल जैन 'बालेन्दु' ने बीभत्स रसाभास का जो उदाहरण दिया है, वह आलोच्य है। उनके अनुसार जनमेजय के नागयज्ञ में नागों (सर्पों) को हुताशनार्पण करने के अवसर पर बीभत्स रसाभास होगा किन्तु हमारी सम्मति में इस दृश्य को देख कर सामान्य पाठक के चित्त में ग्लानि उत्पन्न होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। वस्तुतः उसके चित्त में इससे भय का संचार होता है। और वह दृश्य पाठक के लिए भयानक रस का ही उदाहरण बनता है। ग्लानि उत्पन्न न होने का कारण यह है कि सर्प एक भयानक जीव है। उसकी हत्या से मानव को आनन्द की ही अनुभूति होती है। यदि यज्ञ में न मार कर उसे वैसे ही मारा जाय तो उससे घृणा उसी प्रकार नहीं होती, जिस प्रकार एक पापी अथवा अधार्मिक व्यक्ति को मारने से नहीं होती। इनके मारे जाने से यदि किसी को घृणा होती है तो निश्चय ही वह बीभत्साभास होगा। जनमेजययज्ञ में सहस्रों जीवित सर्प फूत्कार करते हुए पाठक के सम्मुख आते हैं। उससे पाठक भय का ही अनुभव करता रहता है। और यह भय तब तक बना रहता है, जब तक कि उसे यह निश्चय नहीं हो जाता कि अब सृष्टि में कोई अन्य सर्प शेष नहीं है।

१. रसगंगाधर, रसाभास प्रकरण।
२. याज्ञिकी हिंसा हिंसा न भवति। मीमांसा दर्शन।
३. भाव प्रकाशन, ५।६।
४. रसरत्नाकर, पृ० १०५।

भरत तथा धनञ्जय ने बीभत्स के क्षोभज (रुधिरादिजन्य), उद्वेगी (विष्ठा तथा कृमि से उत्पन्न) तथा शुद्ध (रमणी के स्तन, जघनादि जैसी रमणीय वस्तु से घृणा) ये तीन भेद किए हैं। हमारी सम्मति में इनमें से बीभत्स का शुद्ध भेद बीभत्साभास का जनक होगा। क्योंकि रमणी के स्तन आदि के प्रति आकर्षण ही स्वाभाविक है विकर्षण नहीं।

(इ) अनुचित आश्रय में घृणा का जागरित होना :—यदि कोई मां अपनी सन्तान की विष्ठा आदि से घृणा करने लगे तो वह बीभत्साभास होगा। यह मां का अपने कर्तव्य से विमुख होने का द्योतक है। वस्तुतः मां को अपनी संतान की विष्ठा आदि से घृणा करने का कोई अधिकार नहीं है। इसी प्रकार यदि कोई भंगी (हरिजन) सफाई आदि करते समय नाक-भौं सिकोड़ने लगे तो यह भी रसाभास के अन्तर्गत परिगणित होगा। शिंगभूपाल इसे जातीय भाव की प्रतिकूलता मानते हैं।

आलम्बन विभाव में क्षीणता :—

यदि घृणा के आलम्बन में कोई दुर्बलता हो तो उसकी उस दुर्बलता के वर्णन से भी बीभत्साभास होता है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने बीभत्स रसाभास का इसी प्रकार का उदाहरण दिया है[1] :

रुधिर पियत तो कत कंपत सुनत नरक को नाम।
हाड़ चिचोरत रहत तो कहत जात कत राम॥

रुधिर पान करते समय किसी रक्तपिपासु का नरक का नाम सुनकर कांप जाना उसकी दुर्बलता का सूचक है, इसी प्रकार हाड़ चिचोरते समय राम-राम कहते जाना भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि उनकी ऐसी वृत्ति उनके पाप-कृत्य को पूर्णतः प्रतिफलित नहीं होने देती। रचयिता उनके घृणित कर्म के प्रति जो ग्लानि उत्पन्न करना चाहता था उसमें कुछ शिथिलता-सी उत्पन्न हो जाती है।

यहां यह एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस प्राणी का घृणित कर्म करने का स्वभाव हो उसे घृणा का आलम्बन बनाने से बीभत्स रस उत्पन्न होगा अथवा बीभत्साभास। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने इसे बीभत्साभास स्वीकार किया है :

दुबरो कानो हीन स्रवन बिन पूछ नवाए।
बूढ़ो विकल सरीर लार मुख से टपकाए।
झरत सीस तें राखि रुधिर कृमि डारत डोलत।
छुधा छीन अति दीन गरे घट-कंठ कलोलत।
यह दशा स्वान पाई तऊ, कुतियन संग उरझत गिरत।
देखो अनीति या मदन की मृतकनहूं मारत फिरत॥

—प्रताप साहि।

उनका कथन है कि यहां कुत्ते के इतने बीभत्स विशेषणों द्वारा जुगुप्सा की पुष्टि की गई है। किन्तु कुत्ते का तो इन घृणित वस्तुओं के आस्वादन का स्वाभाविक धर्म

---

१. रसकलस, भूमिका, रसाभास प्रकरण।

है, अतः इनके द्वारा जुगुप्सा की पुष्टि नहीं हो सकती, इसलिए यहां बीभत्स रस का आभास मात्र है। यदि ऐसा वर्णन मनुष्य विषयक किया जाता तो बीभत्स रस हो सकता था।[1] किन्तु पोद्दारजी का यह कथन उपयुक्त नहीं है। जिनका घृणित कर्म करने का स्वभाव होता है वे ही तो बीभत्स का वास्तविक आलम्बन बनने के योग्य होते हैं। पं० रामदहिन मिश्र ने भी इसी उदाहारण को बीभत्स रसाभास का उदाहरण स्वीकार किया है, किन्तु उसका कारण इससे भिन्न दिया है। उनका कथन है कि कुत्ते की ऐसी घृणित-कुत्सित अवस्था का वर्णन अकस्मात् जो शृंगारोन्मुख हो जाता है, उससे यहां बीभत्स रस की पुष्टि नहीं होती। अतः बीभत्स-रसाभास है।[2] किन्तु वस्तुतः इस घृणामय स्थिति में कुत्ते का शृंगारोन्मुख होना पाठक के चित्त में घृणा को और अधिक बढ़ा देता है। हमारी सम्मति में यदि कवि का भाव इससे काम की प्रबलता प्रदर्शित करना रहा है तो इससे बीभत्स का संचार न हो सकेगा। उस अवस्था में यह उदाहरण बीभत्साभास एवं शृंगाराभास दोनों का ही हो सकता है।

अद्भुत रसाभास

अद्भुत रस के रसाभास होने में मुख्यतः निम्नोक्त कारण हैं—(क) विस्मय का कारण ज्ञात होना, (ख) विस्मय के कारण का असम्भव होना, (ग) विस्मयकारी घटनाओं से अनिष्ट का होना। ये तीनों ही शास्त्रीय दृष्टि से आलम्बन विभाव की क्षीणता के कारण रसाभास उत्पन्न करते हैं। अब इन पर क्रमशः विचार अपेक्षित है।

विस्मय का कारण ज्ञात होना :

आचार्य जगन्नाथ ने बाजीगर के खेलों से उत्पन्न विस्मय को रसाभास स्वीकार किया है।[3] शान्तिलाल जैन 'बालेन्दु' का भी यही कथन है, कि यन्त्र, तन्त्र व मन्त्र आदि के प्रभाव से उत्पन्न विस्मय में अद्भुत रसाभास होगा। यथा बाजीगर लोग अपने सिर को काट कर पुनः जोड़ देते हैं, मनुष्य को मुर्गा आदि बना देते हैं और जादू से भस्म (राख) के रुपये बनाकर दिखा देते हैं—आदि-आदि। बालेन्दु जी का कथन है कि इसी प्रकार के अनेक ऐंद्रजालिक कर्मों को देख कर आश्चर्य अवश्य होता है फिर भी ऐसे कर्म अद्भुत रसोत्पादक नहीं कहे जा सकते। वहां 'अद्भुत' रसाभास होगा।[4] किन्तु ये सभी कर्म रसाभास के जनक तभी होंगे जबकि दर्शक को उक्त आश्चर्य के रहस्य का ज्ञान हो जाएगा। अन्यथा उसके लिए उक्त कर्मों के विषय में विस्मय ही रहेगा। उस व्यक्ति को इनके देखने से रसाभास अवश्य होगा जो कि पहले से ही उक्त आश्चर्यों के रहस्य से परिचित है। और उसे इस बात का ज्ञान है कि ये कर्म बाजीगर की किसी चालाकी के परिणाम हैं। सामान्य व्यक्ति को बाजीगर के खेल भी आश्चर्य में डाल देते हैं और वह उन्हें देख कर अत्यन्त विस्मित हो जाता है।

---

१. काव्यकल्पद्रुम, पृ० २४९।
२. काव्यलोक, द्वितीय, उद्योत, पृ० २६८।
३. रसगंगाधर, रसाभास प्रकरण।
४. हिन्दी काव्यशास्त्र, पृ० ७४।

इस प्रसंग में पं० रामदहिन मिश्र द्वारा प्रस्तुत अद्भुत रसाभास का उदाहरण दखिए :

खगराज के पीठ से आज लखी उतरी रमा ठाड़ी धरा पै मढ़ी ।

हां हाँ लाट लटूरे की लेडी नयी सुनी आई हवाई जहाज चढ़ि ।—हिन्दी प्रेमी

'ग्रामवासिनी प्रचीना' ने जब यह कहा कि मैंने सजी-धजी लक्ष्मी को गरुड़ की पीठ से पृथ्वी पर उतरी खड़ी देखा है । तब इस असम्भव बात को सुनकर आश्चर्य हुआ किन्तु इसी बात को शहर की हवा खाई हुई किसी नवीना ने यों कहा कि हां हां, किसी लाट साहब की नयी लेडी हवाई जहाज़ से आई है, यह मैंने सुना है—इस समाधान से उक्त आश्चर्याभास बन जाता है ।[1] प्रथम पंक्ति को पढ़कर पाठक के चित्त में कुतूहल, जिज्ञासा अथवा विस्मय की-सी स्थिति उत्पन्न होती हैं । किन्तु द्वितीय पंक्ति को पढ़ते ही, उपयुक्त समाधान प्राप्त करके उसका आश्चर्य समाप्त हो जाता है । इस प्रकार के पद पाठक के चित्त में एक चमत्कार अवश्य उत्पन्न करते हैं, किन्तु यह चमत्कार कवि-कल्पनाजन्य होता है, इसका अद्भुत रस से अधिक सम्बन्ध नहीं । इसी प्रसंग में यह ध्यान रखना चाहिए कि सहृदय-भेद से एक ही बात एक के लिए आश्चर्य और द्वितीय के लिए अद्भुताभास सिद्ध होती है । एक अशिक्षित ग्रामीण किसी वायुयान को अथवा विज्ञान के किसी अन्य चमत्कार को देख कर आश्चर्यान्वित हो सकता है किन्तु एक शिक्षित के लिए उसका यह आश्चर्य अद्भुताभास का विषय होगा ।

अनेक बार विरोधाभास, अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति आदि अलंकारों के प्रयोग से तथा कूट आदि पदों से विस्मय का भाव जागरित होता है । किन्तु यह अन्ततः रसाभास की स्थिति है । यह प्रभाव केवल उतनी देर के लिए होता है जब तक कूट का अर्थ समझ में न आए । एक उदाहरण देखिए :

देखो दधि सुत में दधि जात ।

एक अचम्भो सुन री सजनी, रिपु में रिपु समात ।।

अर्थात् श्रीकृष्ण दही खा रहे हैं । उनका मुख दधि-सुत अथवा उदधि-सुत चंद्रमा के समान है, उसी में वे दही खा रहे हैं । दही मुंह में हाथ से रखी जा रही है । हाथ की उपमा कमल से दी जाती है । कमल चन्द्रमा का शत्रु होता है । अतः हाथ का मुंह में जाना मानो रिपु का रिपु में समाना है । अर्थ समझ लेने पर यहां आश्चर्य का कोई कारण नहीं रहता । यदि कोई पाठक इस पद के अभिप्राय से आश्चर्य चकित हो रहा है तो वह इसका व्यंग्यार्थ समझ कर उस आश्चर्य के प्रति उपेक्षा ही व्यक्त करेगा । ऐसे स्थलों पर केवल कवि-कल्पनाजन्य-चमत्कार का ही आस्वाद किया जा सकता है ।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का कथन है कि जब किसी विषय का वर्णन आश्चर्य की सीमा से आगे बढ़ कर 'असम्भवता' तक पहुंच जाता है, वहां अद्भुत रसाभास होता है, यथा :

उछरि अंजनी सुवन ने लीलि लियो तत्काल ।

निरखि बाल रवि बिम्ब को सुमधुर फल सम लाल ।।

---

१. काव्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० २६७ ।

'सूर्यो हि आत्मा जगतः' सूर्य जगत् का आत्मा है, वह हिन्दू का आराध्य देव है, उसके विषय में यह लिखना कि उसको नर ने नहीं वरन् वानर ने निगल लिया, कितना बड़ा अनौचित्य है। सूर्य के सामने अंजनी-नंदन की सत्ता हिमालय के सामने एक चींटी जितनी भी नहीं, भला वे सूर्य को क्या निगलते ? जिस कार्य का उल्लेख दोहे में है, वह अद्‌भुत क्या महान् अद्‌भुत है, परन्तु प्रलाप मात्र है, और अनौचित्य पूर्ण भी, अतएव उसमें प्रत्यक्ष रसाभास है।[१] किन्तु हरिऔध जी यहाँ सिद्धांत और व्यवहार में थोड़ा अन्तर कर गए हैं। उन्होंने रसाभास का आधार 'असम्भवता' (असम्भावना) माना था किन्तु व्यवहार में उक्त पद में अनौचित्य का कारण असम्भावना की चर्चा न कर वानर की क्षुद्रता बतलाई है। उनके कथन से ऐसा प्रतीत होता है, कि यदि सूर्य को निगलने वाला कोई मनुष्य होता तो सम्भवतः यहां रसाभास उत्पन्न न होता। किन्तु उनके सिद्धांत वाक्य के अनुसार तब भी इसमें रसाभास ही रहना चाहिए क्योंकि सूर्य को निगलना मनुष्य के सामर्थ्य से भी बाहर है। जहाँ तक वानर की क्षुद्रता का प्रश्न है यह कोई सामान्य वानर नहीं प्रत्युत् हिन्दुओं का आराध्य अंजनी-सुत हनुमान् है। उसके प्रति हिन्दू जाति के मन में पूर्ण निष्ठा है। वस्तुतः इस प्रकार के स्थलों में रसाभास का मूल कारण असम्भावना ही स्वीकार करना चाहिए। जिनको इन पौराणिक मिथ्या कल्पनाओं पर अविश्वास है, वे ऐसे स्थलों को उपहास का ही प्रसंग बनाते हैं और इनके प्रति अपनी अरुचि प्रकट करते हैं। हाँ, जिनको इनके प्रति विश्वास है, उनके लिए यह उदाहरण रसाभास का नहीं होगा। उन्हें इससे भक्ति रस अथवा वीर रस की अनुभूति होगी। उनकी दृष्टि में हनुमान् अतुल शक्ति सम्पन्न हैं। उन द्वारा इस कर्म का करना कोई विस्मय का विषय नहीं है। वे इसे पढ़ कर हनुमान् की अद्‌भुत शक्ति के प्रति श्रद्धावनत हो जाते हैं। उसकी अतुल शक्ति के साथ उनका तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

इसी प्रकार कुछ और उदाहरण देखिए जो कि अद्‌भुताभास के उदाहरण माने गये हैं, किन्तु कुछ भारतीय सहृदय इनके साथ भी तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। उदाहरणार्थ भानुकवि द्वारा प्रस्तुत रसाभास का उदाहरण—'रोम-रोम हरि के रहत किमी कोटिक ब्रह्मण्ड'—इसी प्रकार का ही उदाहरण है।[२] इसी प्रकार का सेठ कन्हैयालाल पोद्दार द्वारा प्रस्तुत अद्‌भुत-रसाभास का उदाहरण भी द्रष्टव्य है :

---

१. रस कलस, भूमिका, रसाभास प्रकरण।

२. रसरत्नाकर, पृ० १०५।

अति अचरजमय जलधि पुनि तिहि बढ़ि मुनि किय पान,
तासो बढि लघु-घट जनम का जग अचरज पार ?
— मुनि-मत-मीमांसा (अनुवाद)।

यहाँ महामहिम अगस्त्य मुनि द्वारा समुद्र पान का वर्णन है। प्रथम तो समुद्र ही अनेक आश्चर्यों का कोष है, फिर ऐसे समुद्र का एक चुलु में पी जाना और भी आश्चर्य है। इससे बढ़कर आश्चर्य तो यह है कि जिन अगस्त्य जी ने उन्हें पिया उनका जन्म एक छोटे से घड़े से हुआ। यहाँ तक के वर्णन में पोद्दार जी के अनुसार क्रमशः आश्चर्य की पुष्टि होती रही है, किन्तु चौथे पाद में अर्थान्तरन्यास अलंकार द्वारा यह कहने से कि इस जगत् के आश्चर्य का क्या पारावार है ? क्या अन्त है ? उपर्युक्त सारा आश्चर्य छिप गया है। अतः चौथे पाद का वर्णन अनौचित्य होने से रसाभास ही रह गया है।[1] वस्तुतः उक्त पद में दोनों ही कारणों से रसाभास मानना चाहिए। आज के पाठक के लिए—जो कि पौराणिक मान्यताओं को उपहास का विषय समझता है—समुद्र आदि का पी जाना अद्भुताभास का ही विषय है और यदि कोई पाठक कवि की वर्णन शक्ति एवं अपनी प्राचीन आस्थाओं के कारण विस्मय का अनुभव कर भी रहा हो तो वह यह सुनकर कि संसार तो है ही आश्चर्यों का पारावार, उस पर आश्चर्य का प्रभाव कम हो जाता है, और इससे रसाभास होने में सहायता मिलती है।

(ग) विस्मयकारी घटना से अनिष्ट का होना :

शारदातनय के अनुसार विस्मय से भय, ताडन आदि से रसाभास होता है। इसका कारण जातीय भाव की प्रतिकूलता है।[2] विस्मय का भाव एक सुखद भाव है। उससे भय की उत्पत्ति इसके प्रभाव को समाप्त कर देती है। यदि कोई व्यक्ति केवल विस्मय उत्पन्न करने केलिए भूत का सा रूप धारण कर ले, किन्तु उसे देखकर कोई शिशु रो पड़े अथवा कोई अन्य अनिष्ट हो जाए तो उससे अभीष्ट रस उत्पन्न नहीं हो सकेगा। इसके अतिरिक्त बिना भय के भी जब उन्हें उसके रहस्य का ज्ञान हो जाएगा तो भी वह स्थिति रस के प्रतिकूल होगी।

इस प्रसंग में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' द्वारा प्रस्तुत अद्भुत रसाभास का उदाहरण विवेच्य है :

का न करति ललना, हनति पति को ले करवाल।
कंपि कलंक भय ते बनति कोख लाल को काल॥

उनका कथन है कि एक ललना का कर में करवाल लेकर पतिदेव का वध करना,

---

१. काव्य-कल्पद्रुम, पृ० २२६-६०।
२. भावप्रकाशन, पृ० १३३।

अपने फूल से कोमल लाल का कलंक भय से नाश कर देना, कितना विस्मयपूर्ण और आश्चर्यजनक है। किन्तु दुःख है कि संसार में ऐसा होता है। दोनों कार्यों में अनौचित्य की पराकाष्ठा है, इसीलिए पद्य में अद्भुत रसाभास है।[1] किंतु वस्तुतः पाठक के चित्त में उक्त जघन्य कर्म को देखकर नारी के प्रति तीव्र घृणा हो जाती है। इस प्रकार यह घृणा का ही उदाहरण है। कवि का उद्देश्य उसमें उस अनुचित कर्म को देखकर इसी घृणा को जागरित करना प्रतीत होता है।

८. शांत रसाभास

शांत रस में रसाभास का अध्ययन करने के लिए उसे निम्नोक्ति भागों में विभक्त कर सकते हैं—(क) सहृदय की अयोग्यता, (ख) आश्रय विभाव में क्षीणता, (ग) आलम्बन विभाव में क्षीणता तथा (घ) उद्दीपन विभाव में क्षीणता।

(क) सहृदय की अयोग्यता :

शांत रस अन्य रसों से भिन्न एक अलौकिक रस है। यह समस्त व्यापारों का लय रूप है। इस रस का सकल व्यापार अमूर्त तत्त्वों पर निर्भर है। किन्तु काव्य का अध्येता प्रायः कोई लौकिक पुरुष होता है। तत्त्वज्ञान प्राप्त सूक्ष्म अंतः-दृष्टि रखने वाले व्यक्ति काव्य के अध्ययन में कोई रुचि नहीं लेते। परिणामतः शांत रस का वर्णन प्रायः रसाभास की ही अनुभूति करवाता है। उदाहरणार्थ—किसी वीतराग संन्यासी को कोई पापिष्ठ व्यक्ति घोर अपशब्द कहे, किन्तु संन्यासी सर्वथा शान्त रहे तो सहृदय के चित्त की निम्नोक्ति अवस्थाएँ सम्भव हैं :

(अ) उसके मन में संन्यासी के प्रति दया जागरित हो।

(आ) उसके चित्त में उस पापी व्यक्ति के प्रति क्रोध उत्पन्न हो।

(इ) उसके हृदय में कोई भी भावना जागरित न हो, वह संन्यासी की भांति उस पापिष्ठ व्यक्ति की उपेक्षा कर दे।

प्रथम दो अवस्थाएँ रसाभास की हैं और अन्तिम अवस्था शांत रस की है। सामान्यतः सहृदयों को प्रथम दो अवस्थाओं की ही अनुभूति होती है। इसका कारण सहृदय की अयोग्यता ही है।

शांत रस में जिन वस्तुओं के प्रति हम अरुचि का प्रदर्शन करते हैं, वे स्वभावतः वैसी अरुचिकर नहीं होतीं, हाँ वे किसी विशिष्ट व्यक्ति के लिए, जिसे विशेष ज्ञान उपलब्ध हो गया है, अरुचिकर हो सकती हैं। उदाहरणतः नारी के प्रति संसार की विरक्ति न होकर अनुरक्ति ही देखने में आती है। कोई ज्ञानी अर्थात् शांत रस का साधक ही उसके प्रति अरुचि प्रदर्शित कर सकता है। सामान्य सहृदय नहीं। अभिप्राय यह कि शांत रस के प्रसंग के साथ तादात्म्य कर सकने वाले

---

१. रस कलस, भूमिका, रसाभास प्रकरण।

पाठक विरले होते हैं। कोई समर्थ कवि ही इसका आस्वादन कराने में समर्थ हो सकता है।

(ख) आश्रय विभाव में क्षीणता :

शांत रस का आश्रय कोई ज्ञानी आस्थावान् पुरुष ही हो सकता है। अतः आचार्य विश्वनाथ ने हीन-निष्ठ एवं जगन्नाथ ने नीच-पात्र-निष्ठ निर्वेद को रसाभास स्वीकार किया है।[1] तत्त्व ज्ञान जैसा असाधारण कर्म किसी बुद्धिहीन नीच पात्र में प्रदर्शित करना उपहास का ही जनक है। हिन्दी के आचार्यों में रस विवेक के कर्ता का भी यह कथन है :

> अन्य तमोगुणीन में, जो रस शांत बखान।
> रसाभास है होत इमि, कहो सुकवि मतिमान।।

शास्त्रीय दृष्टि से इस कथन का विश्लेषण करें तो इसका अर्थ है यदि शांत रस का आश्रय उस भाव को धारण करने में असमर्थ है तो वहाँ शांताभास होगा। शम, निर्वेद, तत्त्व ज्ञान आदि भावों को धारण करने के लिए ज्ञान के जिस अक्षय स्रोत की आवश्यकता है वह सामान्य व्यक्ति में उपलब्ध होना असम्भव है। उसके लिए सतत साधना, अध्ययन एवं अध्यवसाय की अपेक्षा होती है। प्राचीन काल में ब्राह्मण ही इस भाव को धारण करने में सक्षम था। ब्राह्मण शब्द से पाठक के सम्मुख एक तपस्वी त्यागी व्यक्ति का चित्र आँखों के सामने आ उपस्थित होता है। शूद्र शिक्षा के अयोग्य था। अतः उसमें शम-भाव की अवस्थिति भी असम्भव थी। किन्तु आधुनिक युग में जबकि जाति से ब्राह्मण और शूद्र की योग्यताओं की भिन्नता समाप्त होती जा रही है, ब्राह्मण शब्द से त्यागी और शूद्र शब्द से अज्ञानी व्यक्ति के बोध को ठेस पहुँची है। अतः रस विवेक के कर्ता का यह कथन सुन्दर बन पड़ा है कि तमोगुणी व्यक्ति (वह चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र) शांत रस का आश्रय नहीं हो सकता और यदि वह शांत रस का आश्रय बनता है तो उससे शांताभास ही होगा। रामदहिन मिश्र द्वारा प्रस्तुत शांत रसाभास का उदाहरण देखिए :

> सूद्र एक सम्बूक तपत पृथिवी पै भारी,
> तिहि सिर छेदन जोग तिहारे राम खरारी।
> ताहि मारि अब सीघ्र लोक मरजाद रखाओ,
> दै द्विज बालहि प्राणदान जग अजस नसाओ।।

—सत्यनारायण।

यहाँ एक नीच व्यक्ति में निर्वेद वर्णित है। त्रेतायुग में शूद्र की तपस्या करना

---

१. (क) साहित्य दर्पण ३।२६५।
(ख) रस गंगाधर, रसाभास प्रकरण।

अयोग्य व्यक्ति का सत्कार्य में हस्ताक्षेप था। इसी कारण यहाँ शांत रसाभास है।[1] यहाँ शूद्र शब्द से अभिप्राय जाति से शूद्र न होकर कर्म से शूद्र ही लेना चाहिए—जो अशिक्षित है तथा सांसारिक कर्मों में अत्यधिक लिप्त है। यदि जाति से शूद्र में वर्णित शम अथवा निर्वेद भाव को शांताभास माना जाएगा तो सम्पूर्ण निर्गुण साहित्य में शांत रसाभास की स्वीकृति करनी होगी। सभी सन्त प्रायः निम्न जातियों के ही हैं। इसी प्रसंग में भानुकवि द्वारा प्रस्तुत शांत-रसाभास का उदाहरण भी देखिए :

> सुनु सतिभाव कहौं महिपाला।
> यहाँ बसत बीते बहु काला॥
> तातें गुप्त रहौं जग माहीं।
> हरि तजि किमपि प्रयोजन नाहीं॥[2]

भोग में लिप्त राजा का अकस्मात् हरिभजन में लीन हो जाना पाठक के चित्त को खटकता है और इसमें उसे सन्देह है कि वह अपनी तामसिकताओं का परित्याग पूर्णतः कर भी सकेगा या नहीं। अतः यहाँ रसाभास होना प्रायः अनिवार्य है। किन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि कवि का प्रयोजन काव्य में यह प्रदर्शित करना हुआ कि अनेक बार छोटी छोटी घटनाएँ भी व्यक्ति के चरित्र में आमूलचूल परिवर्तन कर देती हैं, एक शूद्र दस्यु व्यक्ति भी अकस्मात् महान् मुनि बन जाता है, उसके तत्त्व ज्ञान पर पड़े मोह का आवरण किसी सामान्य घटना से भी कभी कभी हट जाता है, तो वह सफलतापूर्वक इस भाव को जागरित कर लेता है। महान् डाकू वाल्मीकि को अकस्मात् वैराग्य धारण करता देखकर पाठक को शांताभास न होकर शांतरस की ही अनुभूति होती है।

किन्तु यदि कोई व्यक्ति मन और बुद्धि से तो सचमुच निर्वेद को धारण कर हरि भजन में लीन होना चाहता हो पर उसके कर्म इसके विपरीत हों तो शान्तरस के स्थान पर शान्तभास ही होगा। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने शान्त-रसाभास का इसीप्रकार का उदाहरण प्रस्तुत किया है :

> का बिराग भो जो रहे राग रंग में लीन।
> रहे रामरत जो न तो का करवा कोपीन॥

बिराग-भाजन बनकर राग रंग में लीन होना और करवा कोपीन धारण कर राम में रत न होना अनौचित्य का ही सूचक है। अतएव यहाँ स्पष्टतः शान्त-रसाभास

---

१. काव्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० २६८।
.२ रसरत्नाकर, पृ० १०५।

है।[1] इसीप्रकार एक ओर वैरागियों के संसार से निर्मोही होने का वर्णन हो और दूसरी ओर उनके विशाल वैभव, प्रासाद आदि का उल्लेख हो तो यह शांताभास की ही स्थिति है। इससे पाठक को आश्रय के तत्त्वज्ञान पर सन्देह होने लगता है। आनन्दवर्द्धन के शब्दों में यहाँ निर्वेद-रूप शान्त-रस स्थायी-भाव मोक्ष का हेतु होने पर तदाभास मोक्ष-हेतु सा प्रतीत होता है, अतः यहाँ शान्तः रसाभास है।[2]

श्री रामकान्त शर्मा का इस विषय में स्पष्ट कथन है :

गाढ़ असंगि ममुक्षु उर भावाभास लखात।
मानी ज्ञानी हीय बीच, रति छाया झलकात॥

—प्रेमसुधारत्नाकार, पृ० १२।

शर्मा जी ने चार प्रकार के सात्विकाभास निर्दिष्ट किये हैं[3] :

(१) उसमें से प्रथम रत्याभास है जो कि उनके अनुसार मुमुक्षु लोगों में प्रकट होता है, यथा :

काशी बसि प्रभु यश कहत, ज्ञानि सभा पुलकात।
अंसुवन गंडभि गावई, रत्याभास लखात॥

(२) द्वितीय सत्वाभास है जो कि कर्माशक्त मनुष्यों में प्रकट होता है, यथा :

निशिदिन कर्माशक्तजन, रघुपति गुन कोइ।
हर्षित मन पुलकावली सत्वाभास सो होइ॥

(३) तृतीय निसत्वाभास है, जो कि स्वाभाविक स्नेह से हीन जन में प्रकट होता है, यथा :

सहज नेह रति हीन जो, सुनि प्रभु यश पुलकात।
सो निसत्व कविजन कहहिं, विषयिन दरसात॥

(४) चतुर्थ प्रतीप है, जो कि 'अमित्र' में प्रकट होता है, यथा :

फुरित ओंठ बिवरन वदन, सुनि प्रभु के गुन गीत।
रावनादि में देखिए, सो प्रतीप अपुनीत॥

(ग) आलम्बन विभाव में क्षीणता :

रूपगोस्वामी ने निम्नोक्त तीन तीन स्थलों पर शान्त उपरस माना है—(१) परब्रह्म में निर्विशेप (सामान्य) दृष्टि से, (२) अद्वैतभाव की अधिकता के

---

१. रसकलस भूमिका, रसाभास प्रकरण।

२. अमोक्षहेतावपि तदाभासतायां शान्ताभासो ह्यस्य एवं।

—हि० अ० भा०, ५२०।

३. प्रेमसुधा रत्नाकर, पृ० ७१-७२।

योग से तथा (३) बीभत्साधिक्य आदि से ।[1]

परब्रह्म (श्री कृष्ण) के विषय में सामान्य दृष्टि से शान्त उपरस हो जाने का उन्होंने निम्नोक्त उदाहरण दिया है :

विज्ञानसुषमाधौते समाधौ यदुदञ्चति ।
सुखं दृष्टे तदेवाद्य पुराणपुरुषे त्वयि ।।

अर्थात् विज्ञान की अपूर्व शोभा से स्वच्छ समाधि में जो (सुख) उपलब्ध होता है वह ही सुख हे पुराण पुरुष ! तुम्हारे देखने पर आज उपलब्ध हो रहा है । यहाँ पुराण पुरुष (श्रीकृष्ण) आलम्बन विभाव है तथा सुख प्राप्ति अनुभाव है । समाधि में ब्रह्म के अनुभव से उत्पन्न आनन्द परब्रह्म श्रीकृष्ण के दर्शन जन्य आनन्द से न्यून होता है पर यहाँ उस समाधि के आनन्द को तथा कृष्ण के दर्शन के आनन्द को समान ही प्रतिपादित किया है । कृष्ण (परब्रह्म) का सच्चा उपासक इसे सहन नहीं कर पाता, अतः उसे ऐसे स्थलों से रसाभास की अनुभूति होती है ।

अद्वैत-भाव की अधिकता से भी रूपगोस्वामी ने शान्त उपरस माना है, और उसका निम्नलिखित उदाहरण दिया है :

यत्र यत्र विषये मम दृष्टि-
स्तं तमेव कलयामि भवन्तम् ।
यन्निरञ्जन ! परापरबीजं-
त्वां विना किमपि नापरमस्ति ।।

अर्थात् जिस जिस वस्तु में मेरी दृष्टि है मैं उस उस को ही आपको समझता हूँ । क्योंकि हे निरञ्जन, पर तथा अपर सबके बीज (कारण) तुम्हारे बिना कुछ भी नहीं है । यहाँ पूर्वार्द्ध में सभी पदार्थों को निरञ्जन से अभिन्न (अद्वैत) माना है । पर उत्तरार्द्ध में निरञ्जन का सब पदार्थों का बीज (कारण) निर्दिष्ट कर द्वैत का प्रतिपादन कर दिया है । भक्ति की दृष्टि से भक्त को द्वैत ही काम्य होता है ।[2]

---

१. ब्रह्मभावात्परब्रह्मण्यद्वैताधिक्ययोगतः ।
तथा बीभत्सभूमादेः शान्तो ह्युपरसो भवेत् ।।

—भक्तिरसामृतसिन्धुः ९।४ ।

इसी प्रकार रामकान्त शर्मा का कथन है—
परंब्रह्म सियनाह में, ब्रह्मभाव बिन द्वैत ।
तैसे भाव बीभत्स में शांत सु उपरस भैत ।।
जो सुख विमल समाधि में, सो पुरुषोत्तम मांह ।
विषय मांझ देखो जहां, तहां एक सियनाह ।। —प्रे० सु० र०, १६९ ।

२. देखिए प्रस्तुत-ग्रन्थ, पृ० २५२ ।

अतः भक्त सहृदय को ऐसे पदों में अद्वैत की अधिकता दृष्टिगत होती है, और इससे उसे शान्त उपरस की प्रतीति होती है।

शान्त रस के आलम्बन देवता, आत्मा अथवा ब्रह्म होते हैं। इनका वर्णन पढ़कर किसी के चित्त में निर्वेद की भावना जागरित की जा सकती है। किन्तु यदि इसके विपरीत निर्वेद की अवस्था इसलिए उत्पन्न हुई है कि उसने किसी कुरूपा स्त्री को गन्दे कपड़े धारण किए, रेट और लार बहाते, सिर की जूएं मारते देख लिया है तो इससे शान्तरस न होकर शान्ताभास की अनुभूति होगी। कारण स्पष्ट है कि इस प्रकार के दृश्य यथार्थ जगत् में प्रायः देखने को मिल जाते हैं और इनको देख कर कोई व्यक्ति संसार से विमुख नही हो जाता। वस्तुतः इस प्रकार के वर्णन आलम्बन के रूप में चित्रित किए जाने चाहिएं। इसी प्रकार यदि निर्वेद की भावना सांसारिक विघ्न बाधाओं से घबराहट के कारण उत्पन्न हुई है तो वह भी निर्वेद का कोई सच्चा आधार नहीं है।

(घ) उद्दीपन विभाव में क्षीणता :

शान्त रस का उद्दीपन प्रायः समग्र विश्व हो सकता है। किन्तु तत्त्वज्ञान, वैराग्य, आस्था, बुद्धि, साधु-समागम, सत्सम्पर्क, भगवत्कृपा, पूर्वार्जित कर्म तथा दर्शन अध्ययन आदि मुख्य हैं। अतः यदि कोई सच्चे तत्त्व-ज्ञान का इच्छुक व्यक्ति किसी अज्ञानी ढोंगी गुरु के चंगुल में फँस जाए अथवा उसका संसर्ग किसी बदमाश साधुओं की टोली के साथ हो जाए तो यह अवस्था रसाभास ही उत्पन्न करेगी। इसका कारण यह है कि यहाँ उद्दीपन विभाव में अनौचित्य उत्पन्न हो गया है।

निष्कर्षतः :

(१) शान्त रस के सहृदय आस्तिक आस्थावान् व्यक्ति होते हैं। संसार में इसप्रकार के व्यक्तियों का प्रायः अभाव होने के कारण यह सामान्यतः अरुचिकर होता है। किन्तु इससे शान्त रस का खण्डन नहीं होता। समर्थ कवि इस भाव को जागरित करने में सफल रहते हैं।

(२) शान्त रस के आलम्बन, आश्रय एवं उद्दीपन विभाव यथार्थ जगत् से भिन्न होते हैं। उनके वर्णन में सामान्य भूमि से ऊँचा उठना पड़ता है। अन्यथा यह स्थिति रसाभास को जन्म देती है।

६. भक्ति रसाभास

प्रवृत्ति मार्ग का अनुगामी होता हुआ भी यह रस परमात्मा से सम्बद्ध है, और इसी कारण इसका सम्बन्ध सामान्य जगत् से हटकर अलौकिक जगत् से है। स्वयं प्रभु इसके आलम्बन हैं, तुलसी तथा चन्दन आदि पूजा-सामग्री उद्दीपन है, हर्ष के आंसू तथा नेत्र विकार आदि अनुभाव हैं।[1] सारी सामग्री प्रभुमय है। स्वयं रस

---

१. भगवद्भक्ति रसायन, पृ० ४।

के रूप में सिद्ध होने वाले परमानन्द रूप प्रभु ही इसके आलम्बन हैं, उन्हीं का प्रतिबिम्ब भक्त के अन्तःकरण पर पड़ता है, अन्तःकरण की भगवदाकारता ही भक्ति कहलाती है। अतएव प्रभुरूप भगवदाकारता ही इसका स्थायी भाव है।[1] श्री० मधुसूदन सरस्वती का बिचार है कि अन्य रसों में पूर्ण सुख का स्पर्श नहीं रहता जबकि भक्ति रस नितान्त रूप से सुखमय है। यही कारण है कि इसके सम्मुख अन्य रस क्षुद्र प्रतीत होते हैं। इतर रस इसके सामने आदित्य के सम्मुख खद्योत के समान जान पड़ते हैं।

कान्तादि विषया वा रसाद्यास्तत्र नेदृशम्।
रसत्वं पुष्यते पूर्णसुखास्पर्शित्वकारणात्॥
परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रमेव बलवत्तरा॥

—भगवद्भक्ति रसायन, २।७७-७८।

अतः रूपगोस्वामी ने इसे ही एक मात्र रस कहकर अन्य रसों को रसाभास स्वीकार किया है :

भक्तादिभिर्विभावाद्यैः कृष्णसम्बन्धवर्जितैः।
रसा हास्यादयः सप्त शान्तश्चानुरसा मताः॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु ६।२०।

एक भक्त-हृदय रखने वाले अलौकिक जगत् के व्यक्ति के लिए यह स्वाभाविक भी था। किन्तु भक्ति एक असामान्य भाव है। अतः प्रत्येक सहृदय का उसके साथ साधारणीकरण असम्भव है। परिणामतः उसके विरोध में—उसे भाव अथवा रसाभास मानने के पक्ष में—निम्नलिखित तथ्य द्रष्टव्य हैं—

(१) भक्ति के दो भेद हैं—सगुण एवं निर्गुण। सगुण भक्ति ज्ञान एवं कर्म से अनावृत है। किन्तु आज विज्ञान का युग है। राग की अप्रधानता एवं ज्ञान तथा कर्म का प्राबल्य है। आज का सहृदय भक्ति जैसे असामान्य भाव के साथ तादात्म्य स्थापित करने में असमर्थ है। इसके विपरीत निर्गुण भक्ति में निराकार की भावना ने इसे ज्ञानमार्गी बना दिया है, इसका आस्वाद कोई तत्त्वज्ञान का अध्येता ही कर सकता है।

(२) श्री० रा० श्री० जोग ने इस पर दो आक्षेप किये हैं—(क) यह मूल भावना नहीं है तथा (ख) यह व्यापक नहीं है।[2] अतः प्रत्येक सहृदय का उससे साधरणीकरण असम्भव है।

(३) प्रो० द० सी० पंगु ने आक्षेप किया है कि भक्ति में निर्जीव मूर्ति के

---

१. भगवद्भक्ति रसायन, पृ० १८।
२. सौन्दर्यशोध आणि आनन्दबोध।

प्रति निवेदन होने के कारण वह रस के समान उत्कट नहीं हो सकता, अतएव उसे भाव ही मानना चाहिए।[1]

(४) इसी प्रकार रा० हिंगरोकर की आपत्ति है कि भक्ति विक्रयाहीन है, अतएव रस नहीं कहला सकती।[2]

(५) पुनः भक्ति रस एकावलम्बी है। प्रभु पर केवल उसका विश्वास होता है, साक्षात् प्रेमालाप नहीं। अतः आलम्बन पक्ष की दुर्बलता यहाँ विद्यमान है। इस में या तो परमेश्वर की मूर्ति होती है या फिर उसकी मनोमय कल्पना करनी पड़ती है। अतः पाषणमूर्ति में सजीव के समान कैसे समान निष्ठा जागरित हो सकती है। प्रायः भक्त वियोगाब्धि में ही जला करते हैं। उसके प्रति चित्त का आकर्षण एक दुष्कर कर्म है। विप्रलम्भ के अन्तर्गत आने वाला मान नामक भेद शृंगार में जितना स्पष्ट रूप से दिखाया जा सकता है और मान मोचन भी कराया जा सकता है, उस की सम्भावना निर्जीव मूर्ति के साथ तो रह ही नहीं जाती। ब्रजसुन्दरियों में मान देश-काल बल से या मुरली-श्रवण मात्र से बिना प्रयत्न के ही छूटता है। शृंगार में यह रसाभास की स्थिति स्वीकार की गई है।

(६) यदि रस के अवतार की परिकल्पना कर ली जाय तो इसके नाते रिश्तों की प्रतिष्ठा के कारण इसमें और शृंगार में कोई भेद नहीं रह जाता। कालान्तर में यह घोर शृंगारिक और लौकिक रचनाओं पर ही उतर आता है। इससे रसाभास की ही अनुभूति होती है।

(७) रूप गोस्वामी तथा श्री रामकान्त शर्मा[3] ने भक्ति के प्रेय एवं वत्सल भेदों में रसाभास प्रदर्शित किया है। रूपगोस्वामी के अनुसार एक में ही सख्यभाव होने से, हरि के मित्र आदि की अवज्ञा से तथा युद्ध की अधिकता आदि से प्रेयान् उपरस होता है:

---

१. देखिए, रस विमर्श (डा० वाटवे), पृ० २६२।

२. वही, पृ० २६७।

(मराठी विद्वानों के मतों को हमने 'रस सिद्धान्त: स्वरूप विश्लेषण' से उद्धृत किया है।)

३. (क) प्रेय सुरस उपरस सोई, सख्य एक ही ओर।
प्रभुमित्रन सो वैर करि, करत अनादर जोर॥
यथा—सुहृद मानि भय कंपिगो छल विनती नृप कीन्ह।
मिलन चह्यो पुनि सकुचि कै, प्रभु पांचन सिर दीन्ह॥
(ख) लालनादि में सिथिलता, ईश्वरता को ज्ञान।
वत्सल रस उपरस सोई, रसाभास बुधमान॥
—प्रेमसुधा रत्नाकर, १६६।

एकस्मिन्नेव सख्येन हरिमित्राद्यवज्ञया ।
युद्धभूमादिना चापि प्रेयानुपरमो भवेत् ॥

इनमें से एक में ही सख्य-भाव का इन्होंने निम्नोक्त उदाहरण दिया है :

सुहृदित्युदितो भिया चकम्पे छलितो नर्मगिरा स्तुतिं चकार ।
स नृपः परिप्सितो भुजाभ्यां हरिणा दण्डवदग्रतः पपात ॥
—भ० र० सि०, ६।६ ।

'मित्र' ! इस प्रकार कहा गया वह राजा के डर से कांपने लगा तथा नर्मवाणी से (हंसी दिल्लगी) कथन करने पर स्तुति करने लगा एवं हरि के द्वारा दोनों हाथों से आलिंगन करने पर दण्ड के समान उनके आगे गिर पड़ा । यहाँ श्रीकृष्ण एवं उनके किसी सम्बन्धी के परस्पर मिलन का वर्णन हैं. श्रीकृष्ण उसके प्रति मैत्री का व्यवहार कर रहे हैं किन्तु वह उन्हें आराध्य, पूज्य एवं उच्च मानकर और अपने को निम्न समझकर उनके मित्र कहने पर कांपने लगता है, हंसी करने पर उसे वास्तविक समझ स्तुति करने लगता है एवं आलिंगन करने पर पृथ्वी पर दण्डवत् होकर गिर पड़ा है । इस प्रकार के उदाहरण न किसी सख्य-भक्ति का आस्वाद कराते हैं और न सामान्य सख्य-भाव का ही । इसीप्रकार वत्सल उपरस का लक्षण देखिए :

सामर्थ्याधिक्यविज्ञानाल्लालनाद्यप्रयत्नतः ।
करुणास्यातिरेकादेस्तुर्य्यश्चोपरसो भवेत् ॥

अर्थात् सामर्थ्य की अधिकता के ज्ञान से लालनादि में प्रयत्न न करने से एवं करुण के अतिरेक से वत्सल उपरस होता है । उदाहरण देखिए :

मल्लानां यदवधि पर्वतोद्भटाना—
मुन्माथं सपदि तवात्मजादपश्यम् ॥
नोद्वेगं तदवधि यामि जामि ! तस्मिन्
द्राघिष्ठामपि समितिं प्रपद्यमाने ॥ —भ० र० सि०, ६।७ ।

अर्थात् हे बहिन ! जब से मैंने तेरे पुत्र से पर्वतों के बड़े-बड़े मल्लों का (चाणूर आदि पहलवानों का) निवाश देखा है, तब से बड़ी समिति (युद्ध या सभा) में उसके (तेरे पुत्र के) जाने पर मैं उद्विग्न नहीं होता हूँ । यह कृष्ण की माँ देवकी के प्रति किसी की उक्ति है । इस प्रकार के उदाहरण भी न वत्सल भक्ति का आस्वाद कराते हैं और न वत्सल रस का ही ।

(८) इसके अतिरिक्त राम और कृष्ण के भक्तों को क्रमशः कृष्ण और राम की भक्ति में रसाभास और अधिक हुआ तो भाव का ही आस्वाद प्राप्त होगा । रूपगोस्वामी के अनुसार कृष्ण के सम्मुख अत्यन्त धृष्टता से उनके भक्तों के प्रति अवहेलना करने से, अपने अभीष्ट देव से अन्य में भक्ति का परम-उत्कर्ष के देखने से

एवं मर्यादा का अतिक्रमण होने से प्रीत उपरस होता है :[1]

कृष्णस्याग्रेऽतिधाष्ट्येन तद्भक्तेष्वहेलया ।
स्वाभीष्टदेवतोऽन्यत्र परमोत्कर्षवीक्षया ।।
मर्यादातिक्रमाद्यैश्च प्रीतोपरसता मता ।।

—भक्तिरसामृत सिन्धु, ९।५,६ ।

इसके विपरीत यही विचार रामकान्त शर्मा के राम के सम्बन्ध में हैं :

करत ढिठाई राम ढिग, दास अनादर साज ।
अन्य देव उत्कर्ष लखि, जिन अभीष्ट के काज ।।
मर्यादातिक्रमनता, आदिक अमित कुहेतु ।
प्रीत सुरस ह्वै जात है, उपरस वह कवि केतु ।।

—प्रेमसुधा रत्नाकर, पृ० १६६ ।

(९) भक्ति में अद्वैत का अभाव रहता है । भक्त अपने को भगवान् से सदा अलग ही रखना चाहता है । इससे रसाभास की कल्पना होती है । जब वह उससे पृथक् ही रहने में अपने जीवन की सार्थकता समझता है, तो उसके भजन का क्या प्रयोजन ? यदि भक्ति में आगम ग्रन्थों के अनुसार अद्वैत की भावना को मानकर चलें तो भी उससे रसाभास की ही सम्भावना है । यदि है ही अद्वैत तो यह भक्ति किसकी ? अद्वैत की स्थिति में शब्दोच्चार कैसा । रूप गोस्वामी जी ने ऐसी स्थिति

---

१. प्रीत उपरस का रूप गोस्वामी ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है, जो कि प्रस्तुत प्रसंग के बहुत उपयोगी न होता हुआ भी उद्धरणीय है—

प्रथयन् वपुर्विवशतां सतां कुलैरवधीर्य्यमाणनटनोऽप्यनर्गलः ।
विकिर प्रभो ! दृशमिहेत्यकुण्ठवाक् चटुलो बटुर्व्यवृणुतात्मनो रतिम् ।।

—भक्तिरसामृत सिन्धु, पृ० ४८६ ।

अर्थात् शरीर की विवशता को बढ़ाते हुए (अर्थात् थोड़ी भी विवशता को अधिक की तरह दिखलाते हुए) तथा सज्जनों के कुलों द्वारा तिरस्कृत नृत्य होने पर भी अनर्गल (उच्छृंखल) और हे प्रभो ! यहां (मेरे ऊपर) दृष्टि दीजिए—इस तरह निरन्तर कहने वाले चंचल बटु ने अपनी रति को दिखलाया । यह कृष्ण-प्रतिमा के सम्मुखस्थ किसी भक्त का वर्णन है । यहां विवशता की अधिकता दिखलाने एवं बारम्बार कथन आदि से धृष्टता प्रतीत होती है एवं सज्जनों के निषेध करने पर भी नृत्य आदि करने से भगवद्भक्तों में तिरस्कार सा भी प्रतीत होता है । इस प्रकार उपर्युक्त लक्षणों में से एक-दो में उपलब्ध होने से प्रीत-उपरस का उदाहरण है

से शान्त उपरस माना है[1]।

(१०) रूपगोस्वामी ने कृष्ण-सम्बन्ध से रहित रसों के वर्णन को अनुरस कहा है। उदाहरण के लिए उन्होंने निम्नोक्त वर्णन को हास्य अनुरस कहा है :

ताण्डवं व्यधित हन्त कक्खटी
मर्कटी भ्रुकुटिभिस्तथोद्धुरम्।
येन बल्लवकदम्बकं बभौ
हासडम्बरकरम्बिताननम् ॥

अर्थात् कक्खटी नामक वानर ने भ्रुकुटियों से ऐसे जोर से ताण्डव किया जिससे कि गोप का समुदाय हास से युक्त मुख वाला होकर सुशोभित हुआ। वानर का तांडव सामान्य जन के लिए आह्लादक होता है, पर रूपगोस्वामी इसे हास्य अनुरस स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार उन्होंने अद्भुत अनुरस का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है :

भाण्डीरकक्षे बहुधा वितण्डां—
वेदांततन्त्रे शुकमण्डलस्य।
आकर्णयन्निर्निमिषाक्षिपक्ष्मा
रोमाञ्चिताङ्गश्च सुरर्षिरासीत् ॥

अर्थात् भाण्डीर वन में (लता-आदि पर बैठे हुए) तोतों के समुदाय की वेदांत शास्त्र में अनेक प्रकार की वितण्डा को सुनते हुए देवर्षि नारद जी) निर्निमेष लोचन एवं रोमांच युक्त शरीर वाले हो गये। लौकिक दृष्टि से यह अद्भुत रस का विषय है, किन्तु रूपगोस्वामी जी ने इसे अद्भुत अनुरस कहा है। रूपगोस्वामी की यह अनुरस-कल्पना निश्चय ही उनकी एकांगी दृष्टिकोण की द्योतक है, किन्तु एक भक्त हृदय व्यक्ति के लिए यह अत्यन्त स्वाभाविक है। इसी प्रकार उनके अनुसार कृष्णादि विभाव इत्यादि के द्वारा भी यदि ये आठों रस तटस्थों में प्रकट होते हैं तो भी अनुरस ही माने जाते हैं :

अष्टावमी तटस्थेषु प्राकट्यं यदि बिभ्रति।
कृष्णादिभिर्विभावाद्यैस्तदाऽप्यनुरसा मताः ॥

इसी प्रकार के कुछ अन्य आरोप भी भक्ति रस पर लगाये जा सकते हैं। किन्तु इन सभी आरोपों का सच्चे भक्त के लिये कोई महत्त्व नहीं है। अपने इष्ट देव के प्रति श्रद्धा और विश्वास की तीव्रता उन्हें उसकी भक्ति में आत्म-विभोर कर देती है। चैतैन्य, तुलसी, सूर एवं मीरा को तथा इनके अनुयायियों को भगवान् की भक्ति में एक दिव्य आनन्द की अनुभुति हुई है, हो रही है, और जब तक मानव

---

१. देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० २४७।

चित्त में श्रद्धा और विश्वास के भाव विद्यमान हैं तब तक होती रहेगी। अभिप्राय यह कि भक्ति में रसाभास की सम्भावना सहृदय के संस्कारों पर निर्भर है। यदि उसकी किसी अलौकिक शक्ति के प्रति अनास्था बुद्धि है, तो उसे सचमुच भक्ति से आनन्द की अनुभूति न हो सकेगी, किन्तु इससे भक्ति रस पर कोई आंच नहीं आती। शृंगार और वीर आदि रसों के साथ भी प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक अवस्था में तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता है। इसी प्रकार भक्ति के भी अपने असाधारण सहृदय होते हैं। वे उस निर्जीव पाषाण मूर्ति पर सिर पटकने से भी आनन्द की अनूभुति मानते हैं। वियोगाब्धि में जलने को ही अपने जीवन की सिद्धि समझते हैं। उस अवस्था में वे स्वभावतः रागद्वेष आदि भावों से शून्य होते हैं। रस-सिद्धान्त में यही अवस्था आनन्दानुभूति की अवस्था स्वीकार की गई है। मधुर सम्प्रदाय में जिस भक्ति का परिपाक रस के रूप में हुआ है, उसमें परकीया प्रेम का महत्त्व है। वे लोग दार्शनिक दृष्टि से (परम) तत्त्व को 'स्व' से पर मानते हैं। शृंगार का परम उत्कर्ष परकीया के प्रेम में ही माना गया है। उसका दार्शनिक कारण जीव और ईश की भिन्नता में विद्यमान है। अर्थात् श्रुति सम्मत पथ का—सांसारिक परम्परा का—परित्याग करके ही उन्होंने आनन्द की योजना की है और उन्हें इस आनन्द का आस्वाद उपलब्ध करने में अद्भुत सफलता मिली है। उज्ज्वलनीलमणिकार का स्पष्ट कथन है:

> रागेणोल्लंघयन् धर्मम् परकीया बलार्थिना
> तदीय प्रेम वसति बुधैरुपपतिस्मृतः
> अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भक्ति भी एक रस है। इसकी कोई भक्त हृदय व्यक्ति ही अनुभूति कर सकता है। भक्ति के चित्रण से यदि कोई पाठक वैरस्य का अनुभव करता है तो उसका उत्तरदायित्व उस पाठक पर ही है। किन्तु हिन्दी कवियों ने जिस भक्ति साहित्य की रचना की है उस समग्र साहित्य को आँख मूँदकर भक्ति स्वीकार नहीं किया जा सकता। भक्ति को सार्वभौम एवं सर्वजन सुलभ रस बनाने की लालसा में कवियों ने उस अलौकिक–रस को लौकिक–रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु उनका यह चित्रण पूर्णतः सफल नहीं रहा। इससे दिव्य भूमि पर चढ़ा हुआ साधक अकस्मात् ही नीचे पृथ्वी पर आ गिरता है। अतीन्द्रियता से ऐन्द्रियता पर उतर आता है। यही स्थिति रसानुभूति में बाधक सिद्ध होती है। रीतिकाल का अधिकांश भक्ति–साहित्य इसीकारण रस न होकर रसाभास है।

अन्त में निष्कर्ष रूप में निम्नोक्त तथ्य द्रष्टव्य हैं:

(१) भक्ति भी अन्य रसों के समान एक रस है।

(२) किन्तु कुछ विशिष्ट सहृदय ही उसका आस्वाद करने में समर्थ होते हैं।

(३) भक्ति का लौकिक रूप में चित्रण रस न होकर रसाभास होता है।

१०. वत्सल रसाभास

आचार्य विश्वनाथ ने वत्सल रस का स्थायिभाव वत्सलता या स्नेह माना है। पुत्रादि सन्तान इसका आलम्बन है। उसकी चेष्टाएँ, उसकी विद्या-बुद्धि तथा शौर्यादि उद्दीपन हैं और आलिंगन, स्पर्श, शिरश्चुम्बन, एकटक उसे देखना पुलकादि अनुभाव हैं तथा अनिष्ट शंका, हर्ष, गर्व आदि इसके संचारी बताये गये हैं।[1] अपने शुद्ध रूप में चित्रित होने पर इससे शुद्ध रसानुभूति होती है, किन्तु इस सामग्री में विकृति होने की अवस्था में रसाभास की सम्भावना रहती है। इस दृष्टि से वत्सलाभास के मुख्य रूप से तीन भेद कर सकते हैं—(क) आश्रय विभाव में क्षीणता, (ख) आलम्बन विभाव में क्षीणता और (ग) उद्दीपन विभाव में क्षीणता।

(क) आश्रय विभाव में क्षीणता :

कोई कुमारी कन्या किसी शिशु के प्रति स्नेह प्रदर्शित कर सकती है, पर उसके प्रति अत्यधिक भाव प्रदर्शन रसाभास उत्पन्न कर देगा। इस प्रकार इसमें आश्रय की प्रबलता का विचार आवश्यक है। वस्तुतः वात्सल्य की भूख कुछ प्रौढ़ अवस्था में ही जागरित होती है।

(ख) अलम्बन विभाव में क्षीणता :

आलम्बन विभाव के क्षीण होने से वत्सलाभास होने के कुछ प्रसंग देखिए :

(अ) वत्सल–रस में आलम्बन पक्ष की उत्तमता अनिवार्य है। माता गर्भ के बच्चे के प्रति एक मोह पालती रहती है और उसकी रक्षा का पूर्ण विचार रखती है। इसके बाद भी यदि सन्तान बुद्धू, कुरूप तथा निर्जीव सी हुई तो उसके प्रति प्रदर्शित ममत्व अपना प्रभाव स्थापित न कर सकेगा।

(आ) यदि माँ अपनी सन्तान के कुस्वभाव—चिढ़ाना, झूठ बोलना, चोरी करना आदि की वत्सलता के कारण उपेक्षा कर देती है तो यह स्थिति रसाभास की होगी।

(इ) सन्तान अपनी ही होनी चाहिए। दूसरे की सन्तान के प्रति प्रदर्शित अत्यधिक ममता रसाभास या फिर अधिक से अधिक भाव की कोटि तक ही सीमित होगी। विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक ने अपनी ताई कविता के माध्यम से दूसरे की सन्तान के प्रति ममत्त्व प्रदर्शित कर वात्सल्य का सुन्दर चित्र खींचा है पर इस प्रकार के चित्रण विरल हैं।

---

१. साहित्य दर्पण, ३।२५१-५३।

(ई) इसके अतिरिक्त यदि कोई माता और पिता अपनी युवा सन्तान के प्रति वात्सल्य प्रदर्शित करते हैं, उसका चुम्बन अथवा आलिंगन करते हैं तो यह स्थिति सामान्यतः वत्सलाभास की होगी। वस्तुतः वात्सल्य का उपयुक्त आलम्बन शिशु सन्तान है। समर्थ कवि ही कष्टावस्था में पड़ी अथवा प्रवास से लौटी युवा सन्तान के प्रति प्रदर्शित इस प्रकार की चेष्टाओं को वत्सलाभास की अनुभूति से बचा सकता है।

(उ) किन्तु यदि माँ अपने युवा पुत्र का और अपनी युवती या किशोरी कन्या का चुम्बन आलिंगन आदि करता है तो इस स्थिति का रसाभास होना प्रायः अनिवार्य है। क्योंकि कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार पिता का पुत्री के प्रति और माँ का पुत्र के प्रति स्नेह अधिक होता है और इसका कारण विषमलिंग के प्रति आकर्षण का भाव है। उनका यह दृढ़ मत है कि उनके उक्त प्रकार के व्यवहार से चेतना या उपचेतना में वासना प्रायः अनिवार्य रहती है।

(ग) उद्दीपन विभाव में क्षीणता :

सन्तान की सामान्य चेष्ठाएं उद्दीपक सिद्ध हो सकती हैं, किन्तु उसकी उद्दण्डता रसाभास होगी। माँ उसे प्यार करे और वह अधिक लाड में आकर पास पड़े पत्थर को उठाकर माँ को मार बैठे, तो यह स्थिति रस का आस्वाद न कराएगी। इसका कारण उद्दीपन विभाव में क्षीणता है।

११. कतिपय अन्य रस तथा रसाभास

उक्त ग्यारह रसों के अतिरिक्त कुछ आचार्यों ने अन्य रसों की भी कल्पना की है। वस्तुतः ऐसे रसों के संस्थापकों ने रुचि मात्र को रस मान लेने की भूल की है। अतः प्रायः इन रसों में रसाभास भावाभास के अन्तर्गत आने वाले प्रसंगों को ही किसी रस का नाम दे दिया गया हैं। यहाँ उनका संक्षेप में उल्लेख एवं परीक्षा अनिवार्य है।

अभिनवभारती में गर्ध स्थायिभाव वाले लौल्य रस का उल्लेख मिलता है। अभिनवगुप्त ने इसका प्रत्याख्यान भी किया है।[1] इसका स्वरूप लालसामय है। हीन पात्रों अथवा प्रतिनायक की ओर से किसी ऐसी वस्तु की आकांक्षा या लालच का वर्णन जिसको वे प्राप्त करने के अधिकारी नहीं हैं—लौल्य रस के अन्तर्गत आते हैं, जो कि स्पष्टतः रसाभास की स्थिति है। इसीप्रकार उन्होंने एक आर्द्रता स्थायी भाव वाले स्नेह-रस का भी उल्लेख किया है, जो कि सम्भवतः वत्सल है।

दशरूपक (४।८३) में वर्णित मृग्य तथा अक्ष—इन तथाकथित रसों का

---

१. एषैव गन्धस्थायिकस्य लौल्य रसस्य प्रत्याख्याने सरणिर्मन्तव्या।

—अ० भा०, पृ० ६४१।

सम्बन्ध किसी भाव विशेष से न होकर मनुष्य की रुचि के साथ है। यदि काव्यों में इनका वर्णन कर दिया जाए तो उसके प्रति पाठक की विशेष रुचि नहीं हो सकती। 'शाकुन्तलम्' में वर्णित मृगया का दृश्य भयानक रस का उपस्थापक है, किसी मृग्य रस का नहीं। यदि दुष्यन्त मृगया खेलने जाते और लौट आते तो पाठक को उससे कोई विशेष प्रयोजन न होता। हाँ, यहाँ मृगया को हम भयानक रस का उद्दीपन विभाव अवश्य मान सकते हैं। इसी प्रकार स्वर्गीय प्रेमचन्द द्वारा लिखित 'शतरंज के खिलाड़ी' में यदि खिलाड़ियों के केवल खेल का वर्णन होता तो वह किसी अक्ष रस को निष्पन्न न कर पाता। वस्तुतः वहाँ भी शतरंज रौद्र निष्पन्न करने में उद्दीपन विभाव रही है। अतएव इन दोनों को ही रस नहीं माना जा सकता।

नाट्यदर्पणकार ने लौल्य और स्नेह के साथ व्यसन, दुःख तथा सुख इन तीन रसों का उल्लेख करके, इनके क्रमशः आसक्ति, अरति तथा सन्तोष स्थायिभाव बताए हैं।[1] इनमें से व्यसन, लौल्य, मृग्य तथा अक्ष के समान हैं। अरति तथा सन्तोष किन्हीं दुःख सुख रसों के उद्भावक न होकर क्रोध, घृणा, भय, रति आदि के साथ ही सम्बद्ध हैं। अतः इन्हें रस नहीं माना जा सकता।

भोज ने सरस्वती कण्ठाभरण (५।१६४) तथा शृंगारप्रकाश में चतुर्विध नायकों के आधार पर नये रसों का उल्लेख किया है। अर्थात् उनके अनुसार धीर-शान्त नायक में शान्त, धीर-ललित में प्रेयस्, धीरोदात्त में उदात्त (ऊर्जस्विन्) तथा धीरोद्धत में उद्धत रस की स्थिति मानी जा सकती है।[2] यहाँ, यह दृष्टव्य है कि उक्त चारों नायक शृंगार रस के नायक हैं। उन सभी में एक ही मूल भाव रति विद्यमान है। स्वभाव (जो कि बाह्य होता है) की भिन्नता के कारण उनके ये चार भेद किये गये हैं। इन्हें पृथक् रस स्वीकार करना उचित नहीं। शिंगभूपाल ने अपने ग्रन्थ रसार्णवसुधाकर में इन रसों की असमर्थता प्रकट की है। उनके अनुसार उक्त रसों के निर्दिष्ट स्थायी गर्व, धृति, मति आदि स्थायी नहीं बन सकते, क्योंकि उनका अपेक्षित परितोष संभव नहीं दिखाई पड़ता। वस्तुतः इन्हें हम संचारी के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। भोज ने जो उद्धत रस का उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह दण्डी द्वारा प्रस्तुत ऊर्जस्वी अलंकार का उदाहरण है, जो कि रसाभास की अनुभुति

१. गर्द्धस्यायिललौल्यम्। आर्द्रतास्थायिस्नेहः। आसक्तिस्थायिव्यसनम्। अरति-स्थायि दुःखम्। सन्तोषस्थायि सुखमित्यादि। केचिदेषां पूर्वेष्वन्तर्भावमाहुरिति। —हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० ३०६।

२. न च अष्टावेवेति नियमः, यतः शान्तम्-प्रेयांसम्-उद्धतम्-ऊर्जस्विनं च केचिद्र-समाचक्षते। तन्मूलाश्च किल नायकानां धीरशान्त-धीरललित-धीरोद्धत-धीरो-दात्तव्यपदेशाः।—भोजराज (देखिए—नं० ऑव र., पृ० १२२)

करवाता है। वस्तुतः भोज की इन रसों की कल्पना में नवीनता भले ही हो किन्तु इसमें सूक्ष्म विश्लेषण का अभाव है।[1]

इसीप्रकार भोज ने वीर रस के साथ औद्धत्य, स्वातन्त्र्य, आनन्द, प्रशम, पारवस्य, साध्वस, विलास, अनुराग, लावण्य, रति, अमर्ष, विषाद, जुगुप्सा आदि एक साथ अनेक नये रसों का उल्लेख कर दिया है।[2] एक अन्य स्थल पर उन्होंने रति, उत्कर्ष, धृति, उत्कण्ठा, उन्माद, व्रीडा, अवहित्थ, भय, शंका आदि अधिकांश सञ्चारियों को रस संज्ञा प्रदान की है।[3] भोज द्वारा निर्दिष्ट रसों को अन्य आचार्यों ने रस सामग्री के अन्तर्गत कहीं न कहीं स्थान अवश्य दिया है। ये अनुभाव, विभाव, सञ्चारी आदि के अन्तर्गत परिगणित किये जाते हैं। कोई भी कवि इनमें से किसी भी एक को लक्ष्य में रखकर काव्य निर्माण नहीं किया करता और यदि वह ऐसा करे तो उसके प्रति पाठक की कोई विशेष रुचि नहीं होगी। इनका महत्त्व नौ रसों में से किसी रस को उद्दीप्त करने में सहायक रूप में है। इन्हें पृथक् रस मानना अनुचित है। हेमराज ने काव्यानुशासन में उक्त रसों का उल्लेख करके इनका खण्डन किया है।

भानुदत्त ने छठी तरंग में कार्पण्य नामक एक रस का उल्लेख किया है। इसका स्थायिभाव स्पृहा बताया गया है।[4] किन्तु जिस प्रकार लौल्य-रस रस न होकर अनौचित्य के कारण हास्य (उपहास) मान लिया जाता है उसी प्रकार कार्पण्य को भी रस न कह कर हास्य आदि के विभाव के रूप में ही मान लेना चाहिये। कार्पण्य का स्वतन्त्र रूप से वर्णन करना रसाभास की स्थिति होगी।

भानुदत्त ने एक माया रस की कल्पना की है। वे उसका स्थायिभाव मिथ्याज्ञान मानते हैं। यह रस उन्होंने शान्त-रस के समानान्तर प्रस्तुत किया है।[5] उन्होंने तर्क पूर्वक इसे रस सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि—

१. रसार्णव सुधाकर, पृ० १७०-७२।

२. अत्र वीर-औद्धत्य-स्वातन्त्र्यरसानाम् आनन्दप्रशमपारवस्यरसैः, साध्वसविलास-अनुराग-संगमरसैः, लावण्यविलासवर्णनीयरसयोश्च।

—सरस्वतीकण्ठाभरण, ७१९-२२।

३. रसास्तु रत्युत्कर्षधृत्युत्कण्ठावेगविस्मयमिति वितर्क-चिन्ता-चपलताहासोत्साहस्तम्भगद्गदोन्मादव्रीडावहित्थभयशंकाः विंशतिः, भयशोकविस्मयक्रोधहर्षैः अपि रसान्तरैः। —सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ७२४, ५७४।

४. ननु वात्सल्यं, लौल्यं, भक्तिः कार्पण्यं वा कथं न रसः। आर्द्रताभिलाषश्रद्धास्पृहाणां स्थायीभावानां तत्र सत्वादिति चेन्न। —रसतरंगिणी १२५।

५. रसतरंगिणी, पृ० १६१।

(१) चित्तवृत्ति दो प्रकार की होती है—प्रवृत्ति और निवृत्ति। निवृत्ति में जिसप्रकार शान्त रस होता है, इसीप्रकार प्रवृत्ति में माया-रस की प्रतीति होती है।

(२) माया रस का निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि यदि निवृत्ति में शान्त-रस की कल्पना संगत है तो प्रवृत्ति में माया-रस का निषेध कैसे किया जा सकता है ?

(३) यहाँ एक शंका यह हो सकती है कि माया-रस स्वतन्त्र रस न होकर रति अर्थात् अनुरक्ति का ही एक रूप है। इसका उत्तर यह है यदि वह स्वतन्त्र स्थायी न होकर केवल व्यभिचारी ही है तो किसका ? वास्तव में माया की स्थिति तो परस्पर अनुकूल-प्रतिकूल सभी रसों में समभाव से है। कोई भी व्यभिचारी प्रतिकूल रसों में समभाव से संचरण नहीं कर सकता—अर्थात् ऐसा कोई भी व्यभिचारी नहीं है जो विपरीत रसों में भी संचरण कर सके। अतः यह शंका उचित नहीं है।

(४) दूसरी शंका यह हो सकती है कि माया-रस स्वतन्त्र रस न होकर सामान्य रस का ही पर्याय है—और शांतेतर प्रसिद्ध आठ रस उसी के विशेष रूप या भेद हैं। इसका समाधान यह है कि यदि प्रवृत्तिरूपिणी माया रस का पर्याय है तो उसका विपरीत रूप निवृत्तिमूलक 'शान्त' रस न रहकर रसाभास बन जायगा।

(५) इसलिये माया स्वतन्त्र रस ही है, व्यभिचारी नहीं—रति, शोक आदि आठों भाव विद्युत् की तरह उसमें उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं अतः वे ही इसके व्यभिचारी हैं।

(६) माया-रस का लक्षण इस प्रकार है—मिथ्याज्ञान की वासना ही प्रबुद्ध और उपचित होकर माया-रस का रूप धारण कर लेती है। इसका स्थायिभाव मिथ्याज्ञान है, सांसारिक भोगों के उत्पादक धर्माधर्म विभाव है और पुत्र, कलत्र, साम्राज्य आदि अनुभाव हैं। [1]

---

१. **मायारस—चित्तवृत्तिर्द्विधाप्रवृत्तिर्निवृतिश्चेति। निवृत्तौ यथा शान्तरसस्तथा प्रवृत्तौ मायारस इति प्रतिभाति। एकत्र रसोत्पत्तिरपरत्र नेति वक्तुमशक्यत्वात्। न च स रतिरेव स कस्यास्तु व्यभिचारी। न शृंगारस्य, तद्वैरिणो बीभत्सस्यापि तत्र सत्त्वादत एव न बीभत्सस्यापि × × × नाऽपि शान्तस्य, तद्विरोधित्वात्। न च सामान्य एव रसस्तद्विशेषा इतरे भवन्ति, शान्तरसस्य तर्हि रसाभासत्वापत्तेः। किंतु विद्युत इव रतिहास-शोकक्रोधोत्साहभयजुगुप्साविस्मयास्तत्रोत्पद्यन्ते विलीयन्ते च। तेन तत्र ते व्यभिचारिभावा इव। लक्षणं च प्रबुद्धमिथ्याज्ञानवासना माया-रसः मिथ्याज्ञानमस्य स्थायिभावः। विभावः सांसारिक भोगार्जकधर्माधर्माः। अनुभावाः पुत्रकलत्रविजय साम्राज्यादयः। (रसतरंगिणी, पृ० १६१)**

किन्तु व्यक्ति को जब यह ज्ञान हो जाएगा कि यह माया है—तो वह उसके साथ चित्त संवाद न कर सकेगा।

डॉ० नगेन्द्र के अनुसार माया वास्तव में स्वतन्त्र मनोवेग या चित्तवृत्ति न होकर समस्त वासनाओं एवं भाववृत्तियों या मनोवेगों की मूल प्रेरणा है जिसका पृथक् आस्वाद्य-रूप नहीं होता।[१] अत: इसे रस स्वीकार करना ठीक नहीं।

भानुदत्त ने रस के दो प्रकार के भेद और प्रदर्शित किए हैं। एक स्थान पर वे रस को लौकिक तथा अलौकिक भेद से दो प्रकार का मानते हैं। लौकिक के अन्तर्गत तो पूर्वकथित शृंगारादि को स्वीकार कर लिया है, किन्तु अलौकिक के अन्तर्गत सर्वथा नवीन तीन भेद हैं :—(१) स्वाप्निक, (२) मनोरथिक (व्यक्ति के हृदय में नवीन मनोरथों की उत्पत्ति, (३) औपनयिक (भिन्न अनुभवों की इच्छा—निरपेक्ष भावना)। इन सभी लौकिकालौकिक भेदों को 'साहित्य सार' के लेखक ने भी स्वीकर किया है।[२] इनमें से स्वाप्निक मिथ्यानुभूति मात्र है। शेष दो कल्पना व्यापार हैं, रस नहीं। दूसरे स्थान पर भानुदत्त ने रस के (१) अभिमुख (जिसमें विभावादि व्यक्त हों),(२) विमुख (जिसमें विभावादि का पता न चले) और (३) परमुख नाम से तीन भेद किये हैं।[३] रस के इन तीनों ही भेदों का औचित्य सन्दिग्ध है। इनमें से अभिमुख स्पष्टत: रस दशा है। विमुख को रस न कह कर इतिवृत्त की संज्ञा देनी चाहिये और परमुख के जो भावमुख तथा अलंकारमुख ये भेद किये गये हैं, उनको रस की श्रेणी में न रख कर काव्य-भेद मानना उचित है। इसप्रकार भानुदत्त द्वारा कल्पित नवीन रसों या उनके भेदों को युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता।

जैनियों के 'अनुयोगद्वार सूत्र' ग्रन्थ में व्रीडा संचारी के आधार पर व्रीडनक रस की कल्पना की गयी है।[४] वस्तुत: व्रीडनक लज्जा का ही दूसरा नाम है। इसे रस मानना ठीक नहीं। डॉ० राघवन ने हरिपाल नामक किसी लेखक के अप्रकाशित ग्रथ 'संगीत सुधाकर' के आधार पर तीन नये रसों—ब्राह्म, सम्भोग तथा

---

१. देखिए रस-सिद्धान्त, पृष्ठ २६८।

२. (क) रसतरंगिणी, पृ० १२१-१२४।
(ख) साहित्य सार, पृ० १३०-१३२ श्लोक।

३. रसतरंगिणी, पृ० १८१।

४. णव कव्व रस पण्णत्ता, तं जहा······
वीरो सिंगारो अबभुओ अ रोद्दो अ होइ बोद्धव्वो।
वेलणओ बीभच्छो हासो कलुणो पसन्तो अ।—नंबर आव रसाज, पृ० १४०।

विप्रलम्भ का उल्लेख किया है।[1] हरिपाल द्वारा प्रस्तुत सम्भोग तथा विप्रलम्भ तिर्यक् गत-भाव हैं। हरिपाल के मत में ब्राह्म और शांत ये दो पृथक् रस हैं। शांत का स्थायी भाव निर्वेद है और ब्राह्म का आनन्द। यह नित्य एवं सर्व पप्रञ्चोत्तीर्ण रस है।[2]वस्तुतः लौकिक पदार्थों के प्रति उदासीनता तथा मोक्ष-कामना ब्राह्म का मुख्य लक्षण प्रतीत होता है। शांत की सिद्धि के लिए भी विद्वानों ने यही लक्षण बताए हैं और मोक्ष ही उसका भी उद्देश्य कहा गया है। वस्तुतः हरिपाल की दृष्टि में शांत का स्वरूप सीमित था। वे उसे मोक्षावस्था से पहले की स्थिति मानते थे, जो कि ठीक नहीं। अतः ब्राह्म को शांत रस ही समझना चाहिए। ब्राह्म के समान 'अनुयोग द्वार सूत्र' द्वारा दिया गया प्रशांत रस भी महत्त्वपूर्ण नहीं है।[3]

हिन्दी में डॉ० गुलाबराय और मराठी में श्री शिवराम पंत, परांजपे तथा प्रो० जोग ने देशभक्ति को स्वतन्त्र रस कहा है। हिन्दी में आचार्य शुक्ल ने तथा मराठी में श्री द० के० केलकर तथा श्री० कृ० कोल्हटकर ने देशभक्ति के महत्त्व को तो स्वीकार किया है किन्तु इन्होंने प्रेम को व्यापक रूप प्रदान करते हुए देशभक्ति का उसी में अन्तर्भाव कर दिया है।

मराठी लेखक अनिल, जावडेकर तथा श्री विद्याधर वामन भिडे ने क्रमशः प्रक्षोभ, क्रांति तथा उद्वेग इन तीन रसों का वर्णन किया है।[4] इनमें से प्रक्षोभ को रौद्र, क्रांति को उत्साह तथा उद्वेग को बीभत्स का उद्दीपन मान सकते हैं। ये व्यक्ति के स्वभाव हैं, उसके मूल भाव नहीं।

प्रसिद्ध विद्वान् काका कालेलकर ने 'रसों का संस्कार' शीर्षक से एक लेख लिख कर एक नवीन 'प्रेम रस' की (सम्भवतः कवि कर्णपूर गोस्वामी के अनुकरण पर) कल्पना की है और शृंगार को उसका आलम्बन माना है। इस रस की कल्पना व्यापक मानवीय एकता की भावना के आधार पर की गई है। उनके अनुसार प्रेम अंगी है और अन्य रस इसके अंग हैं, किन्तु यदि इस प्रकार मानने लगेंगे

---

१. शान्तो ब्रह्ममिधः पश्चाद् वात्सल्याख्यस्ततः परम्।
सम्भोगो विप्रलम्भः स्याद् रसास्तवेते त्रयोदशाः। —वही पृ० ५५।

२. ब्राह्मो नाम रसः सर्वप्रपंचोत्तीर्णरूपकः।
नित्यः स्थिरो त एवायं पार्थक्येन प्रकीर्तितः। —वही, पृ० ५६।

३. प्रशाम्यति क्रोधादिजनितौत्सुक्यरहितो भवत्यनेनेति प्रशान्त। परमगुरुवचःश्रवणादिहेतुसमुल्लसित उपशमप्रकर्षात्मा प्रशान्तो रस इत्यल विस्तरेण। तथा—
निर्दोषमनः समाधानसम्भवो यः प्रशान्तभावेन।
अविकारलक्षणः स रसः प्रशान्त इत ज्ञातव्यः॥
—नम्बर आव रसाज, पृ० ५८।

४. सौन्दर्य तत्त्व और काव्य सिद्धान्त, पृ० ७१।

तो हम केवल रागद्वेषात्मक द्वैत स्थिति तक ही रह जायेंगे और तब केवल दो ही रस सिद्ध होंगे। इसी प्रकार की कल्पना के कारण 'विषाद रस' की कल्पना का भी जन्म हुआ है। विषाद रस का उल्लेख हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार इलाचन्द जोशी ने किया है। उनके अनुसार करुण इसका अंग है।[1] किन्तु वस्तुतः ये क्रमशः दोनों शृंगार और करुण में परिगणित किए जाने चाहिएं।

निष्कर्षतः—अनेक आचार्यों ने रसों की संख्यावृद्धि का प्रयत्न किया है, किंतु उनका यह प्रयत्न सर्वथा निष्फल रहा है। इसमें से कुछ रस मान्य रसों के परिवर्तित नाम हैं तथा शेष में से कुछ रस सामग्री के विशाल अन्तराल में समा जाते हैं। वे परिनिष्ठित ग्यारह रसों को निष्पन्न करने में सहायक हो सकते हैं, किन्तु केवल उन्हीं के वर्णन में पाठक की रुचि नहीं हो सकती। यदि कवि केवल उन्हीं की अनुभूति कराने का प्रयत्न करे तो उससे रसाभास अधिक हुआ तो भावानुभूति की ही सम्भावना रहेगी। इसका मूल कारण यह है कि स्थायिभाव में निम्नोक्त पाँच विशेषताएँ अनिवार्य हैं—(१) आस्वाद्यत्व (२) उत्कटत्व (३) सर्वजन-सुलभत्व (४) पुरुषार्थोपयोगित्व (५) अनुचित-विषय-निष्ठत्व या औचित्य। यदि किसी भाव में इसमें से एक भी विशेषता का अभाव होगा तो उससे रस-परिपाक न हो सकेगा।

---

१. विश्लेषण, पृ० १४६।

सप्तम अध्याय

हिन्दी रीतिकाव्य में रसाभास

रीतिकवियों द्वारा विरचित काव्य मुख्यतः चार प्रकार का है—शृंगारी काव्य, भक्ति काव्य, नीति काव्य एवं प्रशस्ति काव्य। इस अध्याय में इन काव्यों में वर्णित रसाभास का अन्वेषण करना अपेक्षित है।

शृंगारी काव्य

काव्य का सर्जन जिन परिस्थितियों में होता है, उसका उस पर प्रभाव पड़ा करता है। रीतिकाव्य भी इसका अपवाद नहीं है। राजनीतिक दृष्टि से यह काल युद्ध से क्लान्ति का काल हैं। इस समय राजपूतों का बल क्षीण हो रहा था और मुस्लिम शासक अपने पैर जमा चुके थे। ऐसे समय में वासना का ऐसा उद्दाम प्रवाह प्रवाहित हुआ कि पर-नारी को छीनने में राजाओं के पौरुष की अभिव्यक्ति और मानिनी नायिका को मनाना उनके जीवन का लक्ष्य बन गया। केशव ने अपने काव्य के माध्यम से तत्कालीन राजाओं का चित्र अंकित किया है। उनकी स्फूर्ति मद्यपान में थी, और चातुर्य पर स्त्री-गमन में :

पान बिलास उदित आतुरी। परदारागमने चातुरी ॥

—रामचंद्रिका, २३।३५।

प्रजा वर्ग का भी नैतिक पतन हो चुका था। काशी के नागरिकों का एक चित्र देखिए :

मारत राह उछाहन सों पुर दाहत माह अन्हात उघारैं।
बार-बिलासिनि सों मिलि पीवत मद्य, अनोदक के व्रत पारें ॥
चोरी करैं बिभिचार करैं पुनि केसव वस्तु विचार विचारैं।
जो निसिवासर कासीपुरी महँ मेरेई लोग अनेक बिहारैं ॥

—विज्ञानगीता, ५।२०।

नायिका सज-धज कर रतिरण में विजय के लिये अभियान करती थी :

गति गजराज साजि देह की दिपति बाजि,
हाव रथ भाव पत्ति राजि चली चाल सों ॥

—रसिकप्रिया, १४।२५।

इस रति-रण के लिये नायिका में अदम्य उत्साह एवं साहस होता था :

प्रेम को कवच कसि साहस सहायक लै।
जीत्यो रति-रन आज मदनगुपाल सों ॥

—रसिकप्रिया, १४।२५।

उस समय के राजा प्रजा के स्थान पर भोगों का पालन करते थे।[१] लगान के स्थान पर स्तन, मन, नैन और नितम्ब का इज़ाफा होता था।[२] प्रदेश के स्थान पर किसी नागरी के तन या हृदय पर विजय प्राप्त करने की उनमें लालसा थी।[३] विपरीत रति का युद्ध उनका प्रिय विषय था।[४] आकांक्षणी के नेत्र ही तलवार[५] थे जो सुभट के समान[६] समाज सेना[७] को पराजित करके लक्ष्य तक बेरोक-टोक चले जाते थे। अपनी धनुर्विद्या का प्रयोग करते हुए वे अपनी विलक्षण 'कमनेनी' (धनुर्विद्या-तिरछी चितवन) से सन्धान करते थे।[८] नावक सर (कटाक्ष) में घायल करने की क्षमता थी।[९] मुँह और तुरंग[१०] (निर्लज्ज नयन) खुँद (तड़पाने) करने वाले हैं।[११] विजय के उपरान्त ध्वज (मकराकृति कुण्डल) फहरा दिया जाता था।[१२] अनेक बार यह विजय सुरंग लगाकर (अपने प्रेम में फंसाकर) की जाती थी।[१३] इस विजय में कजाकी (काजल लगे नयन, एक डाकू) और खूनी प्रसन्न रहते हैं। अपराधी कोई और होता था किन्तु बाँधा किसी अन्य को जाता था।[१४] वैरी[१५] और निगोड़े[१६] भी काम्य थे। इस राज्य की राजधानी स्नेहपुर थी[१७] जहाँ का स्मर शासक था और जहाँ नेत्र ही आक्रमण करते हैं। उस राज्य में कुचगिरि[१८] पर नेत्र बटोही[१९] चढ़ते थे और रूपठग उनको लूट कर मार डालता था।[२०] अहरी[२१] और मीना[२२] जातियाँ इसी प्रकार पहाड़ों पर लूटमार किया करतीं थीं। कुलस्त्री को कुलटा बना देने में ही उस शासन का प्रयास था। इस काल (काव्य) की सभी कुलटाएँ किसी न किसी समय कुलस्त्रियाँ थीं। जब तक अवसर नहीं मिला तब तक सब कुलस्त्री रहीं किंतु एक बार स्वर्णावसर मिलने पर इस मिथ्या गरिमा की किसी ने परवाह नहीं की :

किती न गोकुल कुल-वधू, काहि न काहि सिख दीन।
कौनैं तजी न कुल-गली, ह्वै मुरली-सुर-लीन ॥
जौ लौं लखौं न, कुल-कथा, तौ लौं ठिक ठहराइ।
देखैं आवत देखि हीं, क्यौं हूँ रह्यौ न जाइ ॥

—बिहारी रत्नाकर, ६५२, ७०६।

परिणामत: इस काल की नारी विलास का एक उपकरण मात्र बन गई।

१-२२ बिहारी रत्नाकर, ५, २, २२०, १२६, २४७, १७७, १६८, ३५६, ५७० ६१०, ५४२, १०३, ३०६, ४०७, ५५२, ५६८, ४०७, २६, १७, १७४, ५०, ८७। (देखिए : हिन्दी काव्य और उसका साहित्य में बिहारी)।

देव ने कहा है :

कौन गनै पुर नगर वन कामिनि एकै रीति ।
देखत हरै विवेक को चित्त हरै करि प्रीति ।।

—रस विलास ४।४ ।

इसप्रकार नारी पुरुष के सुख-भोग का साधन-मात्र थी । उसकी सात्विकता स्वकीया की कुलकानि से उसका आत्माभिमान खण्डिता की मान दशा मे और उस की बौद्धिक शक्तियाँ विदग्धा की चातुरी से आगे नहीं जा सकती थीं । उसकी चेष्टाएँ उसकी उपभोग्यता में अभिवृद्धि करने के निमित्त थीं । अतः इनकी परिगणना नायिका के अलंकारों के अन्तर्गत की गई । उसका प्रत्येक हाव-भाव उसका लीला-विलास उसके सुख-दुःख की भावना प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उसके आकर्षण को समृद्ध करते हुए उसको अधिक से अधिक उपभोग्य बनाती है । नायिका भेद का विस्तार नारी के भोग्य रूपों का ही विस्तार है । रीतिकाल के कवि को नारी के गुण से नहीं, उसके नारीत्व से ही प्रेम था । देव ने निःसंकोच रूप से स्वीकार किया है :

काम अन्ध कामी जगत लखै न रूप कुरूप ।
हाथ लिये डोलत फिरै, कामिनि छरी अनूप ।।
तातें कामिनि एक सी, कहन सुनन को भेद ।
रचै प्यावै प्रेमरस मेटै, मन के खेद ।।
रची राम संग भीलनी, जदुपति संग अहीरि ।
प्रबल सदा वनवासिनी, नवल नागरिन पीर ।।

—रस विलास ४।१-३ ।

उनकी समझ से वन, नगर और पुर की स्त्रियों का सर्वमान्य गुण यही था कि वे देखने मात्र से ही विवेक हर लेतीं थीं । उनकी छायाग्राहिणी छवि से कोई पुरुष बच ही नहीं सकता था । ऐसी स्थिति में नाना प्रकार की प्रेम क्रीड़ाओं में संलग्न नारी जीवन के अन्य दायित्वों से प्रायः अछूती ही रह गई । उसका सामाजिक अस्तित्व समाप्त हो गया । केवल उसका रूप ही उसके लिये काम्य था । परिणामतः देव के समान जो "कैते नरना हानि की नांही सुनि, नेह सौ विहोरि हारि" रमणियों के वदन ही निहारता रहा । उसने भिन्न-भिन्न जाति और प्रदेश की कामिनियों के रूप और यौवन का खुला वर्णन करके कामियों को आकृष्ट किया ।

रीतिकालीन कवि द्वारा प्रस्तुत पुरुष और स्त्री का यह चित्रण सामाजिक मंगल के मनोभाव से अस्पृष्ट एवं जीवन की वास्तविक जटिलताओं से सर्वथा असम्पृक्त है । वस्तुतः इस काल (काव्य) में स्त्री-पुरुष अपने सामान्य गुणों का परित्याग कर चुके थे । वे केवल रसिया थे । अपनी वासनाओं की पुष्टि इनका

लक्ष्य था। इस साहित्य में प्रेम का अर्थ है ऐन्द्रिय प्रमोद। उसका रूप ठग है। नेत्र लुटेरे हैं[२] और प्रेम का आड़तिया कामदेव साक्षात् बधिक है।[3] उनका परस्पर आकर्षण एक भक्त की भाँति न आत्मा परमात्मा का मिलन था और न विवाहित स्त्री पुरुषों की भाँति सन्तान कामना के निमित्त संयोग ही। उसमें केवल शारीरिक सुख की चाह थी। मन एवं आत्मा के सूक्ष्म एवं सात्त्विक आनन्द से वे सर्वथा अपरिचित थे। उनके नयनों में किसी स्थूल सौन्दर्य का पान लेने की अमिट तृष्णा थी। यह रूप-पिपासा ही उनके जीवन की साध्य थी। परिणामतः काम अथवा प्रेम अपने एकान्त भाव का त्याग कर चुका था। वह एक के प्रति न होकर अनेक के प्रति था। अन्तरंग न होकर बहिरंग था। सच्चा प्रेम या काम भावना-प्रधान एवं एकोन्मुख होने से अंतरंग एवं सूक्ष्म होता है। इसके विपरीत उपभोग प्रधान आकर्षण प्रेम न होकर ऐन्द्रियता, वासना, विलास, चाह अथवा रसिकता होती है। प्रेम स्थिर होता है और वासना अस्थिर। अतः उस काल के काव्य को शृंगार के अन्तर्गत परिगणित नहीं किया जा सकता क्योंकि शृंगार में मानसिक अथवा आत्मिक उमंग एवं उल्लास की प्रमुखता होती है। इस आत्मिक उल्लास की प्राप्ति उसका साध्य होता है। नखशिख एवं रूप-वर्णन उसका साधन मात्र है। अभिनवगुप्त ने सभोग शृंगार के सच्चे स्वरूप की व्याख्या करते हुए लिखा है—"यह आस्था बन्धात्मिका रति में अनुस्यूत है।"[४] अर्थात् उसमें शरीर का संस्पर्श कम और आशा, अभिलाषा आदि का कल्लोल अधिक है। रस का गुण उद्वेगहीन आनन्द है, परन्तु यह काव्य कामातुर व्यक्तियों के मन में उद्वेग, तृष्णा, अशांति तथा निरुत्साह उत्पन्न करता है। शृंगार उज्ज्वल वेषात्मक है। वह व्यक्ति को आत्म-विस्तार की ओर ले जाता है, परन्तु यह वासना उसके आत्मा पर अनेक आवरण डाल देती है। यह साहित्य चित्त को स्वस्थ न कर हृद्रोग का संवर्द्धन करता है। इस प्रकार वासना को उद्दीप्त करने वाले साहित्य को शृंगार रस के अन्तर्गत परिगणित करना अशास्त्रीय है। यह सम्पूर्ण साहित्य ऐन्द्रिय है, ऐन्द्रियता का इतना बेपर्द वर्णन परिष्कृत रुचि वाले हृदय के चित्त में वैरस्य उत्पन्न करता है। इस प्रकार के साहित्य से खीझ अथवा घृणा भी जागरित होने लगती है और सुसंस्कृत पाठक इसके प्रति से अरुचि प्रदर्शित करता है।

किन्तु रीतिकालीन साहित्य कितना ही अश्लील एवं कामोद्दीपक क्यों न हो, उसके प्रति पाठक (जिनके लिए यह लिखा गया है) अरुचि प्रदर्शित नहीं कर पाया। गत दो सौ वर्षों से यह साहित्य निरन्तर अध्ययन-अध्यापन एवं सहृदय के आस्वाद का विषय रहा है। बिहारी सतसई की विविध टीकाएँ इस बात की

१-३. बिहारी रत्नाकर, १७, १५, १०४।

४. देखिए, हिन्दी अभिनव-भारती, पृ० ५६१।

ज्वलन्त प्रमाण हैं कि पाठक इसकी सोल्लास चर्वणा करता रहा है। आलोचकों ने भले ही इसे हेय साहित्य की संज्ञा दी हो और इस प्रकार के उद्दीपक साहित्य को गंगा में फेंक देने का परामर्श दिया हो और इसे शास्त्रीय दृष्टि से रसाभास कहा हो।[1] किन्तु सहृदय की रुचि इस साहित्य की ओर से विमुख नहीं हो सकी। ऐसी स्थिति में इस सम्पूर्ण साहित्य को रसाभास के अन्तर्गत भी नहीं रखा जा सकता। शास्त्रीय दृष्टि से रसाभास वहीं होता है जहाँ पाठक के चित्त में आश्रय, आलम्बन, परिस्थिति अथवा कवि के प्रति घृणा, खीझ आदि कोई न कोई भाव उत्पन्न हो और इस प्रकार का प्रचुर वर्णन तो उसे उस साहित्य को उठाकर बाहर फेंक देने के लिए भी बाध्य कर देता है। प्रबन्ध काव्यों में पाठक इस प्रकार के प्रसंगों को छोड़ देता है अथवा यथाशीघ्र पढ़ कर उससे अपने को पृथक् कर लेने का प्रयत्न करता है। किन्तु रीतिकालीन साहित्य से इस प्रकार की अरुचि उत्पन्न नहीं होती। हम यह निर्दिष्ट कर चुके हैं कि कवि में रस, भाव, रसाभास आदि के अतिरिक्त लौकिक रस अथवा लौकिक भाव के आस्वाद को उत्पन्न करने की भी क्षमता होती है, जिससे पाठक उचित अनुचित के भेद को भूल जाता है और उसकी इन्द्रियाँ इसी प्रकार का विकार अनुभव करती हैं जिस प्रकार कि लौकिक अनुभूति में होता है।

रीतिकाल का अधिकांश साहित्य इसी लौकिक शृंगार (वासना) के अन्तर्गत ही परिगणित करने योग्य है। जिसको पढ़कर पाठक खीजता नहीं वरन् उसे पढ़ कर तत्क्षण एक प्रकार के सुख की अनुभूति करता है। नैतिकता की दृष्टि से अत्यन्त हेय होने पर भी उसको पढ़कर पाठक अनैतिक तत्त्वों पर दृष्टिपात नहीं कर पाता। उसकी चर्वणा से स्वयं भले ही वह अनैतिक बन जाए। रीति-साहित्य के अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर इस स्थापना को पुष्ट किया जा सकता है। देव की सम्पूर्ण चेतना नारी के अंगों से लिपट-लिपट कर विभोर हो उठती है। एक उदाहरण लीजिए :

भोर ही भोरे ही श्री वृषभानु के आयो अकेलोई केलि भुलान्यों।
देव जू सोवत ही उत भामती झीने महा झलके पट तान्यो ।।
आरस ते उघरी इक बाँह भरी छबि देखी हरि अकुलान्यो।
मीड़त हाथ फिरे उमड़्यो-सो मड़ो बृज बीच फिर मंडरान्यो ।।

नायिका झीना पट ओढ़े सो रही थी। अकस्मात् उसकी बाँह नंगी हो गई। बस, उस नंगी बाँह के सौंदर्य को देखकर व्याकुल नायक उसके चारों ओर हाथ

१. हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य, पृ० २१६।

मीड़ता हुआ मंडरा रहा है। सचमुच अलसाई बांह की यह छवि अत्यन्त मादक है। इसमें वासना की भीनी मधुगंध है। रूप के उपभोग की यह वासना कहीं-कहीं तो अत्यन्त प्रगाढ़ हो गई है :

देव मैं सीस बसायौ सनेह कै, भाल मृगम्मद-बिन्दु कै भाख्यौ।
कंचुकी मैं चुपरचो, करि चौवा लगाय लियो उर सों अभिलाख्यौ॥
लै मुखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिंगार के चाख्यौ।
सांवरे लाल को सांवरों रूप मैं, नैनन को कजरा कर राख्यौ॥

शब्दरसायन, पृ॰ ८०।

सांवरे लाल का सांवरे रूप की कंचुकी में चोवा चुपड़ना, उसे वक्ष में भर लेना, शृंगार के रूप में आस्वादित करना, नयनों में अंजन रूप से आंज लेना—उसकी सभी इन्द्रियां उसके कामुक रूप का पान कर लेने को आतुर हैं। देव की नायिका का एक ओर चित्र देखिए :

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देव',
श्रीफल उरोज आभा से अधिक सी।
छूटी अलकनि झलकनि जलकनि निकी,
बिना बेंदी बंदन बदन सोभा बिकसी॥
तजि तजि कुंज जेहि ऊपर मधुप पुंज,
गुंजरत मंजुरव बोले बाल पिक सी।
नैननि हसाइ नैकु नीबी उकसाह, हंसि,
ससीमुखी सकुच, सरोवर तें निकसी॥

पीत रंग की साड़ी का भीग कर नायिका के गोरे अंगों में लिपट जाना और उन्हीं में मिल जाना, वस्त्र के शरीर से चिपक जाने के कारण श्रीफल जैसे सुडौल उरोजों का विशेष रूप से व्यक्त हो जाना, बिखरी हुई अलकों से जलकणों का झलकना, माथे की बिंदी और मांग का सिन्दूर घुल जाने पर मुख की सहज शोभा का निखर आना, नेत्रों में हंसना, अन्त में थोड़ा नीवी को उकसाना और संकोच से झुककर धीरे से सरोवर से बाहर आ जाना आदि—इस मनोरम चित्र को देखकर पाठक आत्म-विभोर हो उठता है। अनेक बार नायिकाओं का रूप महीन साड़ी के कारण उत्तेजना प्रद बन जाता है :

घांघरों झीन सों, सारी मिहीन सों,
पीन नितंबनि भार उठ्यो खचि। —दास, शृं॰ नि॰ २५३।

इस उदाहरण में नायिका का माँसल चित्र खींचा गया है। झीने घाघरे और महीन साड़ी से झाँकता हुआ भारी नितम्ब—पाठक ऐसी रमणी को देखने के लिए

लालायित हो उठता है। इसी प्रकार चिन्तामणि एवं ग्वाल कवि द्वारा चित्रित नायिकाएं भी दर्शनीय हैं :

—आँखिन मूँदिवे के मिस आनि अचानक पीठि उरोज लगावै।
केहूँ मुसकाय चितै अंगराय अनूपम अंग दिखावै॥
नाह छुईछल सों छतियां, हंसि भौंह चढ़ाय अनंद बढ़ावै।
जीवन के मदमत्त तिया हिम सौं पति को नित चित्त चुरावै॥

—चिन्तामणि।

—प्रीतम पास पलंग पै राजत, प्यारी पगी बतियाँ रसकीन में,
आसब आछौ अंगूरी ह्वै च्यौ, अचवै अंचवाचै अदा सुथरीन में।
त्यों कवि ग्वाल करै नुकलैं न कलै नई लावत हैं लहरीन में,
झूमै झुकै झिझकै झहरै, झुमका झलकै झमकै झपकीन में॥

—ग्वाल, रसरंग, १।८९।

ग्रामीणा का भी अपना सौन्दर्य है, पारखी उसको भी पहचानता है। उसमें भी अपना ही एक आकर्षण है :

गदराने तन गोरटी, ऐपन–आड़ लिलार।
हूठ्यौ दै, इठलाइ, दृग करै गंवारि सुवार॥

—बिहारी-रत्नाकर, ९३।

उसके दृगों का वार अचूक है। परिपक्व यौवन और गोरा शरीर, फिर कमर पर हाथ रखकर इठलाना! जब वह खड़ी होकर खेत निहारती है तब कितने ही लोग उसके यौवन पर मुग्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार की सुनकिखा की बिन्दी लगाने वाली एक अन्य नायिका देखिए :

गोरी गदकारी परैं, हँसत कपोलनु गाड़।
कैसी लसति गवारि यह, सुनकिखा की आड़॥

—बिहारी-रत्नाकर, ७०८।

देव भले ही यह घोषणा करें :

मुग्धदिक वय भेद अरु, मान सुरत सुरंतत,
बरने मत साहित्य के, उत्तम कहे न सन्त।

—सुजान विनोद।

किन्तु उन्होंने सुरतांत के चित्र भी अंकित किए हैं :

नैन लागे बैन लागे देव चित्त चैन लागे,
दुहुन के कख खखैल ही सौ खिल गये।

भरिकै सरस रस ढरके सस्याने युग,
जाने न परत जल बुन्दनि ज्यों मिलि गये ।।

प्रसंग यहीं समाप्त नहीं होता वह और भी आगे बढ़ जाता है :

फेरि फेरि जही कहि नीके नैंक रैहो कहि बैठि बैठि उठि उठि रंग रच्ये रुचिकै ।।

इस काल के कवियों ने विभिन्न अंगों विशेषत: उन्नत स्तनों का वर्णन करके इसी प्रकार की वासना उत्पन्न करने का सफल प्रयत्न किया है ।

—कंचुकी में कसे आवें उकसे उरोज बिन्दु,
बदन लिलार बड़े बार घुमड़े परत ।
—आँगी कसै उकसै कुच ऊँचे हँसे हुलसै फुफदीन की फूँदें ।
—चौकी पै चन्दमुखी कंचुकी अचर में उगकैं कुच कौरै ।
बारन गौनी बधू बड़ी बाहर की बैठी बड़े बड़े बारन छौरे ।।

केशव का वर्णन भी कहीं-कहीं अश्लीलता की सीमा तक पहुँच गया है। अंगद मन्दोदरी के केश पकड़ कर चित्रशाला के बाहर ले आए हैं । उस समय उसके कंचुकी रहित उरोजों का वर्णन देखिए :

बिना कंचुकी स्वच्छ वक्षोज राजैं,
किधौं सांचहूँ श्रीफलै सोम साजें ।
किधौं स्वर्न के कुम्भ लावन्य पूरे,
बसीकर्न के चूर्न सम्पूर्न पूरे ।।

—रामचन्द्रिका, १९।३१ ।

शत्रु स्त्री का ऐसा वर्णन कर सम्भवत: केशव इससे पाठक के चित्त में उससे घृणा उत्पन्न करना चाहते हैं, किंतु पाठक तो उसकी नग्न कुचाग्रों के दर्शन में लीन है । पद्माकर द्वारा चित्रित नायिका भी दर्शनीय है :

अधखुली कंचुकी उरोज अध आधे खुले,
अधखुले वेष नख रेखन के झलकैं ।
कहैं 'पद्माकर' नवीन अधनीबी खुली,
अधखुले छहरि छरा के छोर छलकैं ।
भोर जगि प्यारी अध ऊरध इतै की ओर,
झाँखी झिखि झरफ उघारि अधपलकैं;
आंखें अधुखुलीं अधखुली खिरकी है खुली,
अधखुले आनन पै अधखुली अलकैं ।

—जगद्विनोद, ५१७।

इस प्रकार के उदाहरण पाठक के सम्मुख किसी नायिका का चित्र उपस्थित कर देते

हैं और वह उसका दर्शन करने में लीन हो जाता है। सेनापति ने तो बहुत ही उत्ते-जक चित्र खींचा है :

कीने नत नैंन देखें मुख-चन्द नन्दन कौं,
अंक लै मयंक मुखी ताहि मल्हावति है।
बाएं कर हौरिल कों सीस राखि दाहिने सों,
गहे कुच प्यारी पयपान करावति है।

—कवित्त रत्नाकर, २, ६५।

रीतिकालीन कवियों ने अनेक स्थलों पर स्पर्श-जनित पुलक का अत्यन्त ऐन्द्रिय वर्णन किया है। गोद में बच्चे को चढ़ाते हुए युवक अपना हाथ जबर्दस्ती नायिका की कुचाओं से छुआ देता है :

लरिका लैबै कैं मिसनु लंगरु मो ढिग आइ।
गयौ अचानक आँगुरी छाती छैलु छुवाइ॥

—बिहारी-रत्नाकर, ३८६।

इसी प्रकार पाणिग्रहण संस्कार के अवसर पर नायिका ने नायक के हाथ का ज्यों ही स्पर्श किया त्यों ही उसे पसीना हो आया और उसका शरीर रोमांचित हो उठा। स्पर्श की अनुभूति से उसके मन में मिलन की जो उत्कट इच्छा प्रकट हुई वह पसीने के माध्यम से व्यक्त हो गई :

स्वेद—सलिलु रोमांच-कुसु गहि दुलही अरु नाथ।
दियौ हियौ संग हाथ कैं, हथ लेयैं हीं हाथ॥

—बिहारी-रत्नाकर, २५६।

इसी प्रकार चोर मिहीचीनी का खेल खेलते समय कम्प, स्वेद, रोमांच और अश्रु जैसे सात्विक अनुभावों को एक साथ ही देखा जा सकता है :

एक हि मौन दुरे इक संग ही अंग सौं अंग छुवायौ कन्हाई।
कम्प छुट्यो, भन स्वेद बढ्यौं, तनु रोम उठ्यो, आखियाँ भरि आई॥

—मतिराम

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नारी का सर्वाधिक स्पर्श सुख केन्द्र उसके उभरे हुए वक्षः-स्थल हैं। यौन केन्द्र के प्राथमिक अंगों से इनका जो स्वाभाविक सम्बन्ध है, वह इनमें स्पर्श जन्य सहज संकोच और रोमाँच ले आता है। इस काल के अनेक रीति-कवियों ने इनके स्पर्शजन्य रोमाँच पुलक का वर्णन किया है :

—स्वेद बढ्यौ तन, कम्प उरोजनि, आंखिन आँसू कपोलनि हाँसी।
—अंचल भीन भकें पुलकैं कुच कंद कदंब कली सी।—देव
—कौतुक एक अनूप लख्यौ सखि, आज अचानक नाहु गयो छ्वै।
श्रीफल से कुच कामिनि के दोऊ, फूलि कदम्ब के फूल गयो ह्वै॥

प्रथम दो उदाहरणों में स्पर्श का प्रसंग केलि के अवसर पर आया है, यह आनन्दानुभूति स्पष्टतः वासना प्रधान है। तीसरे उदाहरण में ऐन्द्रियता का गहरा सम्बन्ध है। पाठक भी इससे ऐन्द्रियता का अनुभव करने लगता है। अनेक बार नायिका की आतुर चेष्टाएँ भी पाठक के चित्त में ऐन्द्रियता उत्पन्न करती हैं :

—बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं भौंहनु हंसै दैन कहैं नटि जाइ॥
—बिहारी-रत्नाकर, ४७२।

—ओट तें चोट बिरी की करी पिय बार सुधारत बैठी जितै रही।
चंचल चारु दृगंचल कै तब चंदमुखी चहुँ ओर चितै रही॥
—दास।

—सांकरी खोरि में काँकरि की करि चोट चल्यो फिरि लौटि निहारौ।
तो खिन तें इन आंखिन तें न कढ्यौ वह माखन चाखन हारौ॥
—जगद्विनोद, १३८।

उपर्युक्त उदाहरणों में जो चेष्टाएँ—सौंह करना देने के लिए कहना, नट जाना, चारों ओर चकपका कर देखना, घूम कर देखना—वर्णित हुई हैं, वे सोद्देश्य और रससचेष्ट व्यापार हैं। पहले दोनों छन्दों में नायिका का अभिप्राय केवल बातचीत का रस लेना भर नहीं है। वह नायक के मन में भी वासना उत्पन्न करना चाहती है। दास का नायक भी नायिका के चकित हाव-भाव का आस्वादन करना चाहता है, इसी लिए वह ओट से बीरी की चोट करता है। नायिका चकपका कर चारों ओर देखने के मूल में भी प्रिय के प्रेमोद्दीपन की भावना निहित है। पद्माकर के उदाहरण में नायक का लौट कर पीछे देखना एक ओर उसकी चपल मनः स्थिति का द्योतक है तो दूसरी ओर नायिका के प्रेम का उद्दीपक भी। इन सभी उदाहरणों को पढ़ते हुए पुरुष पाठक अपने को नायक और स्त्री पाठक अपने को नायिका मान लेती है। इसी प्रकार नायिका की चेष्टाओं से नायक को अर्थ-बोध कराने वाला ध्वन्यात्मक दोहा देखिए :

हरषिन बोली लखि ललनु, निरखि अमिलु संग साथ।
आंखिन हीं में हंसि, धरचौ, सीस हिये धरि हाथ॥

यहाँ नायिका ने आँखों में हंस कर व्यक्त किया है कि तुम्हारे दर्शन से मुझे हर्ष हुआ। हृदय पर हाथ रखने से प्रकट किया कि तुम मेरे हृदय में आसीन हो। सिर पर हाथ रखने का अभिप्राय है कि मुझे तुम्हारी कामना शिरोधार्य किन्तु उसकी पूर्ति भाग्याधीन है। इसप्रकार अनौचित्य होने पर भी इस दोहे की ध्वनि-मूलक व्यंजना से चाह उत्पन्न होती है। इसी प्रकार का पद्माकर का एक पद देखिए :

आई खेलि होरी घरैं नवल किसोरी कहूँ
बोरी गई रंग में सुगंधन झकोरै है।
कहै पदमाकर इकंत चलि चौकी चढ़ी,
हारन के बारन के फंद बद छोरै हैं॥
घांघरे की घूमनि सु ऊरुन दुबीचैं पारि,
आंगीहू उनारि सुकुमारि मुख मोरै है।
दंतनि अधर दाबि दूनर भई सी चापि,
चौअर पंचौअर के चूनर निचोरै है॥
—जगद्विनोद, १४।

पद्माकर का यह चित्र अत्यन्त शोभन और ऐन्द्रिय है। एकांत स्थान में चुनर निचोड़ती हुई नायिका की स्वाभाविक भंगिमाएं जहाँ अपने आप में अत्यधिक आकर्षक हैं वहाँ पाठकों के मन में भी वैसा प्रभाव उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ हैं। इसीप्रकार बिहारी का निम्नोक्त दोहा देखिए :

भौंह उचै, आंचरु उलटि, मौरि मोरि, मुहु मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई, दीठि दिठ सौं जोरि॥
—बिहारी-रत्नाकर, २४२।

यहाँ पर यह प्रदर्शन ग्राम्यत्व कोटि का हो गया है। किन्तु पाठक तो नायिका का अपने आपको आलम्बन समझ लेता है। इसीप्रकार का एक और चित्र द्रष्टव्य है :

त्रिबली, नाभि दिखाइ, कर सिर ढकि, सुकुचि, समाहि।
गली, अली की ओट कै, चली भली बिधि चाहि॥
—बिहारी-रत्नाकर, ८८।

(वह मेरा) सामना कर, संकुचित हो (संकुचित होने का व्याज कर), हाथ से सिर ढांक (सिर ढांकने के निमित्त हाथ उठा), (और इस क्रिया से अपनी) त्रिबली, (तथा) नाभी दिखला, सखी की ओट करके (सखी की आँखें बचा कर), मुझे भली-भाँति (आँखें भर के) देख कर गली में चली। इस प्रकार का वर्णन भिखारीदास ने भी किया है :

मुख मोरत नैन की सैनन्ह दै अंग अंगन्ह दास देखाइ रही,
ललचौहैं लजौहैं हंसौहै चितै हित सौं चित चाव बढ़ाइ रही।
मुरिकै अरिकै दृग सों भरि के जुग भौंहनि भाव बताइ रही।
कनखा करिकै पग सौं परिकै पुनि सूने निकेत में जाइ रही।

ये नायिकाएँ मुख मोड़कर नयनों से संकेत कर, अंग-अंग को दिखाकर, मुड़कर,

अड़ कर, भौंह चला कर, कनखा कर और अन्त में सूने निकेत में जाकर किसी भी युवक को अपनी ओर आकृष्ट करने की क्षमता रखती हैं।

उत्कण्ठिता नायिका धाम की ऊपरी छत से हथेली द्वारा धूप का सेवन करती हुई श्याम की बाट जोहती है। फिर नीचे उतर आती है। ज्येष्ठ की दुप-हरी का वातावरण मिलन की दृष्टि से अत्यन्त निरापद है क्योंकि तरुओं की छाया में सभी निश्चिंतता पूर्वक सो रहे हैं :

खरी दुपहरी हरी भरी, फरी कुंज मंजु,
गुंज अलि-पुंजन को देव हियो हरि जात ;
सीरे नद-नीर, तरु सीतल गहीर छांह,
सोवैं परे पथिक, पुकारैं पिकी करि जात ;
ऐसे मैं किसोरी भोरी कोरी, कुम्हिलाने मुख,
पंकज-से पाँय धरा धीरज सों धरि जात।
सौंहे घन स्याम-मग हेरति हँथेरी-ओट,
ऊँचे धाम बाम चढ़ि आवति उतरि जात ।।

—देव

पाठक को नायिका के अनुचित कर्म (परपुरुष से मिलने की अभिलाषा) के प्रति घृणा की अनुभूति नहीं होती प्रत्युत वह उस नायिका के मिलन की आतुरता से प्रतीक्षा करता है और उस नायिका की कठिनाइयों के साथ पूर्ण तादात्म्य कर लेता है। इसीप्रकार का एक अन्य चित्र देखिए :

सूझत न गात बीति आयो अधरात, लखि
सोये सब गुरुजन जानिकै बगर के।
छिपि के छबीली अभिसार को किवार खोले,
खुलिगे सुगन्ध चहुँ चन्दन अगर के ।।
देव कहै कुंजनि तें भौंरें पुंज गुंजि आए,
पूछि पूछि पीछे परे पाहरु डगर के।
देवता कि दामिनि मिसाल है कि जोति-जाल,
झगरो मचत जगे सिगरे नगर के ।।

—देव।

आधी रात बीत चुकी है, सब गुरुजन सोए हुए हैं, चारों ओर निस्तब्धता छाई हुई है, शरीर तक दिखाई नहीं देता। नायिका चुपके से ज्यों ही किवाड़ खोलती है, उसके शरीर की सुगन्ध चारों ओर फैल जाती है। परिणामस्वरूप कुंजों से भौंरों के समूह आकर मंडराने लगते हैं, पहरेदार चौकन्ने होकर पीछे लग जाते हैं। पाठक

स्वयं नायिका के रूप-रस का पान करने में लीन है, उसको नायिका के अनुचित कार्य से कोई प्रयोजन नहीं।

उमंग में नायक का मन कुछ कच्चा हो गया और वह सखा को अपने गुप्त प्रेम का रहस्य बतलाने लगा—"दिन भर और अर्द्ध रात्रि तक तो घर पर रुकी रही परन्तु अर्द्धरात्रि में किसीप्रकार से आकर वह मेरे हृदय से लगी और दिन भर का सारा ताप दूर कर दिया। सखा चौंका कौन, कोई तुम्हारी प्रेयसी ?" तब नायक सावधान हुआ—"नहीं प्रिय वयस्य! ग्रीष्म ऋतु की शीतल वायु"।[1] इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं जो समाज की विकारग्रस्त मनोदशा के द्योतक हैं। किन्तु पाठक इनसे चमत्कृत होता है और ये उदाहरण काव्यात्मक दीप्ति के उत्तम उदाहरण स्वीकार किए जाते हैं। इसीप्रकार का एक अन्य उदाहरण देखिए—एक दिन सवेरे जब सखी घर आई तो उसने देखा कि नागरी के शरीर में आलस्य और नेत्रों में लाली है, वह पूछना ही चाहती थी कि चोर की दाढ़ी में तिनका निकल आया। नायिका का अपराधी हृदय स्वयं सफाई देने लगा—मैं गत रात्रि किसी के यहाँ रतिजगे में गई थी, इसलिए मुझे नींद सता रही है, सखी भी कितनी विनोदिनी है—अवश्य ही रंगीली तू रतिजगे से थकी हुई है, तेरे हंसौहें नेत्र उसी आलस्य की सूचना दे रहे हैं। 'रतिजगा' शब्द के प्रयोग (रात्रि-जागरण तथा रति-जागरण) से उत्पन्न परिहास ने पाठक को चमत्कृत कर दिया है।

रास्ते में श्रीकृष्ण को दधिदान मांगते हुए देख कर एक गोपिका कहती है।

> लाज गहौ, बेकाज कत घेरि रहे, घर जांहि।
> गोरसु चाहत फिरत हौ, गोरसु चाहत नांहि॥
>
> —बिहारी–रत्नाकर, १२६।

कुछ तो शर्माओ, व्यर्थ में मुझे क्यों घेरे हुए हो, घर जाने दो। तुम तो गोरस (इन्द्रिय रस) चाहते हो, दही नहीं। इसप्रकार श्रीकृष्ण का परिहास करती हुई गोपिका ने अपना मंतव्य भी प्रकट कर दिया है। दधिदान का ही एक दूसरा प्रसंग देखिए :

> ऐसी करौ करतूति बलाए ल्यों नीकी बड़ाई लहौ जग जातैं।
> आई नई तरुनाई तिहारी ही ऐसे छके चितवौ दिन रातैं॥
> लीजिए दान, हौं दीजिए जान तिहारी सबै हम जानती घातैं।
> जानौं हमैं जनि वै वनिता जिन सों तुम ऐसी करौं बलिबातैं॥
>
> —मतिराम।

---

१. बिहारी-रत्नाकर, ३८६।

तुम्हारी करतूत का क्या कहना, मैं बलि जाती हूँ, उससे तुम्हें क्या ही अच्छी बढ़ाई मिलती है, दिन रात छके हुए ऐसे देखते रहते हो मानो तुम्हें ही नई जवानी मिली हो। वही सही, 'अच्छा अपना दान लो' और हमें अपनी राह जाने दो। हमें आप के दांवघात खूब मालूम हैं। हमें व्रज की उन बालिकाओं में मत समझो जिनसे तुम घातपूर्ण बातें करते हो। इन उदाहरणों को पढ़ कर पाठक नायिका की अनुचित कामना के प्रति घृणा प्रकट नहीं कर पाता। अनुचित कामना होने पर भी नायिका की प्रगल्भता प्रेम माधुरी को तीव्र कर देती है। परोढ़ा के प्रेम का उदाहरण देखिए :

देह-लग्यौ ढिग गेहपति, तऊ नेहु निरबाहि।
नीची अंखियनु हीं इतै गई कनखियनु चाहि॥

—बिहारी-रत्नाकर, ४६७।

यह नायिका परोढ़ा है। यह अपने विवाहित पति के साथ बैठी हुई भी उपनायक को देखती है। लोक में जिस व्यक्ति (सहृदय) के प्रति किसी ऊढ़ा ने ऐसा व्यवहार किया है वह इसप्रकार के उदाहरणों को पढ़ कर उसी स्त्री के चित्र की कल्पना में खो जाता है और उसका कटाक्ष उसके लिए उत्तेजक सिद्ध होता है। इसीप्रसंग का एक अन्य उदाहरण देखिए :

ननद निनारी, सासु मायके सिधारी,
अहै रैनि अंधियारी भरी, सूझत न करु है।
पीतम को गौन कविराज न सोहात भौन,
दारुन बहत पौन, लाग्यो मेघ झरु है॥
संग न सहेली, बैस नवल अकेली,
तन परी तलबेली-महा, लाग्यो मैन सरु है।
भई अधिरात, मेरा जियरा डरात,
जागु जागु रे बटोही, यहाँ चोरन को डरु है।[१]

—सुखदेव मिश्र।

अन्त में रीतिकालीन नायक नायिकाओं का परस्पर व्यवहार देखिए जो कि सामाजिक दृष्टि से काम्य न होने पर भी पाठकों की रुचि के अनुकूल है। कभी बाल ब्यौराने के बहाने कच और अंगुलियों के बीच नेत्रों से उसने नायक को देखा।[२] कभी वह हार के व्याज से अहर्निश अपने वक्षस्थल को ही देखती रहती

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल) से उद्धृत।

२. कंज-नयनि मंजनु किए, बैठी ब्यौरति बार।
कच-अंगुरी-बिच दीठि दै, चितवनि नंदकुमार॥

—बिहारी-रत्नाकर, ७८।

है।[1] नायक चोर-मिहीचनी खेल के बहाने अंधेरी गली में किसी अपरिचित नागरी का आलिंगन करने का अवसर ढूँढता है।[2] होली के अवसर पर भी वे इसीप्रकार के अवसर ढूँढते हैं।[3] आती हैं जामन लेने और मन में स्नेह जमा जाती हैं।[4] देवर ने जो फूल मारे थे वे ही उसके शरीर में रोमांच करने लगे।[5] नायक गली से ही अपना बोल सुनाकर किसी सुन्दरी का राग बिगाड़ गया।[6] किसी के बिथुरे-सुथरे केशों में फंस कर नायक प्रायः पथ को भूल कर अपथ पर चला जाता है।[7] कभी रास्ता चलती सलोनी नायिका उसको नागिन के समान डस गई।[8] कभी उसकी पायल की ध्वनि पर मुग्ध होकर वह ललचाने लगा।[9] कभी नायिका की

---

१. मावकु उभरौंहौं भयौ, कछुकु परचौ भरुआइ।
सीप हरा कैं मिसि हियौ निसि दिन हैरत जाइ॥

—बिहारी-रत्नाकर, २५२।

२. गली अंधेरी, साँकरी भौ भटभेरा आनि।
परे पिछाने परसपर दोऊ परस-पिछानी॥ —बिहारी-रत्नाकर, २५३।

३. रस-भिजए दोऊ दुहुनु, तउ टिकि रहे, टरैं न।
छबि सौं छिरकत प्रेमरँगु भरि पिचकारी नैंन॥ —बिहारी-रत्नाकर, ५१४।

४. फेरु कछुक कार पौरि तैं, फिरि, चितई मुसुकाइ।
आई जावनु लैन, जिय नेहैं चली जमाइ॥

—बिहारी-रत्नाकर, १४४।

५. देवर-फूल-हने जु, सु सु उठे हरषि अंग फूलि॥
हंसौ करति औषधि सखिनु देह-ददोरनु भूलि॥ —बिहारी-रत्नाकर, २४६।

६. सुरति न ताल न तान की, उठ्यौ न सुरु ठहराइ।
एरी, रागु बिगारि गौ बैरी बोलु सुनाइ॥

—बिहारी-रत्नाकर, ५५२।

७. सहज सचिक्कन, स्याम-रुचि, सुचि, सुगंध, सुकुमार।
गनतु न मनु पथु अपथु, लखि बिथुरे सुथरे बार॥

—बिहारी-रत्नाकर, ९५।

८. चिलक, चिकनई, चटक सौं लफति सटक लौं आइ।
नारि सलोनी साँवरी नागिनि लौं डसि जाइ॥

—बिहारी-रत्नाकर, १९६।

९. किय हाइलु चित-चाइ लगि, बजि पाइल तुव पाइ।
पुनि सुनि सुनि मुहं-मधुरधुनि क्यौं न लालु ललचाइ॥

—बिहारी-रत्नाकर, २१२।

भोली चितवन एवं मधुर मुस्कान को देख कर नायक के मन पर स्नेह ने अपना अधिकार कर लिया।[1] यदि अवगुंठनवती नायिका जिज्ञासावश वस्त्र को हटा कर देखने लगी तो नायक ने समझा कि वह उससे प्रेम करती है[2] और फिर उसकी सखी से प्रार्थना करने लगा कि इसके मुख से वस्त्र हटाया जाए जिससे नेत्र सफल हो सकें।[3] यदि नायिका का मुख अनावृत है, तो उसकी द्युति नायक के हृदय को छेद देगी।[4] यदि नायिका हड़बड़ी में बाहर देखती हुई अपने घर में घुसी तो नायक ने समझा कि वह अनेक शृंगारिक चेष्टाएँ करके अपने प्रेम का प्रमाण दे गई।[5] उसका दृढ़ विश्वास है कि नारी से समाज को अन्य कोई लाभ हो या न हो उसका एकांत उपभोग शिशिर के शीत से मोक्ष अवश्य है।[6] एक दिन किसी कार्यवश नायक नायिका के घर गया और भला आदमी समझ कर नायिका शिष्टाचार-स्वरूप उसको पान देने लगी तो नायक उस पर रीझ गया।[7] उस दिन से उसने नायिका के पड़ोस में मकान ले लिया और उसकी एक झलक पाने के लिए

---

१. चितवनि भोरे भाइ की, गोरैं मुँह मुसकानि।
लागति लटकि अली गरैं चित खटकति नित आनि॥
—बिहारी-रत्नकार, ३०५।

२. पीठि दिये हीं, नैंक मुरि, कर घूँघट-पटु टारि।
भरि, गुलाल की मूठि सौं, गई मूठि सी मारि॥—बिहारी-रत्नाकर, ३५०।

३. हा हा! बदनु उघारि, दृग सफल करैं सबु कोई।
रोज सरोजनु कैं परैं, हंसी ससी की होइ॥—बिहारी-रत्नाकर, ५३।

४. रहि न सक्यौ, कसु करि रह्यौ बस करि लीनौ मार।
भेदि दुसार कियौ हियौ तन-दुति, भेदै सार॥
—बिहारी-रत्नाकर, ४४३।

५. भौंह ऊंचै, आंचरु उलटि, मौरि मोरि, मुँहु मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई, दीठि दिठि सौं जोरि॥
—बिहारी-रत्नाकर, २४२।

६. तपन-तेज, तपु ताप तपि, अतुल तुलाई मांह।
सिसिर-सीतु क्यौं हुँ न कटै बिनु लपटैं तिय नांह॥
—बिहारी-रत्नाकर, ३४३।

७. सहित सनेह, सकोच, सुख, स्वेद, कंप, मुसकानि।
प्रान पानि करि आपनैं, पान धरे मो पानि॥
—बिहारी-रत्नाकर, २६५

झरोखे के पास आसन जमा कर बैठ गया।[1] यह साधना उस दिन सफल हुई जब अवसर देख कर एक दिन नायक सूने घर में जान पहचान के कारण घुस गया और लज्जाशीला अबला का उसने बलपूर्वक हाथ पकड़ लिया।[2] नायिका ने 'न' किया, किन्तु नायक उसकी इसी न पर ही रीझ गया :

घरी जब बाहीं तब करी तुम 'नाहीं'।
पायं दियौं पलकाही 'नाहीं' नाहीं के सुहाई हौ॥
बोलत में नाहीं, पट खोलत में नाहीं,
कवि दूलह, उछाही लाख भां तिन लहाई हौ॥
चुँबन में नाहीं, परिरंभन में नाहीं,
सब आसन विलासन में नाहीं ठीक ठाई हौ॥
मेलि गलबाहीं, केलि कीन्हीं चितचाही, यह
हां तें भली नाहीं सो कहाँ ते सीखि आई हौ।[3] —दूलह।

पाठक इन सम्पूर्ण चित्रों को एक विचित्र तन्मयता के साथ ग्रहण करता है। वह इन्हें पढ़ कर काम-वासना का अनुभव करता है।

इस साहित्य के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने के लिये रीतिकवियों ने कामिनियों के चित्र का निर्माण एक कृत्रिम वैभवपूर्ण वातावरण एवं मादक वेशभूषा से किया है। विशाल प्रासादों, बर्फ की भांति उज्ज्वल एवं धवल सेज की चादरों, पायदान में लगे बहुमूल्य मखमल एवं रेशम, सोने-चांदी के बने इत्रदानों एवं पानदानों, साटन एवं मलमल के भड़कीले वस्त्रों, स्वर्णखचित चमकती हुई सुन्दर साड़ियों, चटकीले रंगों वाली लहरदार चारु चूनरियों, कस्तूरी और केसर के अंगराग, बहुमूल्य खनखनाती हुई चूड़ियां और बजते हुए पायल, गुलाब और बेला के गजरे, चमेली की भीनी महक—ये सब पाठक के चित्त में ऐसा 'मद' उत्पन्न करते हैं कि वह इसी के चारों ओर मण्डराते रहना चाहता है। रीतिकाल का कवि अपनी नायिका को दरिद्रता की अवस्था में नहीं देख सकता। उसे उपले चुनती, गोबर पाथती तरुणी में कोई विशेष सौन्दर्य दृष्टिगोचर नहीं हुआ क्योंकि उसे कटाक्ष करने की भी तमीज़ नहीं है। वस्तुतः रीति कवि उसी सौन्दर्य का प्रशंसक है जो

---

१. जालरन्ध्र-मग अंगनु कौ कछु उजास पाइ।
पीठि दिऐ जगत्यौ रह्यौ, डीठि झरोखें लाइ॥ —बिहारी-रत्नाकर, २६३।

२. लहि सूनें घर करु गहत दिठादिठी की ईठि।
गड़ी सु चित नाहीं करति करि ललचौंहीं डीठि॥
—बिहारी-रत्नाकर, ५८२।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल), से उद्धृत।

मादक एवं उपभोग में सर्वाधिक सुखदायक है।[1] वह इस बात केलिए अत्यन्त जागरुक है कि पाठक को उत्तेजित करने केलिए उपयुक्त आलम्बन कौन बन सकता है। सामान्य व्यक्ति जिन वस्तुओं को लोक में प्राप्त करने में असमर्थ रहता है उन्हीं वस्तुओं को वह काव्य के माध्यम से प्राप्त करने का अभिलाषी होता है। रीतिकवि सामान्य व्यक्ति की प्रवृत्तियों से भलीप्रकार परिचित था। तभी उसने ऐसे वातावरण की सृष्टि की, जो कि उसकी वासनाओं को पूर्ण करने में समर्थ रहा। उसके द्वारा चित्रित ऐन्द्रिय वर्णन सहृदय के चित्त में ऐन्द्रियता जागरित कर सका है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

यदि कोई आलोचक व्यावहारिक आलोचना करते हुए इस साहित्य को रसाभास (घृणास्पद) कहता है और उसके अनुसार यदि यह कुरुचि उत्पन्न कर आनन्द में व्याघात उत्पन्न करता है तो हम उससे असहमत हैं। हमारी दृष्टि में रीति-साहित्य के ये ऐन्द्रिय चित्र रसाभास के उदाहरण नहीं है। वास्तविकता यह है कि आलोचक अथवा अध्यापक तथा पाठक और प्रेक्षक में महान् भेद होता है। आलोचक अथवा अध्यापक का दृष्टिकोण सामाजिक उत्कर्ष रहता है। यह सामाजिक उत्कर्ष उस पर इतनी बुरी तरह छाया रहता है कि वह सहृदय बन कर भी इससे पृथक् नहीं हो पाता। परिणामतः उसे इसप्रकार के उदाहरणों में वैरस्य दृष्टिगोचर होता है। आलोचक को इस प्रकार के उदाहरणों से घृणा उत्पन्न होने में एक अन्य मनोवैज्ञानिक कारण भी है। वह पाठक से प्रशंसा का अभिलाषी होता है। वह भी इन ऐन्द्रिय उदाहरणों से घृणा न प्रदर्शित करे तो उसे भय होता है कि उस पर भी कोई अनैतिक (ऐन्द्रिय) होने का आरोप न लगा दे और कोई आलोचक यह न कहे कि इसने अपनी दूषित मनोभावना के वशीभूत होकर इस प्रकार के उदाहरणों से घृणा व्यक्त नहीं की। किन्तु सहृदय का दृष्टिकोण केवलमात्र आनन्दोपलब्धि होता है। वह रात्रि में अपनी प्रिया के साथ, (चाहे वह प्रिया काल्पनिक ही क्यों न हो[2]) एकान्त शय्या पर पड़ा हुआ इस प्रकार के चित्रों को पूर्ण ऐन्द्रियता के साथ ग्रहण करता है। हाँ, समाज में अथवा सभास्थल पर वह भी इसप्रकार के उदाहरणों से आनन्द प्राप्त नहीं कर पाता। क्योंकि उससमय उसकी नैतिकता अथवा नैतिक कहलाने की अभिलाषा ऊपर उभर आती है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि हमारा अभिप्राय सभी आलोचकों की ईमानदारी पर सन्देह करना नहीं है वरन् इसका एक कारण यह भी है कि आलोचक और

१. देखिए, हिन्दी-साहित्य, पृ० ३३८-४०।

२. आचार्य शुक्ल जी ने इसे प्रत्यक्ष स्मृति विधान कहा है। देखिए, चिन्तामणि प्रथम भाग—रसात्मक बोध के विविध रूप, शीर्षक निबन्ध।

सामान्य सहृदय के स्तर में भेद होता है। अनेक आलोचकों का नैतिक-स्तर सामान्य-सहृदय से बहुत ऊँचा होता है। परिणाम स्वरूप उनकी अनुभूतियों में भी भेद स्पष्ट है। 'कला जीवन के लिए' इस सिद्धान्त को शास्त्रीय दृष्टि से स्वीकार करने के उपरान्त उसके लिए यह अत्यन्त कठिन होता है कि वह व्यवहार में इसकी उपेक्षा कर दे। अतः उसे जहाँ भी जीवन का अनुत्कर्ष करने वाला कोई चित्र दृष्टिगोचर होता है वह उससे घृणा प्रदर्शित करता है और उसे ऐसा करना भी चाहिए। तभी वह पाठकों की रुचि को परिष्कृत कर सकेगा। किन्तु जब हम सर्वथा निरपेक्ष हो कर केवल सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए इस प्रसंग को उपस्थित करते हैं तो उक्त साहित्य को रसाभास की कोटि में परिगणित करना असंगत होगा। कारण स्पष्ट है कि नैतिकता की दृष्टि से सर्वथा अनुचित होता हुआ भी यह साहित्य पाठक की घृणा अथवा उपहास का विषय नहीं बना।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन का अर्थ यह कदापि नहीं कि इस साहित्य में रसाभास का सर्वथा अभाव है। इसका अभिप्राय केवल इतना है कि केवल अनैतिक भाव होने के ही कारण रीतिकाल के सम्पूर्ण साहित्य को आँख मूँद कर रसाभास नहीं कहा जा सकता। सच तो यह है कि इस साहित्य में भी प्रचुर मात्रा में रसाभास की सामग्री उपलब्ध होती है, जिसे हम निम्नोक्त शीर्षकों के अन्तर्गत रख सकते हैं—(१) उपनायक निष्ठ रति (२) बहुनायक निष्ठ रति (३) अधम-मात्र-निष्ठ-रति, (४) आलम्बन विभाव में अनौचित्य (५) उद्दीपन विभाव में अनौचित्य (६) अत्युक्ति (७) हलकी मनोवृत्ति एवं (८) विचित्र एवं असंगत कल्पनाएँ। अब इन पर क्रमशः प्रकाश डालते हैं।

१. उपनायक-निष्ठ-रति

ऊपर हम प्रदर्शित कर चुके हैं कि परपुरुष की परनारी के प्रति रति, कामुकता उत्पन्न करती है, किन्तु अनेक बार इससे नायिका को ठेस पहुँचती है। रीति-कवियों ने धीरा, अधीरा, खण्डिता आदि नायिकाओं का जो चित्रण किया है उसमें उसप्रकार की रति (उपनायिकानिष्ठ रति) से प्रभावित स्वकीया नायिकाओं के दोषपूर्ण कथन रसाभास उत्पन्न करते हैं। कारण स्पष्ट है कि प्रेमी पूर्ण स्वत्व चाहता है। प्रेमी को यह भी सह्य नहीं होता कि उसका प्रिय किसी अन्य से प्रेम करे। एक दिन की बात है कि एक गोपी हंसकर कृष्ण से कुछ पूछ रही थी। सहसा कृष्ण के मुख से किसी अन्य स्त्री का नाम निकल पड़ा। बस, गोपी के हाथ का पान का बीड़ा हाथ में और मुँह का मुँह में ही रह गया और आतुरतावश (नाम के) शब्दों के साथ ही उसकी आँखों से अविरल आँसू बहने लगे :

बूझति ही वह गोपी गुपालहि आजु कछू हँसिकै गुनगाथहि,
ऐसे में काहू को नाम सखी कहि कैसे धौं आइ गयो व्रजनाथहि,

खात खवावति ही जु बिरी सु रही मुख की मुख हाथ की हाथहिं,
आतुर ह्वै उनि आंखिन तें अंसुवा निकसे अखरान के साथहिं ।।

—रसिक-प्रिया, ६।५ ।

इस प्रकार के प्रसंग को पढ़कर पाठक गोपिका से सहानुभूति तथा नायक के प्रति घृणा सी व्यक्त करता है, इसीप्रकार बिहारी का एक दोहा देखिए :

मोहूँ सौं बातनु लगैं, लगी जीभ जिहिं नाइ ।
सोई लै उर लाइयै, लाल, लागियतु पाइ ।।

—बिहारी-रत्नाकर, ५६६ ।

मैं आपके पैरों लगती हूँ, मुझसे बातें करते हुए भी आपकी जीभ जिसके नाम पर लगी हुई है, उसीको ही अपनी छाती से लगाइए। इसप्रकार के चित्र पाठक के सम्मुख नायक की अपराधवृत्ति को सामने ला देते हैं और कामुकवृत्ति नायक के प्रति उसके हृदय में हल्की घृणा जागरित होती है। मतिराम ने भी इसीप्रकार का वर्णन प्रस्तुत किया है :

दोऊ अनंद सों आंगन मांझ बिराजैं असाढ़ की सांझ सुहाई ।
प्यारी को बूझत और पिया को अचानक नाउ लियो रसिकाई ।।
आई उनै मुँह में हँसी, कोपि प्रिया सुरचाप सी भौंह चढ़ाई ।
आंखिन तें गिरे आंसू के बूंद, सुहास गयो उड़ि हंस की नाई ।।

—रसराज, ३६० ।

प्रियतम में परस्त्री-रमण के चिह्न को देखकर नायिका क्रोध मे पागल हो गयी और अपने मन के भाव को दबाकर उसके स्वरूप को देखने लगी। यहाँ तक तो कुशल रहा, पर जब नायक ने उसका आलिंगन करना चाहा, तो उसकी भौंहें तन गयीं :

छवि छलकन भरी पीक पलकन त्यों ही,
श्रम जलकन अलकन अधिकानै च्वै ।
कहै पदमाकर सुजान रूपखानि तिया,
ताकि-ताकि रही ताहि आपुहि अजाने ह्वै ।
परसत गात मनभावन को भाउती की
गईं चढ़ि भौंहैं रही ऐसी उपमानै छ्वै;
मानों अरबिंदन पै चंद को चढ़ाइ दीन्ही,
मान कमनैत बिन रोदा की कमानै है ।

—जगद्विनोद, ६३ ।

किन्तु इसके विपरीत एक अन्य नायिका को देखिए। उसका प्राणपति अन्यत्र रात्रि

बिताकर प्रातःकाल आया है। नायिका ने मान किया। छत्री पैरों पर गिर पड़ा। परिणाम स्वरूप उसके नेत्रों में जो क्रोध के आँसू थे वे रस के आँसू बन गये और क्रोधमयी लालिमा अनुराग की लालिमा बन गयी :

रिस ही के आँसू रस आँसू भए आँखिन में,
रिस की ललाई सो ललाई अनुराग की ॥

—मतिराम।

एक अन्य अवसर पर पुनः उसे उसी अवस्था में देखकर वह बोली आपके उरःस्थल पर भावती ने जो वेणी की छाप लगा दी है, अर्थात् अन्य नायिका के साथ आलिंगन करने से जो वेणी का चिह्न बन गया है वह काम देव की सीढ़ी के समान है, मुझे बहुत अच्छा लगता है :

भली लगै मनभांवते, करी आभरन आप ;
काम-निसेनी-सी बनी, यह बेनी की छाप ॥

—मतिराम सतसई, पृ० ५१२।

कितना तीव्र व्यंग्य है उसके इस कथन में। इसी प्रकार का एक अन्य कथन देखिए :

उरज उरज धंसे, बसे भर आड़े लसे,
बिन गुन माल गरे धरे छवि छाए हौ।
नैन कवि दूलह हैं राते, तुतराते बैन,
देखे सुने सुख के समूह सरसाए हौ ॥
जावक सों लाल भाल पलकन पीकलीक,
प्यारे व्रजचन्द सुचि सूरज सुहाए हौ।
होत अरुनोद यहि कोद मति बसी आजु,
कौन धरवसी घर बसी करि आए हौ ?[1] —दूलह

सेनापति की खण्डिता की भी यही शिकायत है :

बिन ही जिरह, हथियार बिन ताके अब,
भूलि मति जाहु सेनापति समझाए हो।
करि डारि छाती घोर घाइन सौं राती-राती,
मोहिं धौं बतावौ कौन भांति छूटि आए हौ ॥
पीढ़ी बलि सेज, करौं औषद की रेज बेगि,
मैं तुम जियत पुरबिले पुन्य पाए हौ।
कीने कौन हाल ! वह बाघिन है बाल ! ताहि,

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २९१ से उद्धृत।

कौसति हौं लाल, जिन फारि फारि खाए हौ ।।

—कवित्त-रत्नकार, २।३५ ।

यह खण्डिता का तीव्र मर्मभेदी व्यंग्य है। वक्षस्थल पर लाल लाल घाव कहकर दन्तक्षत एवं नखक्षत की ओर उसने संकेत किया है। परस्त्री को बाघिन और 'फारि फारि खाए' कहकर वासनापूर्ति का भयंकर चित्र उपस्थित कर दिया है और यदि बहुत कहने पर भी वह न माना तो अन्त में उस बेचारी को यही कहना पड़ता है :

सदन सदन के फिरन की सद न छूटै, हरिराइ।
रुचै, तितै बिहरत फिरौ, कत बिहरत उरु आइ ।।

—बिहारी-रत्नाकर, ५४० ।

आपकी जहाँ इच्छा हो, वहीं विहार कीजिए, यहाँ आकर मेरे हृदय को क्यों विदीर्ण करते हो। तुम्हारे माथे पर लगा महावर मेरी आँखों में अग्नि के समान लग रहा है—इसे जरा दर्पण में देखो, नहीं तो थोड़े समय बाद तुम मुकर जाओगे :

पावक सो नयननु लगै जावकु लाग्यौ भाल।
मुकुरु होहुगे नैंक मैं मुकुरु बिलोकौ, लाल ।।

—बिहारी-रत्नाकर, ७६ ।

किन्तु याद रखो तुम्हारी इस झूठ बोलने से तुम्हारी ये कुचालें नहीं छिपतीं, तुम्हारी यह खिसियानी हंसी मुझे विष सी बुरी लगती है :

दुरैं न निघरघट्यौ दियैं ए रावरी कुचाल।
विषु सी लागति है बुरी हँसी खिसी की, लाल ।।

—बिहारी-रत्नाकर, ४८२ ।

तुम्हारे शरीर पर नखरेखाएँ सर्वथा स्पष्ट हैं, तुम्हारे अंग आलस्य युक्त हैं। तुम शपथ खाकर अपने अपराध को छिपा नहीं सकते :

नख-रेखा सौहैं नई, अलसौंहैं सब गात।
सौहैं होत न नैन ए, तुम सौंहैं कत खात ।।

—बिहारी-रत्नाकर, २४० ।

और तुम्हारी बांह पर चिह्नित यह वेनी तो इतनी स्पष्ट है कि मानो अभी किसी मृगनयनी का आलिंगन करके आ रहे हो :

बैसीयै जानी परति झगा ऊजरे मांह।
मृगनैनी लपटत जु यह वेनी उपटी बांह ।।

—बिहारी-रत्नाकर, ३६५ ।

रात भर जगने के कारण तुम्हारी आँखें लाल हो रही हैं :

बाल, कहा लाली भई लोइन-कोइनु-मांह।
लाल, तुम्हारे दृगनु की परी दृगनु मैं छांह ।।

तरु कोकनद-बरनबन भए अरुन निसि जागि।
बाही कैं अनुराग दृग रहे मनौ अनुरागि।
—बिहारी-रत्नाकर, १६८, १६६।

इसप्रकार तुम अपनी परनायिका-निष्ठ रति को केवल शपथ खाकर छिपा नहीं सकते। तुम्हारी आँखें इस बात की गवाही दे रही हैं। अपराधियों की भाँति तुम मुझसे आँखें मिलाने में संकुचित क्यों हो रहे हो :

लालन, लहि पाएं दुरै चोरी सौंह करैं न।
सीस-चढ़े पनिहा प्रगट कहैं पुकारें नैन॥
तुरत-सुरत कैसें दुरत, मुरत नैन जुरि नीठि।
डौंड़ी दै गुन रावरे कहति कनौड़ी डीठि॥
—बिहारी-रत्नाकर, १८४-८५।

संकुचित क्यों होते हो? निधड़क फिरा करो। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं। यदि तुम्हारी आँखें बरबस किसी पर आसक्त हो जाती हैं तो इसमें तुम्हारा क्या वश है :

कत सकुचत, निधरक फिरौ रतियो खोरि तुम्हें न।
कहा करौ, जौ जाइ ए लगैं लगौंहैं नैन॥
—बिहारी-रत्नाकर, २८६।

इन उदाहरणों से किसी अपराधी नायक का चित्र पाठक के सम्मुख उपस्थित हो जाता है, और उन द्वारा की हुई उपनायिका-निष्ठ-रति के कारण उनके प्रति क्षोभ, घृणा एवं उपहास के भाव जागरित होते हैं। अतः ये सभी रसाभास के उदाहरण हैं।

२. बहुनायक-निष्ठ-रति

रीतिकाव्य में वर्णित कुलटाएँ पाठक के चित्त में कामुकता जागरित करने से असमर्थ रही हैं। ये नायिकाएँ वासना की भूखी प्रतीत होती हैं। पात्र कुपात्र सभी के सम्मुख अपने को प्रस्तुत करने केलिए उद्यत रहती हैं। जानबूझ कर अपने अंगों का प्रदर्शन करती हैं। सब पुरुषों को वश में करके अपनी सभोगेच्छा पूर्ण करना चाहती हैं। उनके अनुभाव हल्की मनोवृत्ति के द्योतक हैं, जो कि उनके प्रति उपहास एवं उपेक्षा के भाव जागरित करते हैं। मतिराम ने अनेक प्रकार के साज शृंगार किये एक इसीप्रकार की नायिका का चित्र अंकित किया है, जो कि अपनी बिखरी अलकों एवं अस्त-व्यस्त आंचल की बिना सम्भाल किये गली के प्रत्येक आते-जाते व्यक्ति पर निरन्तर कटाक्ष कर रही है :

अंजन दै निकसे नित नैनन मंजन कै अति अंग सँवारै।
रूपगुमान भरी मग में पग ही के अंगूठा-अनौट सुधारै॥

जीवन के मद सौं 'मतिराम' भई मतवारिनि लोग निहारै।
जाति चली यहि भाँति गली बिथुरी अलकैं अंचरा न सम्भारै ॥

—रसराज, ८०।

इसी प्रसंग में पद्माकर का निम्नोक्त पद देखिए :

यों अलबेली अकेली कहूँ सुकुमार सिंगारन कै चलै कै चलै।
त्यों 'पदमाकर' एकन के उर में रस बीजनि बै चलै बै चलै।
एकन सौं बतराय कछू छिन एकन को मन लै चलै लै चलै।
एकन कों तकि घूँघट में मुख मोरि कनैखिन दै चलै दै चलै ॥

—जगद्विनोद, १०६।

इस प्रकार अपनी नारी-मर्यादा का तनिक भी विचार न करते हुए उच्छृंखल वृत्ति के प्रदर्शन से ये नायिकाएँ पाठक के चित्त पर अच्छा प्रभाव उत्पन्न करने में असमर्थ रही हैं। इसी प्रकार की नायिकाओं के अमर्यादित एवं हेय दो अन्य चित्र द्रष्टव्य हैं :

—कैसे मिलै बिधिवा अबला किये कोटि कला पलिका मैं परै जो।
एक सो ओछे उरोज छपावत औ कर एक सो नीबी धरै जौ ॥
हूँ हूँ हहा जिन नाही रहीन गहो कहि कै तिय हेरि हरै जो।
मोद महै करि तोष यहे गहे मौद गरीश्री सी सीबी भरे जौ।

—तोष, सुधानिधि, ४२६।

—प्रीति नई नित की जत है, सब सों छल की बतरानि परी है।
सीखी ढिढाई कहाँ ससिनाथ, हमै दिन द्वैक तें जानि परी है ॥
और कहा लहिए, सजनी! कठिनाई गरै अति आनि परी है।
मानत है बरज्यो न कछू सब ऐसी सुजानहिं बानि परी है ॥

—सोमनाथ।

एक अन्य नायिका को देखिए जो एक नायक पर इसलिए रुष्ट है कि वह उसे एक कुञ्ज में भेज गया, किन्तु स्वयं नहीं आया और इस कारण उसे किसी अपने अन्य 'मीत' से मिलने का अवसर नहीं मिल सका :

मोहि पठाई कुंज में, सठ आयो नहि आप;
आली औरै मीत कौ, मेरौ मिट्यो मिलाप।

—रसराज, १५५।

स्पष्टतः ये सभी उदाहरण रसाभास के हैं।

३. अधम-पात्र-निष्ठ-रति

पिछले अध्याय में हम यह प्रदर्शित कर चुके हैं कि सहृदय काव्य में उत्कृष्ट

तत्त्वों को ही देखने का इच्छुक होता है। वह अधम-पात्र-निष्ठ-रति के प्रति कोई रुचि प्रकट नहीं कर पाता।[1] रीति-कवि सहृदय पाठक की इस मनोवृत्ति से भली प्रकार परिचत था। उस काल के प्रायः सभी कवियों को इस प्रकार वर्णन करते हुए यह भय सदा रहा कि कहीं उन्हें अली का आक की कली से रली (आनन्द) का अपराध न मान लिया जाय।[2] फिर भी इन कवियों ने कुछ उदाहरण इस प्रकार के प्रस्तुत किये हैं। किन्तु पाठक पर वे कोई अच्छा प्रभाव नहीं डालते। देव तो अनेक निम्न जातियों की रमणियों से कामुकता जागरित कराने का प्रयत्न करता रहा, किन्तु हमारी दृष्टि में वह सफल नहीं हुआ। उन द्वारा प्रस्तुत एक उदाहरण देखिए, जिसमें दर्जी की वधू में अनुराग प्रदर्शित किया है—

अन्तर बैठि दुहूँ पट के कवि "देव" निरन्तरता उर आने।
देत मिलाय घने अपने गुन तार सुई किधौं सुजाने॥
ताहि लिये कर में घर में हिय जाकौ सिए मर में सुबखाने।
कीन्हीं करेजन की दरजैं दरजी की बहु बरजी नहिं मानै॥

काव्य में पाठक इसप्रकार के चित्रण को अत्यन्त उदासीनता से ग्रहण करता है। यदि एक दरजी किसी सम्भ्रान्त परिवार की युवती के अनुराग से द्रवित होता है तो उसका कारण यह है कि उसमें उस स्थिति तक पहुँचने की व्यक्त अथवा अव्यक्त कामना विद्यमान है। किन्तु अभिजात्य वर्ग का पाठक दरजी की स्त्री में व्यक्त रति के साथ साधारणीकरण नहीं कर पाता। किन्तु हाँ, यह उदाहरण दरजी जाति के अथवा उनसे निम्न जाति के लोगों के चित्त में पूर्ण रस निष्पन्न कर सकेगा इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं है। दत्त कवि का निम्नोक्त उदाहरण भी इसीप्रसंग में द्रष्टव्य है :

गेह तें निकासि बैठि बेचत सुमनहार,
देह दुनि देखि दीह दामिनी जला करै।
मदन उमंग नव जोबन तरंग उठै,
वसन सुरंग अंग भूषन सजा करे।
'दत्त' कवि कहैं प्रेम पालन प्रवीनन सों,
बोलत अमोल बैन बीन-सी बजा करे।
गजब गुजारती बाजार नचाय नैन,
मंजुल मजेज भरी मालिन मजा करै॥

---

१. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० २०९-२१२।
२. बिहारी-रत्नाकर, १४।

इसी प्रकार बिहारी ने दही-बिलोवनहारी का अत्यन्त रस लेकर के वर्णन किया है :

रही दहेंड़ी ढिग धरी, भरी मथनिया बारि।
फेरति करि उलटी रई नई बिलोवनहारि ।।

—बिहारी-रत्नाकर, २४५।

और कातनहारी भी उनकी दृष्टि से नहीं बची :

ज्यौं कर, त्यौं चिकुटी चलति, ज्यौं चिकुटी, त्यौं नारि।
छबि सौं गति सी लै चलति चातुर कातन-हारि ।।

—बिहारी-रत्नाकर, ६४७।

किन्तु इसप्रकार के स्थलों को देखकर कवि की दूषित मनोवृत्ति ही प्रकट होती है। पाठक इन नायिकाओं के चित्रण मे कोई रस प्राप्त नहीं कर पाता। इसीप्रकार यदि कोई भिक्षुक किसी रमणी को देखकर द्रवित होता है तो वह पाठक की अरुचि का ही विषय बनता है :

कन दैबौ सौंप्यौ ससुर, बहू थुरहथी जानि।
रूप-रहचटैं लगि लग्यौ मांगन सबु जगु आनि ।।

—बिहारी रत्नाकर, २६५।

ये सभी उदाहरण रसाभास के ही स्वीकार किए जाने चाहिएँ।

४. आलम्बन विभाव में अनौचित्य

रीति-कवियों ने नायिकाओं के (आलम्बन) अंगों की शोभा और कांति का बड़ा ही हृदयहारी और कभी-कभी फड़का देने वाला वर्णन किया है। यह वर्णन कुच, नितम्ब, नेत्र, मुख, केश तक तो ठीक हैं जो कि पाठक के लिए वासना-जन्य सिद्ध होते हैं किन्तु जब पजनेस ग्वाल, चन्द्रशेखर, वाजपेयी जैसे कवि प्यारी के मुख के मस्से का वर्णन करते हैं, और तो और, चेचक के दाग का भी रस ले करके वर्णन करते हैं तो पाठक को इससे रसाभास की ही अनुभूति होती है। कुछ उदाहरण देखिए :

—पूरण मयंक कैधौं मेटि के कलंक कियो,
अंक में समेटि कै नखत बड़ भाग है।
कैधौं रंगरेज मैन बांधन विचित्र बांध्यौ,
कैधौं रूपछीर में उफनि आयो झाग है ।।
कैधौं नए सोभा के बये हैं बीज रचि रचि
कंचन के भूमि में जड़ित पुष्पराग है।
'नाथ' अनुराग है की फूल्यो मैन बाग है की,

सौति को सुहाग है की शीतला को दाग है ।

—दिग्विजय-भूषण, १५।६२ ।

दाग शीतला को नही, मृदुल कपोलन चार ।
चिह्न देखि इन ईठि के, परो डीठि के भार ।।

—रसलीन, दिग्विजयभूषण, १५।६३ ।

इसीप्रकार नेत्र का तिल भी इन कवियों को सुन्दर लगा :

—राजै बाम लोचनी के तिल बाम लोचन में,
ताकी छबि कहिबे को कौन धौं समान हैं ।
जहां तिल तहां नेह यह न सनेह जानि,
चित्र चिकनाई को बिचार्यो अनुमान है ।।
शिशुता के भावते रुखाई दरसाय ताकी,
एकै युक्ति आई जिय प्रीतम प्रमान है ।
नाहक चतुर मन दीन छीन लेत नैन,
तिल न लग्यौ है ताको पातक निसान है ।।

—दिग्विजय-भूषण, १५।१३० ।

वस्तुतः चेचक के दाग आदि कुरूपता के जनक हैं । यदि कोई कवि इनसे भी रस लेता है तो वह उसकी उद्दाम वासना की सूचक है । वह काम से अन्धा होकर असौंदर्य को सौंदर्य बना कर देखने का व्यर्थ प्रयत्न कर रहा होता है । जो कि उसको भले ही उपयुक्त प्रतीत हो, किन्तु पाठक की दृष्टि में उसका यह प्रयत्न उपहासास्पद है ।

जायसी ने पद्मावती के अद्भुत रूप का वर्णन कर उसे पारस रूप की संज्ञा प्रदान की है । उसी के अनुकरण पर रीतिकवियों ने भी अपनी नायिका का रूप वर्णित किया है । जिस प्रकार नायिका की कुरूपता अनुचित है, उसी प्रकार उसके सौन्दर्य के अलौकिक एवं अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन के साथ भी पाठक तादात्म्य नहीं कर पाता । एक उदाहरण देखिए :

सोभा पाई कुँज भौन जहाँ जहाँ कीन्हो गौन,
सरस सुगंध पौन पाई मधुपनि है ।
वीथिन बिथोरे मुक्ताहल मराल पाए,
आली दुसाल साल पाए अनगनि है ।।
रैनि पाई चांदनी फठक सी चटक रुख,
सुख पायो पीतम प्रवीन बेनी घनि है ।
बैन पाई सारिका, पढ़न लागी कारिका,
सो आई अभिसारिका कि चारु चिंतामनि है । —बेनी-प्रवीन ।

यदि नायिका का आध्यात्मिक रूप प्रकट करना कवि का उद्देश्य नहीं तो इस प्रकार के वर्णन पाठक पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं डालते। एक उदाहरण और देखिए :

सजि बृजचंद पैं चली यों मुखचंद जाको,
चंद-चांदनी को मुख मंद सो करत जात।
कहै 'पदमाकर' त्यों सहज सुगन्धि ही के,
पुंज बन कुंजन में कंज से भरत जात॥
धरति जहाँई जहाँ पग है सु प्यारी तहाँ,
मंजुल मजीठ ही के माठ से ढरत जात।
हारन तें हेरौं सेत सारी के किनारन तें,
बारन तें मुकता हजारन झरत जात॥

—जगद्विनोद, २४५।

ये उदाहरण रसाभास के ही स्वीकार किये जाने चाहिएं।

५. उद्दीपन विभाव में अनौचित्य :

उद्दीपन के अन्तर्गत आलम्बन की चेष्टाएँ एवं बाह्य—वातावरण दोनों की परिगणना होती है। रीतिकाव्य में आलम्बन की चेष्टाओं के अनौचित्य से कामुकता जागरित करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु वातावरण के अनौचित्य के कारण वे उदाहरण रसाभास ही बन पाए हैं। बिहारी ने गुरुजन के मध्य बैठे हुए नायक नायिका में रति उत्पन्न करने की चेष्टा की है :

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात
भरे भौन मैं करत हैं नैननु ही सब बात।

—बिहारी-रत्नाकर, ३२।

गुरुजन से भरे भवन में नायक नायिका से रति की प्रार्थना करता है, किंतु नायिका उसका निषेध करती है। नायक नायिका की इस निषेध करने की चेष्टा पर ही रीझ जाता है, उसके इस रीझने से नायिका के चित्त में खीझ उत्पन्न होती है, इसके उपरांत अकस्मात् ही दोनों की दृष्टि मिल जाती है, नायक मुस्करा देता है, नायिका उसको हंसता हुआ देख कर लज्जित हो जाती है। निःसंदेह ये चेष्टाएँ अत्यन्त उद्दीपक हैं किन्तु पृष्ठभूमि में गुरुजन से भरे भवन के होने के कारण पाठक उनकी इन चेष्टाओं के साथ तादात्म्य करने में असमर्थ रहता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यहाँ पाठक नायक और नायिका की इस भरे भवन में की जा रही इस प्रकार की चेष्टाओं के कारण उन दोनों में से किसी के साथ घृणा व्यक्त नहीं कर पाता, इसके विपरीत उनके चातुर्य को देखकर प्रसन्नता ही अनुभव करता है। ऐसी स्थिति में इस उदाहरण के रसाभास होने का कारण यह है कि पाठक कवि द्वारा वर्णित चेष्टाओं के विरुद्ध किसी अन्य भावना (चतुरता)

को ही अनुभव करता है। रसाभास के उदाहरणों में घृणा अथवा खीझ आदि का ही उत्पन्न होना आवश्यक नहीं, प्रत्युत उसके लिए कवि द्वारा वर्णित भाव के विरुद्ध किसी अन्य ही भाव का जागरित हो जाना है। यह भाव घृणा, उपहास, उपेक्षा आदि का भी सम्भव है और दया, सहानुभूति, श्रद्धा अथवा चातुर्य आदि का भी। इस अवस्था में भावक इतना तल्लीन नहीं होता जितना कि रस की अवस्था में होता है। रसाभास के इसी स्वरूप के ही कारण हमने उक्त उदाहरण को रसाभास के अन्तर्गत परिगणित किया है। इसप्रकार के उदाहरणों में नायक नायिका के अनौचित्य पूर्ण व्यवहार के प्रति घृणा व्यक्त न होने पर भी पाठक प्रसंग में पूर्ण तन्मय नहीं रह पाता और न उसे इससे शृंगार की अनुभूति होती है। वह उनकी क्रियाओं को देखकर प्रसन्न होता है। इसीप्रकार का एक अन्य उदाहरण देखिए :

लखि गुरुजन-बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम।
हरि-सनमुख करि आरसी हियैं लगाई बाम ।।

—बिहारी-रत्नाकर, ३४।

नायिका को गुरुजन के मध्य देख कर श्याम ने अपना सिर कमल से झुकाया, जिसका अर्थ यह था कि मैं तुम्हारे चरण कमलों पर नत मस्तक होता हूं। नायिका ने नायक का भाव समझ कर अपनी आरसी श्याम के सम्मुख करके, अर्थात् उसे प्रतिबिम्ब के रूप में प्राप्त करके अपने हृदय से लगा ली जिसका अभिप्राय यह था कि मैं तुम्हें अपने हृदय में बसाती हूँ। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण देखिए :

जेठी बड़ीनु में बैठी बधून न पीठि दिये पिय दीठि सकोचनि।
दर्पन की मुँदरी दृग दै पिय कौ प्रतिबिम्ब लखै दुखमोचनि ।।
सो परिछाँह निहारत नाह चढ़ी चित चाह गड़ी गुरु सोचन।
देव सु भौहनि भै उपजाय भजाय ले जाय लजाय के लोचन ।। — देव

इसी प्रकार 'सासन की पुतरीन में प्रीतम को प्रतिबिम्ब निहारो' आदि उदाहरण में भी उक्त प्रकार का चित्र उपस्थित किया गया है। हमारी सम्मति में इस प्रकार के वर्णन रसाभास के अन्तर्गत परिगणित होने चाहिएं।

६. अत्युक्ति

रीतिकवियों ने विशेष रूप से विरह–वर्णन में तथा नारी की सुकुमारता के चित्रण में अत्युक्ति का प्रयोग किया है जो कि अनुकूल प्रभाव उत्पन्न नहीं करता।

(क) विरह वर्णन :

बिहारी नायिका के प्रति नायक की सहानुभूति जागरित करने के निमित्त यहाँ तक कह डालते हैं कि विरह ने नायिका के शरीर को इतना अदृश्य बना दिया है कि स्वयं मृत्यु भी उसे अपनी आँखों पर चश्मा लगाकर देखती है किन्तु फिर भी

वह उसे उसकी कृशता के कारण दीख नहीं पड़ती :

—करी विरह ऐसी, तऊ गैल न छाड़तु नीचु ।
दीनैं हूँ चसमा चखनु, चाहै, लहै न मीचु ।।

—बिहारी-रत्नाकर १९४० ।

—नैंक न जानि परति, यौं पर्यौ बिरह तनु छामु ।
उठति दियैं लौं नांदि, हरि, लियैं तिहारौ नामु ।।

—बिहारी रत्नाकर, ११४ ।

अनेक स्थलों पर विरह के कारण नायिका सचमुच मर जाती है :

कहै जु वचन वियोगिनी विरह-विकल बिललाइ ।
किए न को अंसुवा-सहित सुबा ति बोल सुनाइ ।।

—बिहारी-रत्नाकर, ५३७ ।

विरह की तीव्रानुभूति किसी नायिका की जान भी ले सकती है यह पाठक की कल्पना से बाहर है। इसी कारण शास्त्रकारों ने विरह के चित्रण में मरण-अवस्था का वर्णन निषिद्ध किया है और इसे रस-विच्छेद का हेतु माना है :

रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते ।
जातप्रायं तुतद्वाच्यं चेतसाकांक्षितं तथा ।।

बिहारी की भांति विरह ताप के प्रभाव का वर्णन करने में देव कवि निपुण दीखे पड़ते हैं । वे इसकी ज्वाला में इतनी तीव्रता ला देते हैं जिसके सामने शीतकाल की रात्रि में पंखा करने पर भी विरहिणी नायिका की बेचैनी दूर नहीं हो पाती; जैसे :

बालम-बिरह जिन जान्यो न जनम-भरि
बरि-बरि उठै ज्यों-ज्यों बरसै बरफ राति ।
बीजन डुलावत सखी-जन त्यों सीत हूँ मैं,
सौती के सराप, तन तापन तरफराति ।।
'देव' कहै—सांसन ही अंसुवा सुखात मुख,
निकसै न बात, ऐसी सिसकी सरफराति ।
लौटि लौटि परत करौट खाटी पाटी लै-लै;
सूखे जल सफरी ज्यों सेज ते फरफराति ।।[1]

अर्थात् जिस प्रकार जल के सूख जाने पर शुष्क स्थल पर मछली तड़पने लगती है उसीप्रकार वह विरहिणी नायिका भी खाट की पाटी से लगकर बार-बार करवटें बदलती है। उसे ठंडे से ठंडा वातावरण तक शान्ति नहीं पहुँचा पाता । यहाँ पर "सौति के सराप" की ओर संकेत करते हुए भी, इस कवि ने विरहिणी के केवल

१. देव और बिहारी (गंगा पुस्तक माला लखनऊ) से उद्धृत ।

शारीरिक कष्ट को ही अधिक महत्त्व दे डाला है। मानसिक वेदना को उसने सारे दुःखों का मूल स्रोत माना है, किन्तु बाह्य बातो के अत्युक्तिपूर्ण वर्णन द्वारा उसे भलीभांति स्पष्ट नहीं होने दिया। इसी कवि ने एक अन्य स्थल पर किसी नायिका की पूर्वानुराग-जन्य अनन्यमनस्कता का वर्णन इस प्रकार किया है :

भेष भए विष, भावै न भूषन,
भूख न भोजन की कुछ ईछी।
'देवजू' देखे करै बघु सो मधु,
दूधु, सुधा, दधि, माखन छी-छी॥
चन्दन तौ चितयो नहि जात, चुभी
चित माँहि चितौनि तिरीछी,
फूल ज्यों सूल, सिला-सम सेज
बिछौननि बीच बिछी मनौ बीछी॥[1]

अर्थात् जब से पूर्वानुराग ने प्रेमिका के हृदय पर अधिकार जमाया तब से उसकी दशा ऐसी हो गई कि उसे खाना पहनना आदि कुछ भी नहीं भाता, प्रत्युत अपने प्रतिकूल सा जंचता है, और वह मधुर एवं सुखद पदार्थों को देखकर भी छी-छी करती है, शीतल चन्दन की ओर वह दृष्टिपात तक नहीं करती, फूल उसके लिए शूलवत् हो गए हैं, शय्या प्रस्तर खण्ड के समान कठोर लगती है और उस पर बिछाए गए बिछौने ऐसे प्रतीत होते हैं कि मानो वे बिच्छुओं से भरे पड़े हैं। इस-प्रकार यहां देव कवि ने प्रेम द्वारा प्रभावित रमणी की मनोदशा का चित्रण करते समय उसे भली लगने वाली वस्तुओं को भी दुःखप्रद बना दिया है। किन्तु उन्होंने यह वर्णन ऐसे ढंग से किया है जिसमें उसके अतिरंजन के कारण अस्वाभाविकता भी आ गई है। इसीप्रकार का पद्माकर का एक पद देखिए :

ए हो नन्दलाल ऐसी व्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलौ तो चलौ जोरि जुरि जायगी।
कहै पदमाकर नहीं तौ ये झकोरे लगें,
औरे लौं अचाक बिन घोरे घुरि जायगी॥
सीरे उपचारन घनेरे घनसारन को,
देखतहीं देखौ दामिनी लौं दुरि जायगी,
तौही लगि चैन जौ लौं चेतत ही न चंदमुखी,
चेतैगी कहूँ तौ चांदनी में चुरि जायगी॥

—जगद्विनोद, ६६८।

---

१. देव और बिहारी (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ), से उद्धृत।

अर्थात् विरह ज्वाला के कारण उसका शरीर ओले की भाँति बिना घोले घुला जा रहा है और ठंडी से ठंडी वस्तुओं के उपचार उसे सह्य नहीं होते। और उन्हें देखते ही वह विद्युत् के समान अन्तर्हित होती है। वह जब तक संज्ञाहीन है तभी तक चैन है। यदि कहीं वह चेत हो गई तो यह भी आशंका है कि वह कहीं चाँदनी की आँच में पड़कर चुर न जाए। पद्माकर की इस कविता को पढ़ते समय देव कवि के एक सवैये का स्मरण होता है जिसमें उन्होंने नायिका की 'व्याधि' दशा का वर्णन किया हैं :

फूल से फैलि परे सब अंग,
दुकूलन मैं दुति दौरी दुरी है।
आँसुन के जल-पूर में पैरति,
साँसन सों सनि लाज लुरी है॥
'देवजू' देखिए, दौरि सदा,
ब्रज पौरि विथा की कथा विथुरी है॥
हेम की बेलि भई हिमरासि,
घरीक मैं घाम सों जाति घुरी है।[1]

इसी प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण देखिए—

—नागरि के नैनन ते नीर को प्रवाह बढ़्यो,
देखत प्रवाह बढ़्यो जमुना के नीर को॥
—बाल विलोचन वारि के बारिधि बढ़ै अपार,
जारै जौ न वियोग की बडवानल की झार॥ —रसराज, ३८३।
—जागत ओज मनोज के, परसि पिया के गात;
पापर होत पुरैनि के, चंदन पंकिल पात॥—मतिराम ग्र०, ९७।
—कट्टर सी केसर कपूर लग्यों काल सम।
गाज सो गुलाब लग्यो अरगजा आग सो। —जगद्विनोद १८७।
—घन घमंड पावस निसा, सरवर लग्यो सुखान।
परखि प्रानपति जानि गो, तज्यौ मानिनी मान॥ —पद्माकर।
—बरसत मेह अछेह अति, अवनि रही जल परि,
पथिक तऊ तुव गेह ते, उठत, भभूकानि धूरि। —पद्माकर।

अर्थात् नायिका की विरहाग्नि का ताप इतना प्रबल है कि उस गृह पर वर्षा के जल का कोई प्रभाव ही नहीं है। हो कैसे ? पद्माकर के मनोविज्ञान के अनुसार तो विरहाग्नि में जल तेल का काम करता है। विरह को उत्तेजित करता है, शांत

1. देव और बिहारी (गंगा पुस्तकालय, लखनऊ), से उद्धृत।

नहीं। यथा :

ज्यों ज्यो बरसत घोर घन, घन घमंड गरुवाइ।
त्यों-त्यों परति प्रचंड अति, नई लगन की लाइ।।

पद्माकर की इस नायिका को देखकर बिहारी की नायिका का स्मरण हो आता है :

औंधाई सीसी, सु लखि, विरह-बरनि बिललात।
बिच हीं सूखि गुलाब गौ, छीटौ छुई न गात।।
—बिहारी-रत्नाकर, २१७।

एक और बेचारी विरह के कारण इतनी कृश हो गई है कि कौओं को उड़ाती है तो उसकी चूड़ियाँ गले में आं जाती हैं :

"हाथ उठाओ उड़ाइवें को उडि काग गरे परी चारिक चूरि"
—सुख सागर तरंग, ५९४।

इसी प्रकार केशव ने राम के वियोग का चित्रण करते हुए मुद्रिका को 'कंकण' बना दिया है :

तुम पूँछत कहि मुद्रिके, मौन होति यहि नाम।
कंकण की पदवी दई, तुम बिन या कहं राम।।
—रामचंद्रिका ३१। ८५।

विरह के ये सभी उदाहरण पाठक को विरह की अनुभूति कराने में असमर्थ सिद्ध होते हैं। उसका मुख्य कारण यह है कि यह विरह का ऊहात्मक वर्णन है, पाठक लोक में किसी विरहिणी को इतने अधिक विरह में दग्ध नहीं देख पाता। वह इसे असम्भव मानता है। यद्यपि काव्य में असम्भव तत्त्व भी सम्भव बन सकते हैं—यथा हनुमान् का समुद्र उल्लंघन का प्रसंग—किन्तु उसका कारण भारतीय मस्तिष्क में हनुमान् की दिव्य शक्ति के प्रति आस्था का होना है। अभिप्राय यह है कि पाठक काव्य में उन्हीं असम्भव तत्त्वों के साधारणीकरण करने में समर्थ सिद्ध होता है जो कल्पना अथवा आस्था से सम्मत होते हैं। अन्यथा इस प्रकार के उदाहरण उसके लिए उपहास के ही जनक सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि उक्त प्रकार के उदाहरण विप्रलम्भ की अनुभूति कराने में अक्षम है। इनसे पाठक को विप्रलम्भाभास की अनुभूति होती है।

(ख) सुकुमारता :

रीतिकाव्य में नारी सौकुमार्य से ही परखी जाती है। अस्तु, इन कवियों की नायिकाएँ सुकुमारता की मूर्ति हैं। इस दृष्टि से उनके शरीर में अंगों की अल्पता, कोमलता और झीनापन देखने योग्य है जो कि पाठक के लिये उपहास की सामग्री

प्रस्तुत करता हैं। गुलाब की पंखुड़ी से गात्र में खरोंट पड़ जाती है।[1] हाथ इतने छोटे हैं कि श्वसुर महाशय वधू को कण देने का काम सौंपते हैं।[2] पान खाते हुए वह जब पीक निगलती है तो त्वचा में झलक कर लाल रेखा सखी का कंठ-भूषण सी प्रतीत होती है।[3] अगर वह गुलाब के झाँव से पैर मलवाए तो निश्चय ही छाले पड़ जाएँगे।[4] और उसकी कमर तो तीन बार बांस की छड़ी के समान लचकती है।[5] कारण यह है कि नायिका 'नाजुक कमला' अर्थात् सुकुमारी पद्मिनी है, अतः उसे आभूषण मत पहिनाइए, सुकुमार कलेवर उस व्यर्थ के भार को कैसे सहन करेगा ?[6] वियोग में यह सुकुमारी दीर्घ निश्वासों के साथ ही आगे पीछे खिसकती रहती है, यही खेद है कि वह किसी दिन उड़ न गई :

इत आवति चलि, जाति उत चली, छसा तक हाथ।
चढ़ी हिंडोरें सें रहै लगी उसासनु साथ॥
—बिहारी-रत्नाकर, ३१७।

कुम्हला तो ऐसे जाती है जैसे हाथ से मला हुआ कुसुम :

करके मीड़े कुसुम लौं, गई विरह कुम्हलाई।

इसी प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण देखिए :

—बारन के भार सुकुमारि को लचत लंक।
—कोमल कमल गुलाबन के दल के,
सु जात गड़ि पाइनि बिछौना मखमल के॥
—जगद्-विनोद, १२।
—पानिय के भारन संभारति न लंक।
लंचेचचि जात कुचभारन के हलकै॥

---

१. मैं बरजी कै बार तूं, इत कित लेति करौट।
पंखुरी लगें गुलाब की परिहै गात खरौंट॥ —बिहारी-रत्नाकर, २५६।
२. कन दैबौ सौंप्यौ ससुर, बहू थुरहथी जानि।
रूप-रहचटें लगि लग्यौ माँगन सबु जगु आनि॥ —बिहारी-रत्नाकर, २६५।
३. खरी लसति गोरें गरें धंसति पान की पीक।
मनौ गुलीबंद—लाल की, लाल दुति-लीक॥ —बिहारी-रत्नाकर, ४४०।
४. छाले परिबे कै डरनु सकै न हाथ छुवाइ।
झझकत हियें गुलाब कैं झंवा झंवैयत पाइ। —बिहारी-रत्नाकर, ४८३।
५. लहलहाति तन तरु नई लचि लग लौ लफि जाई।
लगें लांक लोइन-भरी लोइनु लेति लगाई॥ —बिहारी-रत्नाकर, ५३२।
६. भूषन-भारु संभारिहै क्यौं इहिं तन सुकुमार।
सूधे पाइ न घर परैं सोभा हीं कैं भार॥ —बिहारी-रत्नाकर, ३२२।

—दबि कै छलकि छबि रंग में उमड़ि जाय।
गड़ि जनि जाय पांय पांखुरी पदुप की ।।
—देव, सुखसागर तरंग, ५११।

इस भोली नापित स्त्री को देखिए—यह जब नायिका के पैरों में महावर लगाने बैठी तो स्वाभाविक लाली के कारण एड़ी को ही महावर समझ बैठी और उसी को रंग के लिए मोड़ने लगी :

कौंहर सी एड़ीनु की लाली देखि सुभाइ।
पाइ महावरु देह को आपु भई बे-पाइ ।।
—बिहारी-रत्नाकर, ४४।

नायिका इतनी गौरवर्ण एवं कोमलांगिनी है कि उसके अंग दर्पण बने हुए हैं। एक नायिका के अधर पर नाक के बेसर के मोती की छाया पड़ी है, उसे चूना समझकर वह पोंछ रही है। सखी उपहास करती हुई वास्तविकता को समझा देती है :

बेसरि-मोती-दुति-झलक परी ओठ पर आइ।
चूनौ होइ न चतुर तिय, क्यों पट पोंछ्यो जाइ ।।
—बिहारी-रत्नाकर, १७३।

मतिराम ने भी इसी प्रकार का वर्णन किया है :

प्रभा तर्‌योना लाल की परी कपोलन आनि।
कहा छपावत चतुर तिय कंत-दंतछत जानि ।।—रसराज, २९७

इस प्रकार स्थलों से पाठक के तादात्म्य न होने का कारण ऊहात्मकता है, उसकी कल्पना में कोई भी नायिका इतनी सुकुमार होनी असम्भव है। परिणामतः इस प्रकार के उदाहरण या तो हास्य रस की अनुभूति करवाते हैं या शृङ्गारभास की।

(७) हलकी मनोवृत्ति

अनेक बार व्यक्ति वासना में इतना अन्धा हो जाता है कि उसे यह भी ज्ञान नहीं रहता कि वह क्या कर रहा है? उसका वह कृत्य उसकी वासना की पूर्ति कर भी सकेगा या नहीं? प्रियतम ने पुत्र का मुख चूम लिया है और अब नायिका पुत्र के मुख को चूमकर प्रियतम के अधर चुम्बन का आनन्द लेने में लगी है :

बिहँसि बुलाइ, बिलोकि उत प्रौढ़ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति, पूत कौ पिय-चुम्यौ मुँहु चूमि ।।
—बिहारी-रत्नाकर, ६१७।

ये चित्र निश्चय ही नायिका की उद्दाम कामुकता का द्योतक है, किन्तु उसका यह कृत्य उस कामुकता की पूर्ति केलिये व्यर्थ का प्रयत्न है, अतः वह पाठक के उपहास

की पात्री बनती है। इसीप्रकार यदि कोई नायिका प्रेम में ही मतवाली होकर प्रेमी की पतंग की परछाई को छूती हुई दौड़ती रही तो पाठक द्वारा उसका उपहास ही होगा :

उड़ति गुड़ी लखि ललन की अंगना अंगना मांह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छांह ॥
—बिहारी-रत्नाकर, ३७३।

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण देखिए जिसमें वह नायक की छाया का स्पर्श करके ही सन्तुष्ट है :

चितई ललचौंहैं चखनु डटि घूँघट-पट मांह।
छल सौं चली छुवाइ कै छिनकु छबीली छांह ॥
—बिहारी-रत्नाकर, १२।

इसी प्रकार एक नायक गुलाबी पान का सादृश्य अपनी प्रेमिका के गालों से कर उसे स्पर्श करने में ही लीन है :

परसत, पोंछत लखि रहतु, लगि कपोल कैं ध्यान।
कर लै प्यौ पाटल, बिमल प्यारी-पटए पान ॥
—बिहारी-रत्नाकर, ७०२।

विरह से दग्ध नायक चम्पक की डाल का आलिंगन कर प्रेयसी के आलिंगन का सुख प्राप्त कर रहा है :

चम्पक की डाँरन कों भैंटति फिरत हैं। —काव्यनिर्णय' २२।१७

इसीप्रकार देव की नायिका की स्थिति देखिए :

चित्र के मंदिर मित्र तुम्हें लखि।
चित्र की मूरति को मुख चूमे।
—देवकाव्य-रत्नावली १४८।

इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि नायक-नायिका अपने काम की पूर्ति के लिए व्यर्थ के प्रयत्न कर रहे हैं।

इसी प्रकार यदि कोई नायिका इसलिए दुःखी हो रही हो कि कपास का खेत काटा जा रहा है, और अब उसे नायक से मिलने का अथवा परपुरुष से सम्भोग करने का कोई स्थान न मिल सकेगा, पाठक पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं डालता :

फिरि फिरि बिलखी ह्वै लखति, फिरि फिरि लेति उपासु।
साईं ! सिर-कच-सेत लौं बीत्यौ चुनति कपासु ॥
— बिहारी-रत्नाकर, १३८।

उसकी सखी उसे धैर्य बंधाते हुए कहती है कि घबराने की कोई बात नहीं अरहर अब भी हरी है :

सुनु सूक्यौ बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहरि अजैं, धरि धरहरि जिय, नारि॥

—बिहारी-रत्नाकर, १३५।

इस प्रकार के प्रसंग शुद्ध रसाभास के उदाहरण हैं। इसीप्रकार यदि कोई पारिवारिक मर्यादा के बन्धन में पड़ी हुई युवती अपना घर जलने में इसलिए हर्ष का भाव प्रकट करती है कि आग लगने पर प्रिय के साथ काम करने का उसे अवसर मिलता है :

आगि लागि घर जरिगा बड़ सुख कीन्ह।
प्रिय के हाथ घयलवा भरि-भरि दीन्ह॥[1]

तो यह पाठक पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं डालता। इसीप्रकार बलराम की वर्षगाँठ के अवसर पर सभी स्त्रियाँ आमोद प्रमोद में लगी हुई हैं, उस समय राधा-कृष्ण का एकांत बिहार तो कोई बड़ी बात नहीं किंतु जब गांव में आग लगी हुई हो, चारों ओर त्राहि-त्राहि मच रही हो, उस समय कृष्ण का राधा को चम्पा की माला के समान हृदय में लगाना और विहार करना अनुचित है। केशव ने ऐसा वर्णन कर वस्तुतः रसाभास का ही उदाहरण प्रस्तुत किया है।[2]

इन सब नायक-नायिकाओं के विरुद्ध एक अन्य नायिका को देखिए जो कि नगों वाली चौकी इसलिए धारण नहीं कर रही कि कहीं उसमें पर-पुरुष की छाया न पड़ जाए :

धरति न चौकी नग जरी, यातें उर में लाए।
छाँह परे पर-पुरुष की, जनि तिय-धरम नसाए॥

—रसलीन।

इस प्रकार के स्थल भी नायिका की भावना के साथ तादात्म्य कराने में असमर्थ रहते हैं। इसके अतिरिक्त देव का निम्नोक्त पद भी शुद्ध रसाभास का ही है :

सौहै सलोनी सोहागभरी सुकुमारि सखीनि समाज मड़ी सी।
देव लला गये सोवत ते मुख मोह सुखमा घुमड़ी सी।
प्यारी की पीक कपोल में पी के विलोकि सखीन हंसी उमड़ी सी।
सोहन सैंह न लोचत होत सकोचन सुन्दरि जाति गड़ी सी॥

—अष्टयाम १।१६।

---

१. हिन्दी रीति साहित्य, पृ० १३४ से उद्धृत।

२. देखिए, मुक्तक काव्य परम्परा और बिहारी, पृ० १३४।

हमारी समझ में इससे न श्रृंगार की भावना जागरित होती है और न हास्य की ही। यह तो एक ऐसा चित्र है, जिसे देख कर पाठक मुंह मोड़ लेता है।

इसी प्रकार पद्माकर ने शिव एवं हलधर को नग्न वर्णित करके इससे हास्य रस उत्पन्न करना चाहा है, हमारी दृष्टि में वह रसाभास है :

हसि-हसि भागैं देखि दूलहै दिगम्बर कों,
पाहुनी जै आवें हिमाचल के उछाह में।
कहै पदमाकर सु काहू सौं कहै को कहा,
जोई जहाँ देखै सो हँसै तहाँ राह में॥
मगन भएई हंसैं नगन महेस ठाढ़े,
औरौ हंसे येहू हसाहस के उमाह में।
सीस पर गंगा हंसैं भुजनि भुजंगा हंसै,
हास ही को दंगा भयौ सुनंगा के विवाह में।

× × ×

कर मूसर नाचत नगन, लखि हलधर को स्वांग,
हसि-हसि गोपी फिरि हंसे, मनहुँ पिए-सी भांग।

—जगद्विनोद ६७३, ६७४।

उस काल में भंडोंवों की रचना हास्य उत्पन्न करने के लिए की जाती थी। हास्य उत्पन्न करने के लिए बेनी का निम्नोक्त पद द्रष्टव्य है। किसी बेचारे दयाराम ने गलती की कि उसने बेनी को कुछ आम खाने को दे दिए। आम कुछ अच्छे नहीं थे। बेनी ने बेचारे दयाराम पर ही व्यंग्य कसा है :

चींटी को चलावै को मसा के मुख आपु जाय।
स्वास की पवन लागे कोसन भगतु है।
ऐनक लगाए मरु मरु कैं निहारे जात
अनु परमानु की समानता लगतु है।
बेनी कवि कहै हाल कहाँ लौं बखान करौं
मेरी जान ब्रह्म को बिचारिबौ सुगतु है।
ऐसे आम दीन्हे दयाराम दया करि मोहिं
जाके आगे सरसों सुमेरु सो लगतु है।[१]

हमारी दृष्टि में एक छोटी-सी बात को इतना बढ़ा देना पाठक पर या श्रोता पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं डालता। सम्भव है उस समय इस छन्द को सुन कर मित्र-

---

१. हिन्दी साहित्य, पृ० ३२१ से उद्धृत।

मण्डली हंस पड़ी हो पर यह अपने अगाम्भीर्य के कारण पाठक के लिए हास्य का विषय न होकर उपहास अथवा उपेक्षा का ही प्रसंग है। हमारी दृष्टि में ये सभी उदाहरण रसाभास के स्वीकार किए जाने चाहिएं।

८. विचित्र अथवा असंगत कल्पनाएँ :

अनेक बार कवि इस प्रकार की विचित्र एवं असंगत कल्पना करता है कि पाठक उसके साथ तादात्म्य करने में असमर्थ रहता है। अभिनवगुप्त ने इसे प्रति-पत्तावयोग्यता अथवा सम्भावना विरहा नामक रस-विघ्न निर्दिष्ट किया है।[1] इस प्रकार के अनेक उदाहरण हम अत्युक्ति शीर्षक के अन्तर्गत भी देख चुके हैं। कुछ अन्य उदाहरण यहाँ भी द्रष्टव्य हैं :

(क) मतिराम ने छलापह्नुति के उदाहरण में एक विचित्र कल्पना की है। ब्रह्मा ने अत्यन्त कौशल से श्री राधिका जी का मुखमण्डल बनाया। चन्द्रमा को उस से ईर्ष्या हुई। रात को चुपके चुपके उसने अपने कर (किरणें) इसलिए फैलाए कि राधिका जी का सौन्दर्य चुरा लें। परन्तु बेचारे पकड़े गये, और विष्णु ने क्रोध में आकर इनका अपमान करने के लिए मुख पर कालिमा लगा दी :

सुँदरबदनि राधे सोभा को सदन तेरो,
बदन बनायो चारिबदन बनायकै,
ताकी रुचि लैन कौं उदित भयौ रैनि-पति,
मूढ़मति राख्यौ निज कर बगराय कै।
मतिराम कहै निसिचर चोर जानि याहि,
दीनी है सजाय कमलासन रिसायकै,
रातौ दिन फेरे अमरालय के आसपास
मुख में कलंक मिसि कारिख लगायकै। —ललितललाम, ९९।

इसीप्रकार का एक अन्य उदाहरण देखिए :

ए रै मतिमंद चंद धिक है अनंद तेरौ,
जौ पै बिरहिनि जरि जात तेरे ताप ते;
तू तो दोषाकर दूजे धरे है कलंक उर,
तीसरे कपालि संग देखो सिर छाप तैं।
कहै मतिराम हाल जाहिर जहान तेरो,
बारुनी के बासी भासी रवि के प्रताप ते;
बांध्यो गयो, मथ्यो गयो, पियो गयो, खारो भयो,
बापुरो समुद्र तो कपूत ही के पाप ते।

१. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० १४१।

इस प्रकार के सभी उदाहरण रसाभास के ही ठहरते हैं।

(ख) इन कवियों ने शृंगारेतर रसों का वर्णन अत्यन्त उपेक्षा भाव से किया है, परिणाम स्वरूप उससे अनेक बार उस रस की निष्पत्ति नहीं हो पाती। देव द्वारा प्रस्तुत भयानक रस का उदाहरण देखिए :

कंचन बेलि सी नौल वधू जमुना जल केलि सहेलिन आनी।
रोमावली नवली कहि देव सु गोरे से गात नहात सुहानी,
कान्ह अचानक बोलि उठे उर बाल के व्याल बधू लपटानी,
धाई के धाई गही ससवाइ दुहूँ कर झारति अंग अपानी। —देव।

रोमावली को सर्प अनेक कवियों ने कहा है, किन्तु उससे भयानक रस निष्पन्न करने का प्रयत्न देव ने ही किया है। हमारी दृष्टि में यह उपहास का ही जनक है।

(ग) बिहारी ने नायिका के ऐसे दिव्य रूप की कल्पना की है कि लोगों को उसकी आभा सचमुच चाँदनी का उजाला प्रतीत होता है :

पत्रा हीं तिथि पाइयै वा घर के चहुँ पास।
नितप्रति पून्योई रहै आनन-ओप-उजास॥

—बिहारी-रत्नाकर, ७३।

तिथि जानने के दो साधन हैं—तिथि-पत्र (कैलैण्डर) और चन्द्रमा के निकलने के का समय। किन्तु उस नायिका के घर के आसपास केवल पत्रे ही से तिथि का ज्ञान सम्भव है क्योंकि वहां तो नायिका के मुख की चमक के उजाले से नित्य ही पूर्णिमा रहती है, और सदा ही चाँदनी का प्रकाश रहता है, जिस कारण चाँदनी का प्रकाश कब आरम्भ हुआ यह पता ही नहीं लग पाता। इसीप्रकार का एक अन्य उदाहरण देखिए :

तू रहि, हौं हीं, सखि, लखौं; चढ़ि न अटा, बलि, बाल।
सबहिनु बिनु हीं ससि-उदै दीजतु अरघु अकाल॥

—बिहारी-रत्नाकर, २६८।

सखी नायिका से कह रही है कि तू यहाँ रह, तुझे अटारी पर खड़ा देख कर तेरे मुखचंद्र के कारण लोगों को सन्देह हो जाता है कि चन्द्रमा निकल आया है और इससे बिना चन्द्रमा के उदित हुए लोगों द्वारा अर्घ देने का भय बना हुआ है। इसी-प्रकार का उनका एक अन्य दोहा भी द्रष्टव्य है :

दियो अरघु, नीचें चलौ, संकटु भानैं जाइ।
सुचिती ह्वै औरौ सबै ससिहिं बिलोकैं आइ॥

—बिहारी-रत्नाकर, २६९।

हमारी सम्मति में ये कल्पनाएँ चमत्कार तो अवश्य उत्पन्न करती हैं किन्तु इनसे नायिका के भव्य रूप का चित्र उपस्थित नहीं होता। इसप्रकार के सभी स्थल रसाभास के ही स्वीकार किये जाने चाहिएं।

× × ×

भक्ति काव्य

रीतिकवियों के श्रृंगारी साहित्य में यत्रतत्र भक्ति-विषयक पद भी उपलब्ध हो जाते हैं। इस काल में भक्ति के पद उपलब्ध होने के निम्नोक्त कारण निर्दिष्ट किये जा सकते हैं :

(१) रीतिकाल के अधिकांश कवि मध्यवर्गीय परिवार में पैदा हुए थे अतः ये मध्यवर्गीय धर्मभीरुता के संस्कारों से पीछा छुड़ा नहीं सकते थे।[१] इस प्रकार इस युग की धार्मिकता और भक्ति भी रूढ़िबद्ध ही थी।

(२) इन कवियों को अपने आश्रयदाता राजाओं की विलास भावना को बलात् सन्तुष्ट करना पड़ता था। किन्तु उचित आश्रयदाता के अभाव में एवं आर्थिक विफलता के कारण अनेक वार ये कवि जीवन के सभी प्रकार के विषय भोगों से विरत हो जाते थे। एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकते हुए तथा दरदर की ठोकरें खाते हुए भी इन्हें न तो अपेक्षित धन प्राप्त हो सका और न उचित सम्मान और प्रतिष्ठा ही। ऐसी परिस्थिति में उनका मन भौतिक ऐश्वर्यों से विरक्त होना स्वाभाविक था। केशव की विज्ञानगीता, देव का देवयान-प्रपंच और पद्माकर, का प्रबोध पचासा और गंगालहरी इसी मनःस्थिति की उपज है।[२] इस तथ्य की पुष्टि केलिये दास की यह पंक्ति देखिये—'दास वृथा जिन साहिब सूम के सेवन में अपने अपने दिन खोये'। अन्य कवियों ने भी इसीप्रकार के भाव प्रकट किये हैं :

(क) ऐसो जो हो जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
ए रे मन मेरे हाथ, पांव तेरे तोरता
आजु लों हों कत नर नाहन की नाही
सुनि, नेह सो निहारि हारि बदन निहोरती।
चलन न देतो देव देव चंचल अचल करि,
चाबुक चिनावनीनि मारि मुंह तोरती।
भारो प्रेम पाथर चगारो है गरे ते बांधि,
राधावर विरह के वारिधि में बोर तो॥ —देव।

(ख) पेट की चौरे चपेट सही, परमारथ स्वारथ लागि बिगारे।
त्यों पद्माकर भक्ति भजी, सुनि दंभ के द्रोह के दीह नगारे।

---

१ २. देखिए रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना, पृ० ४३५-३६।

कौन के आसरे आस तजौं, सुधि लेत न क्यों दसरत्थ दुलारे ।
जोग, रु जज्ञ जपोतल-जाल, बिहाल परे कालिकाल के मारे ।। —पद्माकर

(ग) 'तुमहू कान्ह मनो भये, आजकालि के दानि', बिहारी के इस वाक्य में भी आश्रय दाताओं की शिकायत है ।

(३) जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे तो राधा-कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्मभीरु मन को आश्वासन देता होगा ।...इस काल का कोई भी कवि भक्ति भावना से हीन नहीं है—हो ही नहीं सकता था, क्योंकि भक्ति उसकेलिए मनोवैज्ञनिक आवश्यकता थी । भौतिक रस की उपासना करते हुए भी उनके विलास जर्जरित मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति-रस में अनास्था प्रकट करते या सैद्धान्तिक निषेध करते ।[1]अपने चित्त की इसी व्याकुलता के कारण ही बेचारे ग्वाल को राधा कृष्ण से क्षमा मांगनी पड़ी थी :

श्रीराधा पद्म पद्म कों प्रनमि पजमि कवि ग्वाल ।
छमवत है अपराध कों, कियोजु कथन रसाल ।।

राग की यह थकान देव की वैराग्य कविता में अत्यन्त स्पष्ट है :

हाय कहा कहीं चंचल या मन की गति में मति मेरी भुलानी ।
हौं समुझाय किहौं रसभो ने देव तऊ तिसनी विनसानी ।।
दाड़िम दाख रसाल-सिता मधु ऊख पिये औं पीयुष से पानी ।
पैन तऊ तरुनी-तिय के अधरान के पीछे की प्यास बुझनी ।।

(४) डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि इस शृंगार भावना को इन्होंने भक्ति का आवरण दिया । राधा-रानी और गोपाललाल घूम फिर कर सभी प्रकार की शृंगार चेष्टाओं के विषय बन जाते हैं । यह भक्ति-भावना इन कवियों केलिये सामाजिक कवच का काम करती हैं , अतः इन स्थलों को राधाकृष्ण सम्बन्धी भक्तिपरक उद्गार कदापि नहीं माना जा सकता, क्योंकि दास ने सबका प्रति-निधित्व करते हुए भ्रान्ति के लिए कोई स्थल नहीं छोड़ा है—'आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई न तो राधिका गोबिंद सुमिरन को बहानो हैं' । यही कारण है कि ऐन्द्रिय प्रेम में आकण्ठमग्न होकर भी ये कवि हारिराधिका की तन-द्युति में अनुराग बनाये हुए थे :

तजि तीरथ, हरिराधिका-तन-दुति करि अनुरागु ।
जेहि ब्रज-केलिनिकुञ्ज-मग पग पग होतु प्रयागु ।।
—बिहारी-रत्नाकर ।

इस प्रकार उनकी यह भक्ति भी उनकी शृंगारिकता का एक अंग है ।[2]

---

१. देखिए, रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १८० ।

२. देखिए, हिन्दी साहित्य, रीतिकाव्य, रीतिकवि की मनोवृत्ति ।

प्रस्तुत प्रसंग में भक्ति के कारणों के निर्देश का उद्देश्य केवल यही है कि इस प्रकार की काव्य-रचना उस काल की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अन्तर्गत परिगणित नहीं की जा सकती। यही कारण है कि इन पदों में भक्त कवियों की रचनाओं की ताजगी और उल्लास के स्थान पर एक प्रकार की क्लान्ति और अवसाद दिखलाई पड़ता है। भगवान् के प्रति रागात्मक उन्मेष के स्थान पर हततेज, मन की दीनता और आत्म-भर्त्सना दृष्टिगोचर होती है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में 'वास्तव में धर्म इस युग में आकर धर्माभास मात्र रह गया था। धर्म के उस अस्वस्थ और नैतिक रूप का जो आत्मबल के द्वारा जीवन को धारण करता है, अभाव हो चुका था।'[1] परिणामतः इनके आत्म निवेदन में वह दैन्य नहीं दिखलाई पड़ता जिसमें हार्दिक वेदना और असहायता की व्यंजना हुई हो। इस असहायता के अभाव में भगवान् के प्रति अक्षय विश्वास का भी अभाव रहा है। परिणामतः इन पदों में आलंकारिक चमत्कार मात्र उपलब्ध होता है और कुछ नहीं। एक दो उदाहरण देखिए :

—अधम अजामिल आदि जे हों तिनको हौं राउ ॥
मोहू पर कीजै मया, कान्ह दया दरियाऊ ॥

—मतिराम

—मोंहूँ न दीजै मोष, ज्यों अनेक अधमन दियौ।
जौ बांधैं ही तोषु, तौ बांधौ अपने गुननु ॥

—बिहारी-रत्नाकर, २६१।

प्रथम उदाहरण दैन्य की विह्वलता से रिक्त और द्वितीय आलंकारिक चमत्कार से युक्त है। इसके अतिरिक्त कुब्जा और कृष्ण के परस्पर सम्बन्ध का आधार बना कर सूर की गोपियों ने भी अनेक व्यंग्य किए हैं किन्तु कृष्ण की मति नष्ट हो गई है, यह रीतिकालीन उपज है :

—कंकालिनि कूवरी कलंकिनी कुरूप तैसी,
चेटिकिनि चेरी ता के चित्त को चहा कियो।
राधिका की कहवत कहि दीजो मोहन सों,
रसिक-सिरोमनि कहाइ धौं कहा कियो ॥

—पद्माकर पंचामृत, पृ० ८९।

—एक कहै हंसि ऊधवजू ! ब्रज की जुवती तजि चन्द्रप्रभा सी।
जाय कियो कहं तोष प्रभू ! एक प्रानप्रिया लहि कंस की दासी ॥
जो हुते कान्ह प्रवीन महा सो हहा। मथुरा में महामति नासी।

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १८०।

जीव नहीं उबियात जबै ढिग पौढ़ति है कुबिजा कछुवा सी ?[१]

—तोषनिधि ।

इसमें कृष्ण एक अधमपात्री के प्रति स्पष्ट रति-वर्णन करते हैं। उस काल की प्रौढ़ा-धीरा नायिका भी अपने प्रेमी के विषय में इसीप्रकार प्रेमनिवेदन करती थी। इस प्रकार के स्थल पाठक की रुचि के प्रतिकूल हैं।

रूपगोस्वामी ने उस प्रत्येक प्रसंग को रसाभास स्वीकार किया है जिसका कि सम्बन्ध राधा-कृष्ण से नहीं है। सम्भवतः इसी से प्रभावित होकर रीतिकवियों ने सभी रसों को कृष्ण एवं राधा के साथ सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है। केशव ने नौ प्रकार की भक्ति का उल्लेख कर उनमें से क्रमशः नौ रसों का आस्वाद उपलब्ध करने का परामर्श दिया है :

—जीतहु अद्भुत स्रवन सों, सुमिरन करुना जानि ।
सहित जुगुप्सा दासता पाद-भजन भय मानि ।।
—बंदन बीर, सिंगार स्यौं अर्चन सख्य सहास ।
रौद्र कीरतन, सम सहित आत्मनिवेद प्रकास ।।

—विज्ञान-गीता, १६।६१,६२ ।

किन्तु वे इसप्रकार सभी रसों का आस्वाद उपलब्ध करवाने में असमर्थ रहे हैं। उनके प्रत्येक रस के वर्णन में कृष्ण और राधा का परस्पर प्रेम-वर्णन विद्यमान है, इनकी भयानक, बीभत्स आदि के साथ संगति ठीक नहीं बैठी। केशव द्वारा प्रस्तुत भयानक रस का उदाहरण देखिए :

रोष में रस के बोल विष तें सरस होत,
जानै सो प्रबल पित्त दाखैं जिन चाखी हैं।
केसौदास दुख दीबे लायक भए ब तुम,
आज लगि जाकी जी में आंखैं अभिलाषी हैं।
सूधे ह्वै सुधारिबे कौं आए सिखवन मोहिं।
सूधेहूँ में सूधी बातें मोसोंऊ न भाखी हैं।
ऐसे में हौं कैसें जाऊँ दूरिहूँ धौं देखौ जाइ,
काम की कमान सी चढ़ाइ भौंहैं राखी हैं।।

—रसिक-प्रिया, १४।२६ ।

यदि केशव के अनुसार इसे भयानक रस का प्रसंग मान लें तो हमारी सम्मति में यह भयानकाभास है।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल), पृ. २८२ से उद्धृत ।

भक्त कवियों ने विनय के पद लिखते हुए अपने को अत्यन्त दीन-हीन एव पतित तथा ईश्वर को पतित-पावन कहा है और इसका दोष ईश्वर पर ही डाल दिया है कि वे अभी तक पतित ही हैं। रीति कवियों ने भी इसीके अनुकरण पर कुछ इस प्रकार के भाव व्यक्त किये हैं। बिहारी ईश्वर से होड़ लेता हुआ कहता है :

—कौन भांति रहिहै बिरदु अब देखिवी, मुरारि।
बीधे मोसौं आइ कै गीधे गीधहिं तारि॥

—बिहारी-रत्नाकर, ३१।

—मोहिं तुम्हैं बाढ़ी बहस, को जीतै जदुराज।
अपनैं अपनैं बिरद की दुहूँ निबाहन लाज॥

—बिहारी-रत्नाकर, ४२७।

जब भगवान् पतितों का उद्धार करने के अपने धर्म से पीछे नहीं हटते तो भक्त ही अपने पाप करने के धर्म को क्यों छोड़ें? भक्त ने पाप किये, किन्तु भगवान् ने उस का उद्धार न किया, उसे लगा कि :

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन-बिरदु बारक बारनु तारि॥

—बिहारी-रत्नाकर, ११।

सम्भवतः ईश्वर पर भी कलियुग का प्रभाव पड़ गया है। वह जगत् का गुरु अथवा नायक होता हुआ भी जगत् का अनुकरण करने लगा है :

—थोरैं ही गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुमहूँ, कान्ह, मनौ भए आजकाल्हि के दानि॥

—बिहारी-रत्नाकर, ६८।

—कब कौ टेरतु दीन रट, होत न स्याम सहाइ,
तुमहूँ लागी जगत-गुरु, जग-नाइक, जग-बाइ॥

—बिहारी-रत्नाकर, ७१।

इतने पर भी जब वह न माना तो वह कह उठा :

बंधु भए का दीन के, कौ तारयौ, रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे बिरद कहाइ॥

—बिहारी-रत्नाकर, ६१।

और उसके बाद उसे अमर्ष के साथ भी कहना पड़ा :

ज्यौं ह्वै हौं त्यौं हाउंगौ हौं, हरि, अपनी चाल।
हठु न करौ, अति कठिनु है मा तरिबौ, गुपाल॥

—बिहारी-रत्नाकर, ७०१।

सम्भव है भक्ति की दृष्टि से इस प्रकार के पदों का कोई महत्त्व हो, किन्तु सामान्य

सहृदय पर इस प्रकार के भावों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अपनी बात को जिस वक्रता से भक्त ने प्रकट किया है वह लौकिक दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर है। पाठक उससे चमत्कृत होता है, किन्तु भगवान् के साथ भी इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करके वह पाठक के चित्त में किसीप्रकार की भक्ति भावना को जागरित करने में असमर्थ है।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि अनेक स्थलों पर राधा-कृष्ण का नाम ले लिया गया है, किन्तु वहाँ वे वस्तुतः लौकिक युवा (नायक) युवती (नायिका) मात्र हैं। उन स्थलों का भक्ति से कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं करना चाहिए। अनेक प्रसंग ऐसे भी हैं जिनमें कि कवि को भगवान् कृष्ण का ही चित्रण करना अभीष्ट रहा है, और भक्ति ही उसका लक्ष्य है वहाँ भी इन्होंने शृंगारिक भावना का इस प्रकार से आरोप किया है, जो कि पाठक पर अच्छा प्रभाव नहीं डालती। बानगी केलिए एक उदाहरण देखिए :

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कंपि किसोरी दरसि कै, खरैं लजाने लाल।

—बिहारी-रत्नाकर, ६०१।

राधा को देखकर कृष्ण का काँप जाना और सभी ब्रजवासियों का व्याकुल हो जाने का वर्णन भक्ति की दृष्टि से कोई उत्कृष्ट प्रसंग स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त अनेक छन्द भक्त-कवियों की भाँति सर्वथा भक्ति के हैं, किंतु उनके साथ भी सहृदय तादात्म्य नहीं कर पाता। रीतिकाल के शृंगारी साहित्य को पढ़ते पढ़ते अकस्मात् आ गये भक्ति-पद को पढ़कर पाठक भक्ति की अनुभूति नहीं कर पाता। इन शृंगारी एवं ऐन्द्रिय साहित्य के रचयिता कवियों के प्रति हमारी एक निश्चित धारणा बन गई होती है। उन्हीं के मुख से अकस्मात् भक्ति के पद सुन कर पाठक उसके साथ तादात्म्य नहीं कर पाता। कारण स्पष्ट है कि भक्ति में अवतार के समय अशुद्ध चित्तवृत्ति वाले को भगवान् का केवल आभास मिलता है। प्रकृत लीला के समय कंस और शिशुपाल को भगवान् का आभास ही मिला था। ये शृंगारी कवि कंस और शिशुपाल के समान क्रूर और अत्याचारी के रूप में तो नहीं पर विलासीरूप में अवश्य विद्यमान रहे हैं। अतः इन्हें भक्ति का आश्रय देखकर पाठक उनसे तादात्म्य करने में असमर्थ ही रहता है।

किन्तु हाँ, यदि इस भक्ति-साहित्य को रीतिकाल की पृष्ठभूमि से सर्वथा पृथक् रख करके अध्ययन किया जाए तो इनमें से कुछ स्थलों से भक्ति रस की अनुभूति सहज हो सकेगी। यही कारण है कि डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि इस विषय में दो मत नहीं कि ऐसा लिखने वाले कवि काफी ईमानदार थे। वे सचमुच विचार करते थे कि :

राधा मोहन लाल को जाहि न भावत नेह।
परियौ मुठी हजार दस ताकी आँखिनि खेह॥

—मतिराम-सतसई, ४।

इसीप्रकार पद्माकर के निम्नोक्त पद भी द्रष्टव्य हैं :

—पापी अजामिल पार कियो जिहि नाम लियो सुत ही को नरायन।
त्यों पद्माकर लात लगे परे विप्रहू के पग चौगुने चायन॥
को अस दीनदयाल भयो दसरत्थ के लाल से सूधे सुभायन।
दौरे गयंद उबारिबे कों प्रभु बाहनै छोड़ि उबाहनै पायन।

– प्रलै के पयोनिधि लौं लहरें उठन लागीं,
लहरा लग्यो त्यों होन पौन पुरवैया को।
भीर भरी झांझरी बिलोकि मंझधार परी,
धीर न धरात 'पद्माकर' खेवैया को।
कहा वार कहा पार जानी है न जात कछु,
दूसरो दिखात न रखैया और नैया को।
बहन न पैहै घेरि घाटहि लगैहै ऐसो,
अमित भरोसो मोहि मेरे रघुरैया को॥

—प्रबोध-पचासा ४६,२१।

इस प्रकार के पदों में भक्ति का वास्तविक रूप देखने को मिलता है।

अन्त में निष्कर्ष रूप में यह कहना संगत होगा कि रीतिकाव्य की शृंगारिक पृष्ठभूमि में इन कवियों द्वारा विरचित भक्ति भावना, भक्ति का आभास मात्र है। हाँ, उसमें आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न करने की क्षमता अवश्य है। किन्तु यदि इस काव्य को रीतिकाल की पृष्ठभूमि से पृथक् करके देखें तो इस भक्ति में भी अनेक स्थल ऐसे हैं, जिनमें आत्म-विभोर करने की शक्ति विद्यमान है।

× × ×

नीतिकाव्य

इन रीतिकवियों के काव्य मे भक्ति की भाँति नीति की भी अनेक सूक्तियाँ उपलब्ध होती हैं। रीतिकाल की पृष्ठभूमि को ध्यान में न रखकर यदि इन सूक्तियों का अवलोकन करें तो इनमें मानव मन को प्रेरित करने की पूर्ण क्षमता विद्यमान है, किन्तु कुछ सूक्तियाँ ऐसी अवश्य हैं जिनके औचित्य पर संदेह करना स्वाभाविक है, और उस अनौचित्य के कारण वे अच्छा प्रभाव डालने में असमर्थ हैं।

केशव का कथन है कि विप्र जो कुछ मांगे उसे दे देना चाहिए और उसके साथ वैर रखना अनुपयुक्त है :

द्विज मांगै सो देइ विप्र को वचन न खंगिय ।
द्विज बोलै सो करिय विप्र को मान न भंगिय ।।

—रतनबावनी, २२ ।

आधुनिक पाठक इस प्रकार के विचारों को आत्मसात करने में असमर्थ है। उसकी दृष्टि में ब्राह्मण यदि अयोग्य है तो उसके प्रति सद्भाव रखना आवश्यक नहीं है। उसका विचार है कि इसी ब्राह्मणवाद के कारण ही हमारे देश में अज्ञानान्धकार व्याप्त हुआ है। ऐसी स्थिति में वह इस प्रकार के कथनों को अत्यन्त उपेक्षा भाव से ग्रहण करता है।

कुछ सूक्तियाँ इस प्रकार की हैं जिनमें कि यौवन-जन्य शारीरिक सुषमा का, अंगप्रत्यंग की सुन्दरता का तथा शारीरिक सुखों के उपयोग का विस्तृत वर्णन किया है, और उसी का ही अत्यधिक महत्त्व प्रदर्शित किया है। चिंतामणि द्वारा प्रस्तुत तरुणाई जनित निकाई का वर्णन देखिए :

सरद तें जल की ज्यों दिन तें कमल की ज्यों,
घन तें ज्यों थल की निपट सरसाई है।
घन तें सावन की ज्यों आप तें रतन की ज्यों,
गुन ते सुजन की ज्यों परम सुहाई है ।।
'चिन्तामनि' कहै आछे अच्छरन छन्द की ज्यों,
निसागम चन्द की ज्यों दृग सुखदाई है।
नग तें ज्यों कंचन वसन्त तें ज्यों बन की,
यों जोवन तें तन की निकाई अधिकाई है ।।

—कविता-कौमुदी, भाग १, पृ० ४०२ ।

स्पष्टतः यह तन की निकाई वसनाओं की पूर्ति के निमित्त है। उनके अनुसार रतिरंग में पूरा डूबे बिना त्राण नहीं है :

तंत्री-नाद, कवित्त रस, सरस राग, रति-रंग ।
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग ।।

—बिहारी-रत्नाकर, ६४ ।

सेनापति ने नारी को मदन की बाड़ी, फूलों की माला तथा कंदर्प की पाग आदि विशेषणों से सम्मानित किया है :

सोभा सब जोबन की, निधि है मृदुलता की,
राजै नव नारी मानों मदन की बारी है ।।

—कवित्त-रत्नाकर, १।१३ ।

अनेक कवियों ने धर्म, कर्मकाण्ड सभी को व्यर्थ का झमेला बतला कर जीवन के सुखों का ही गुण गाया है। देव का स्पष्ट कथन है कि स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, श्राद्ध-तर्पण,

पुनर्जन्म, वेद, पुराण यह सब ढकोसला है, जो इन पर विश्वास करता है लबार है :

—पापु न पुन्य न नर्क न स्वर्ग मरो सु मरो फिरि कौने बुलायो ।
गूढ़ हीं वेद पुरानन बांचि लबारनि लोग भले मुरकायो ॥
—जीवत तौ व्रत भूख सुखौत सरीर महा सरुख हरे को ।
ऐसी असाधु असाधुन की बुधि साधन देत सरिध मरे को ॥

—देव-सुधा, ११, १० ।

ग्वाल ने भी 'भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः' के सिद्धान्त को दृष्ट में रख कर आमोद-प्रमोद करने का परामर्श दिया है :

दिया है खुदा ने खूब खुसी करि ग्वाल कवि,
खान पिओ देव लेव यहीं रह जाना है।
राजा राव उमराव केते पादसाह भए,
कहां ते कहाँ को गए, लग्यो न ठिकाना है।

—कविता-कौमुदी, भाग १, १४, पृ० ५३३ ।

अन्यत्र उन्होंने व्यय से दुगनी आय तथा सुन्दर नारी को सुखमय जीवन केलिए अनिवार्य कहा है।[1] रसनिधि ने तो हुक्के को ही सच्चा साथी स्वीकार किया है, जो कि अन्त तक साथ निभाता है :

हुक्का सौं कहु कौन पै, जात निबाहो साथ ।
जाकि स्वासा रहत है, लगी स्वास के साथ ॥

—सतसई-सप्तक, रसनिधि सतसई, ६२२ ।

बिहारी ने प्रेम के पीछे सर्वस्व न्योछावर कर देने का परामर्श दिया है :

गति दै, मति दै, हेतु दै, रसु दै, जसु दै दान ।
तनु दै, मनु दै, सीसु दै, नेह न दीजै जान ॥

बिहारी-रत्नाकर, उपस्करण, २६२ ।

एक अन्य स्थल पर रति अथवा स्त्री सहवास को ही मुक्ति (परम आनन्द) कह दिया है :

चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट-लपटानि ।
ए जिहिं रति, सो रति मुकति; और मुकति अति हानि ॥

—बिहारी-रत्नाकर, ७६ ।

उनके अनुसार परमार्थ की मुक्ति तो अत्यन्त हानि करने वाली है।

रीतिकवियों द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन जीवन का अत्यन्त हलका पक्ष है। जिन आचार्यों ने रीतिकाव्य की समग्र शृङ्गारी-कविता के प्रति वितृष्णा

---

१. देखिए, व्यंग्यार्थ-कौमुदी, भाग, १, १० पृष्ठ ५३३ ।

व्यक्त की है वे इन सूक्तियों से प्रभावित न हो सकेंगे। केवल भोग केलिए जीवन नहीं है, प्रत्युत भोग जीवन का एक अंश मात्र है—इस तथ्य की अवहेलना करके इसमें भोग को ही सर्वोपरि तत्त्व सिद्ध किया गया है।

इसके विपरीत एक स्थल पर बिहारी ने नारी को छायाग्रहिणी कह कर उससे बचने का उपदेश दिया हैं :

या भव-पारावर कौं उलंघि पार को जाइ।
तिय छवि-छायाग्राहिनी ग्रहै बीचहीं आइ॥

—बिहारी-रत्नाकर, ४३३।

नारी के प्रति सर्वथा वितृष्णा भी मानव मन की भावनाओं के प्रतिकूल है। वह इसप्रकार की उक्तियों से भी सरसता ग्रहण नहीं करता।

इसप्रकार स्पष्ट है कि वे उक्तियाँ जो जीवन के किसी एक ही पक्ष को उद्घाटित करती हैं उनके साथ सहृदय तादात्म्य करने में असमर्थ रहता है। इसके अतिरिक्ति इसप्रकार की उक्तियों से अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रभाव ग्रहण करना पाठक की अपनी रुचि एवं विचारधारा पर भी निर्भर करता है। उदाहरण केलिए ग्वाल कवि का निम्नोक्त कथन देखिए :

जात औ कुजात कहा हिंदू औ मुसलमान
जाते कियो नेह फेर ताते भजनो कहा।
या तो रंग काहू के न रंगिये सुजान प्यारे,
रंगे तो रंगेई रहै फेर तजनो कहा॥

—कविता-कौमुदी, भाग १, पृ० ५१५।

अपने धर्म एवं जाति के प्रति अत्यन्त आस्था बुद्धि रखने वाला व्यक्ति इस प्रकार की उदारता को भ्रम समझता है। वह इस प्रकार के पदों को अत्यन्त उदासीनता से ग्रहण करता है। निष्कर्षतः रीतिकाल के घोर शृंगारी वातावरण में उपदेशात्मक नीतिवचनों का प्रभाव स्वतः क्षीण हो गया है। कोरे भोग को ही सर्वस्व मानकर लिखे गये नीति-वचन जीवन का अत्यन्त हलका पक्ष प्रस्तुत करते हैं—जिनका पाठक के चित्त पर कोई गम्भीर प्रभाव नहीं पड़ता। इसके विपरीत भोग का सर्वथा विरोध भी उसे काम्य नहीं है। परिणामतः रीतिकालीन नीतिकाव्य के साथ पाठक तादात्म्य करने में असमर्थ रहता है।

× × ×

प्रशस्ति काव्य

रीतिकवि राजदरबारी कवि थे। अतः इनका अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में कविता करना स्वाभाविक था। इसमें युद्ध-वीरता और दान-वीरता दोनों की ही अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा विद्यमान होती थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ये

कविगण राजाओं के गुणों से प्रभावित होकर नहीं प्रत्युत उनकी खुशामद कर उन्हें रिझाने के लिए तथा अतुल धनराशि उपलब्ध करने के निमित्त इसप्रकार का काव्य करते थे :

> छांडि दिये करने कवित्त नर लोगन के यह
> चित्त आया कि रिझाऊँ करतार कों।
> करि करि कविता सुनाऊँ दिन दिन पर
> वह तो अलख नहीं दीसै कहूँ बार कों।
> आलमपनाह मुहम्मदसाह महाबली
> मेरे मन रहै देखूं पर्वरदिगार कों॥
> अब सुन पाया अलख का साया हजरत को
> बताया याते आया हूँ दीदार कों॥
> —सूरत-मिश्र, (हिन्दी-साहित्य का अतीत, पृष्ठ ४८६ से उद्धृत)

कुछ कवियों को तो एक नहीं वरन् अनेक राजाओं की प्रशंसा में इसप्रकार की कविता बलात् करनी पड़ी है—उन राजाओं की भी जिनके लिए जनता के हृदय में कोई स्थान नहीं था। इस काव्य में कवियों ने परम्परागत रूढ़ उपमानों का प्रयोग किया है। अतः नाम को छोड़कर शेष कविता प्रायः सभी की एक जैसी है। परिणाम स्वरूप यह कविता प्रसिद्धि प्राप्त न कर सकी। रामचन्द्र शुक्ल का इस कविता के सम्बन्ध में कथन है—'उनकी रचना में सच पूछिए तो कवियों ने अपनी प्रतिभा का अपव्यय ही किया। उनके द्वारा कवियों को अर्थ-सिद्धि भर हुई, यश का लाभ न हुआ।......हिन्दी के न जाने कितने कवियों का प्रौढ़ साहित्यिक श्रम इस प्रकार लुप्त हो गया। काव्य-क्षेत्र में यह एक शिक्षाप्रद घटना हुई है।[1]' कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कविता अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने में अथमर्थ सिद्ध हुई। वह उस राजदरबार में तो जीवित रही, जहाँ पर कि वह पढ़ी गई थी और उस राजा के अनेक चाटुकार उसका बिना अर्थ समझे वाह-वाही करने में लगे थे, किन्तु उसके बाद उसका महत्त्व विलुप्त हो गया। आज का पाठक जब इसप्रकार की कविता को पढ़ता है तो वह उस राज-प्रशस्ति को उपहास का ही विषय बनाता है। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

मतिराम ने राव भाऊसिंह के भवन में होली के अवसर पर कुंकुम, गुलाब तथा अबीर से व्याप्त समस्त पृथ्वी तथा आसमान को देखकर यह कल्पना की कि यह भाऊसिंह का प्रताप ही रूप परिवर्तित कर दशों दिशाओं में विद्यमान है :

> कुंकुम गुलाल घनसार औ अबीर उड़ि

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३२४-३२५।

छाय रहे सघन अवनि आसमान में।
मेरे जानि राव भावसिंह को प्रताप जस
रूप धरै फैलि रह्यो दसहू दिसान में॥ —ललित-ललाम, १०३

इसमें निर्जीव भौतिक-तत्त्व पर एक अमूर्त-तत्त्व का आरोप राजा की प्रशंसा करने के निमित्त बलात् किया गया प्रतीत होता है। मानो कवि केलिए अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक पदार्थ का सम्बन्ध राजा से स्थापित करना अवश्यम्भावी हो। इसप्रकार के स्थलों को पाठक अत्यन्त उपेक्षा-वृत्ति के साथ ग्रहण करता है। इसी प्रकार राजा के हाथियों की (और प्रकारान्तर से राजा की) प्रशंसा करते हुए भी कवि ने व्यर्थ की कल्पना की है :

पावस भीति बियोगिनि बालनि यों समुझाय सखी सुख साजैं।
जोति जवाहिर की मतिराम नहीं सुरचाप छिनौ छवि छाजैं॥
दन्त लसैं बगपांति नहीं धुनि दुंदुभी की न घने घन गाजैं।
रीझिकै भाउ नरिंद दिए कविराजनि के गजराज बिराजैं॥

—ललित-ललाम, ६७।

ये गज इतने ऊँचे हैं कि आकाश में मेघों के समान और उनकी दन्तपंक्ति उन मेघों में उड़ते हुए बकपक्ति का भ्रम उत्पन्न करती है। उन पर पड़ी हुई रंग बिरंगी झूल इन्द्रधनुष है। फलतः कभी कभी वियोगिनी नायिकाएँ वर्षागमन समझ कर भयभीत हो जाती हैं, क्योंकि गजों के दान के समय आश्रयदाताओं के निशान मेघों का सा गम्भीर घोष करके उनकी शंका की पुष्टि भी कर देते हैं। सम्भव है इस कल्पना को सुना कर मतिराम ने दरबारियों से वाहवाही प्राप्त कर ली हो और राजा ने उसे भी इनके बदले एक हाथी दे दिया हो किन्तु आज के पाठकों के लिए यह उपहास का ही विषय है।

पद्माकर ने रघुनाथराव की तलवार की प्रशंसा में एक कवित्त बनाया था, जो यहाँ द्रष्टव्य है :

दाहन तैं दूनी तेज तिगुनी त्रिसूलन तैं,
चिल्लिन तैं चौगुनी चलांक चक्र-चाली तैं।
कहै पद्माकर महीप रघुनाथ राव,
ऐसी समेसर सेर सत्रुन पै घाली तैं॥
पंचगुनी पव्व तैं पचीसगुनी पावक तैं,
प्रगट पचासगुनी प्रलय-प्रनाली तैं।
सतगुनी सेस तैं सहस्रगुनी सापन तैं,
लाखगुनी लूक तैं करोरगुनी काली तैं॥

—पद्मकर-पंचामृत, पृ० ६-१०।

हमारी समझ में इस गणितीय चमत्कार से तलवार के महत्त्व में कोई वृद्धि नहीं हुई। पद्माकर अनेक राजाओं के राजदरबारों में पहुँचे और सभी की प्रशस्ति करते फिरे। हिम्मत बहादुर, अर्जुनसिंह रघुनाथराव, जगतसिंह, महाराज पारीक्षत, भीमसिंह, दौलतराव सिंधिया आदि सभी की उन्होंने प्रशंसा की। उन द्वारा की हुई इन प्रशंसाओं से पाठक किसी भी प्रकार की भावानुभूति करने में असमर्थ रहता है।[1] जगतसिंह की प्रशस्ति में पढ़ा गया एक छन्द देखिए जिसमें चाटुकारिता की गन्ध सर्वथा स्पष्ट है :

प्रबल प्रताप-कुल-दीपक छता के पुन्य,
पालक पिता के राम राजा ज्यों भगतराज ॥
कान्ह अवतार बैरी-वारिधि-मथन-काज,
सील के जहाज बली विक्रम तखतराज ॥
म्लेच्छ-अंधकार मेटिबे को मारतंड दिन,
दूलह दूनी के हिन्दुजन के नखतराज ॥
पारथ-से पृथु-से परिच्छित पुरन्दर-से,
जादौ-से जजाति-से जनक-से जगतराज ॥

—पद्माकर-पंचामृत, पृ० १२।

एक स्थल पर पद्माकर ने रघुनाथराव के दान का वर्णन करते हुए जगन्माता पार्वती को भी भयभीत कर दिया है :

दीन्है गज वकस महीप रघुनाथ राय
याहि गज धोखे कहुँ काहू देई डारे ना।
याही डर गिरिजा गजानन को गोइ रही
गिरि तें गरेतें निज गोद तें उतारे ना॥[2]

पद्माकर ने राजा के घोड़े (शृङ्गार संग्रह पृ० २७४) दंगली तीतर बटेरों (पद्माकर पंचामृत, पृ० २७०) का वर्णन कर प्रकारान्तर से राजा की प्रशंसा की है। इनके वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को राजा के प्रत्येक कार्य में दिलचस्पी लेने के लिए बाध्य होना पड़ता था। ये सब वर्णन अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने में असमर्थ रहे हैं। तीतर का बर्णन देखिए :

पक्के पींजरान ही तें खोलत खुले परत,
बोलत सो बोल बिजै-दुन्दुभी-से दे रहै।

---

१. देखिए, पद्माकर पंचामृत, पृ० ५ से १४ पर वर्णित पद्माकर के प्रशस्ति काव्य का वर्णन।

२. भूषण ग्रन्थावली, पृ० ७६ से उद्धृत।

कहै पद्माकर चभोटैं करि चोंचन की,
चूकत न चोट चटकीले अंग ले रहैं ।।
तेते तुंग तीतुर तयार नृप कूरम के
लै-लै फर्र-फर्र कै फतूहन फबै रहैं ।
बासा को गनैं न कछु जंग जुरैं जुर्रन सों,
बाजी-बाजी बेर बाजी बाज हू सों ले रहै ।।

—पद्माकर-पंचामृत, पृ० २७ ।

इस प्रकार के वर्णनों से पाठक किसी प्रकार की भावानुभूति नहीं कर पाता ।

कहीं कहीं वीरों के युद्ध में लड़कर कटने की प्रेरणा देने के निमित्त भाषण दिए हैं जो संसार की असारता का स्वरूप सामने लाते हैं । किन्तु वस्तुतः ये भाषण वीरता उत्पन्न करने में असमर्थ रहे हैं । अनेक बार इनसे वितृष्णा सी होने लगती है । अर्जुनसिंह का निम्नोक्त उपदेश देखिए जो कि वीरों के उपयुक्त न होकर विरक्तजन केलिए हो गया है :

जिन की बदी है मीच अब, तिन की न इत-धत बचहिगी ।।
जिन की नहीं है विधि रची, तिन के न तन कों तचहिगी ।।
जग में जु जन्म विवाह जीवन मरन रिन धन धाम ये ।।
जिहि को जहाँ लिखि दियो, प्रभु तिहि को तुरत तिहि ठाम ये ।।
भेटैं धनंतर-से जु वैद, सु यों अनेक बिधें करैं ।।
पर काल है जिहि को तहि को तें नहिं टरैं ।।
चढ़ि जाइ हिम गिरि हांकि कै लपटाइ आसुर अजब सों ।।
ततकाल जो निज काल नहिं तो बचहि एते गजब सों ।।

—पद्माकर-पंचामृत, पृ० ३० ।

हमारी सम्मति में इस प्रकार के स्थल किसी भी प्रकार की उत्साह भावना को पुष्ट करने में असमर्थ रहे हैं ।

प्रतापसाहि ने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में जो अत्युक्ति की है वह भी उद्धरणीय है :

महाराज रामराज रावरो सजत दल
होत मुख अमल अनंदित महेश के ।
सेवत दरीन केते गव्बर गनीम रहैं,
पन्नग पताल त्योंही डरन खगेस के ।
कहै परताप धरा धंसत त्रसत,
कसमसत कमठ पीठि कठिन कलेस के ।

कहरत कोल, हहरत है दिगीस दस,
लहरत सिंधु, थहरत फन सेस के ।।[१]

यह वर्णन किसी प्रख्यात चरित्र के सम्बन्ध में तो शायद ठीक बैठ जाए। तुलसीदास यदि धनुष भंग के अवसर पर लक्ष्मण के मुख से इस प्रकार का वर्णन करवाते हैं तो वह राम के प्रति पाठक की आस्थाबुद्धि होने के कारण ग्राह्य होता है[२]। किन्तु किसी अप्रसिद्ध की वीरता को प्रकट करने के लिए उपर्युक्त प्रकार का वर्णन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

शिवाजी के प्रति हिन्दू जाति के प्रति सम्मान एवं आस्था के भाव हैं। अतः जब मतिराम अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में शिवाजी के विरुद्ध कोई बात कहता तो पाठक उसके साथ तादात्म्य करने में असमर्थ रहता है :

सूबनि कौं मेटि दिल्ली देस दलिबे कौ चमू
सुभट समूहनि सिवा की उमहति है।
कहै 'मतिराम' ताहि रोकिबे कौं संगर में
काहू के न हिम्मति हिये में उलहति है।।
सत्रुसालनन्द के प्रताप की लपट सब
गरवी गनीम बरगीन कौं दहति है।
पति पातसाह की इजति उमरावन की
राखी रैया राव भावसिंह की रहति है।।

—ललित-ललाम, १३१।

इसके विपरीत यदि भूषण शिवाजी को आधार बनाकर कविता करते हैं तो सिद्धान्ततः सहृदय को उसके साथ तादात्म्य स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए, किन्तु उनकी कविता में भी कुछ स्थल अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने में असमर्थ रहे हैं। संस्कृत-काव्यों में शत्रुओं की दुर्दशा का वर्णन करने के लिए यह कहना परम्परा रही है कि 'हम शत्रु स्त्रियों को विधवा कर देंगे, उनके बाल खुलवा देंगे' आदि। किन्तु भूषण ने इसी प्रकार के प्रसंगों से प्रभावित होकर शिवाजी के डर से भागती हुई शत्रु-स्त्रियों का जो वर्णन किया है, वह हमारी सम्मति में अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने में असमर्थ रहा है :

अन्दर ते निकसीं न मन्दिर को देख्यो द्वार,
बिन रथ पथ ते उघारे पाँव जाती हैं।

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास (रामचंद्र शुक्ल), पृ० ३१९ से उद्धृत।
२. देखिए, रामचरितमानस, बालकाण्ड, २९१।

हवा हू न लागती ते हवा ते बिहाल भईं,
लाखन की भीरि में सम्हारतीं न छाती हैं ।।
भूषन भनत सिवराज तेरी धाक सुनि,
हयादारी चीर फारि मन झुंझलाती हैं ।
ऐसी परीं नरम हरम बादसाहन की,
नासपाती खातीं बनासपाती खाती हैं ।।

—भूषण, शिवाबावनी, १० ।

इसप्रकार के वर्णन शिवाजी की वीरता को व्यक्त करने में असमर्थ रहते हैं । एक स्थल पर भूषण ने शिवाजी और औरंगजेब की उपमा क्रमशः इन्द्र और कृष्ण के साथ दी है :

मिलितहि कुरुख चकत्ता को निरखि कीन्हों
सरजा, सुरेस ज्यों दुचित ब्रजराज को ।
भूषण, कुमिस गैर मिसिल खरे किए को,
किये म्लेच्छ मुरछित करि कै गराज को ।।

—शिवराज-भूषण, ३४ ।

सम्भवतः भूषण को इस बात का ज्ञान नहीं कि इन्द्र भारतीय पुराण परम्परा में वीर के रूप में चित्रित नहीं किए गए । पुनः औरंगजेब को कृष्ण कहना तो सर्वथा ही असंगत प्रतीत होता है । इसके अतिरिक्त शिवाजी ने अनुचित स्थान पर खडे होने के कारण सब मुसलमानों को केवल अपनी गर्जना से ही मूर्छित कर दिया, कोई अनुकूल प्रभाव उत्पन्न नहीं करता ।

भूषण शिवाजी के यश की शुभ्रता को अनेक धवल उपमानों से श्रेष्ठ निर्दिष्ठ करने में भी असफल रहे हैं । उदाहरण देखिए :

चंदन में नाग, मद भरचो इंद्रनाग,
विष भरो सेस नाग, कहै उपमा अबस को ।
भोर ठहरात न, कपूर बहरात, मेघ
सरद उड़ात बात लाके दिसि दस को ।।
शंभु नीलग्रीव, भौंर पुँडरीक ही बसत,
सरसा सिवाजी सन भूषन सरस को ?
छीरधि मैं पंक, कलानिधि मैं कलंक याते,
रूप एक टंक ए लहैं न तब जस को ।।

—शिवराज-भूषण, ४८ ।

उपमानों में कमी बतलाने के निमित्त कवि ने जो कारण प्रस्तुत किए हैं, वे पाठक का मनस्तोष नहीं करते । इसीप्रकार का एक अन्य पद देखिए :

कुन्द कहा, पय वृन्द कहा, अरु चन्द कहा, सरजा जस आगे ?
भूपन भानु कृसानु कहाऽब खुमान प्रताप महीतल पागे ?
राम कहा, द्विजराम कहा, बलराम कहा, रन मैं अनुरागे ?
बाज कहा, मृगराज कहा, अति साहस मैं सिवराज के आगे ?

—शिवराज-भूषण, ५१ ।

यहाँ राम और परशुराम से शिवाजी की वीरता को अधिक निर्दिष्ट करना अच्छा प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सका। एक स्थल पर भूषण ने शिवाजी की श्वेत कीर्ति को मूर्त्त रूप प्रदान कर, उसका विस्तार करके ऐरावत, क्षीरसागर, गंगाजी, हंस, चन्द्रमा, कैलास और महेश सभी को तिरोहित सा कर दिया है :

इन्द्र निज हेरत फिरत गज-इन्द्र अरु,
इन्द्र कौ अनुज हेरै दुगध-नदीस को ।।
भूषन भनत सुर-सरिता को हँस हेरै,
विधि हेरै हंस कौं, चकोर रजनीस को ।।
साहितनै सिवराज करनी करी है तैं जु,
होत है अचम्भो देव कोटियौ तेंतीस को
पावत न हेरै जस मैं हिराने निज,
गिरि को गिरीस हेरै, गिरिजा गिरीस कौं ।।

—शिवराज-भूषण, ३०२ ।

भूषण का कथन है कि हे शिवा जी ! तुमने यह जो त्रिभुवन को अपने श्वेत यश से छा देने का अद्भुत चमत्कार किया है, उससे तेंतीस करोड़ देवताओं को आश्चर्य होता है। तुम्हारी श्वेत कीर्ति में सभी श्वेत वस्तुओं के खो जाने के कारण इन्द्र अपने ऐरावत को, विष्णु क्षीरसागर को, हंस गंगा को तथा ब्रह्मा हंस (अपने वाहन) को, महादेव अपने कैलाश पर्वत को और पार्वती महादेव को ढूँढते फिर रहे हैं। हमारी सम्मति में इस प्रकार के उदाहरणों से शिवाजी के यश का अनुमान नहीं होता।

एक अन्य उदाहरण देखिए, 'शिवाजी आ रहे हैं' केवल इतना सुनने मात्र से शत्रु की स्त्रियों के आँसू प्रवाहित होने लगते हैं और उन आँसूओं में शत्रुओं के सभी गाँव डूब जाते हैं :

'आयो आयो' सुनत ही सिव सरजा तुम नांव ।
वैरि नारि दृग-जलन-सों बूढ़ि जाति अरि गांव ।।

—शिवराज-भूषण, ११५ ।

इसप्रकार के अन्य भी अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जो कि अनुकूल प्रभाव उत्पन्न न कर सकने के कारण भावानुभूति कराने में असमर्थ रहे हैं।

निष्कर्षत: राजप्रशस्ति-परक काव्य के साथ तादात्म्य न हो सकने के निम्नोक्त कारण हैं :

(१) कवियों ने जिन राजाओं की प्रशस्ति की है, इतिहास में उनका कोई गरिमामय उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। परिणामस्वरूप पाठक को उनकी प्रशस्ति के वचनों को सुनने में कोई रुचि नहीं है।

(२) जिन कवियों ने उन राजाओं की प्रशस्ति की है, वे भी उनके प्रति पूर्ण आस्था रखने वाले प्रतीत नहीं होते। केवल अर्थ प्राप्ति के ही निमित्त इन्हें बलात् इसप्रकार की कविता करनी पड़ी है। इसका प्रमाण यह है कि एक कवि ने केवल एक ही राजा की प्रशस्ति नहीं की वरन् स्वार्थ के निमित्त आवश्यकतानुसार अनेक के गुण गाए हैं, और सभी से अपना उल्लू सीधा करना चाहा है। परिणामस्वरूप उनकी इस कविता में चाटुकारिता की स्पष्ट गन्ध है।

(३) उन्होंने प्रशस्ति में अत्युक्ति का इतना प्रत्यक्ष प्रयोग किया है कि शिवाजी जैसे—जिनके प्रति पाठक पूर्णत: श्रद्धावनत होता है—राजाओं के प्रति भी ये कथन ग्राह्य नहीं होते।

(४) प्राय: सभी कवियों ने कुछ निश्चित प्रशंसापरक बातें अपने सभी आश्रयदाताओं को रिझाने केलिए प्रस्तुत की हैं। सभी के उपमान प्राय: एक हैं। ऐसा लगता है कि सभी ने मिलकर राज-प्रशस्ति केलिए एक 'फार्मूला' बना लिया था। भावोद्वेलन में यह 'फार्मूला-पद्धति' पाठक केलिए अग्राह्य रही है।

अन्त में यह निर्दिष्ट करना अनिवार्य है कि राजप्रशस्ति अथवा राजरति भाव का विषय है, रस का नहीं। अत: राजप्रशस्ति के वर्णन से यदि पूर्ण आनन्दानुभूति नहीं होती तो उसे रसाभास न मानकर भावाभास ही स्वीकार करना चाहिए। अत: प्रशस्ति-काव्य में वर्णित अनौचित्य के सभी उदाहरण शास्त्रीय दृष्टि से भावाभास के उदाहरण हैं।

अष्टम अध्याय

रीतिकालीन स्वच्छन्द प्रेम-काव्य और रसाभास

रीतिकालीन साहित्य में स्वच्छन्द प्रेममार्गी कवियों का अपना विशिष्ट स्थान है। घनानन्द, बोधा, आलम एवं ठाकुर इस मार्ग के प्रमुख कवि हैं। ये कवि रीति-काल की प्रमुख विशेषता रीति-बद्धता से प्रायः मुक्त हैं। अतः उन्हें रीतिमुक्त (अधिक वैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग करें तो अंशतः रीतिमुक्त) की सज्ञा प्रदान की गई है। घनानन्द की समकालीन एक रचना 'भंडौवा संग्रह' से ज्ञात होता है, कि वे फारसी कवियों की उक्तियां चुराया करते थे। इससे स्पष्ट है कि इन पर फ़ारसी के ऐकांतिक और अनुभवनिष्ठ प्रेम का गहरा प्रभाव था। बोधा ने तो सूफ़ियों की शब्दावली अपनाकर इश्कमजाज़ी में एक इश्क-हक़ीक़ी का समर्थन किया है। सूफ़ियों के दर्शन तथा फ़ारसी की एकांगी प्रेम कविता से प्रभावापन्न ये कवि रीतिबद्ध परम्परा को छोड़ने के लिए स्वयं बाध्य हो गए थे।[1] भारतीय साहित्य-परम्परा से कुछ पृथक् विशेषताएं होने के कारण इस साहित्य की शास्त्रीय दृष्टि से स्थान निर्धारित करने की समस्या उत्पन्न होती है। इस समस्या के समाधान के लिए इस साहित्य के प्रतिपाद्य पर विहंगम दृष्टिपात करना अनिवार्य है।

इस काव्य के प्रेम का वर्णन कवि ने निम्नलिखित शब्दावली में किया है :

रूप-चमूप सज्यौ दल देखि भज्यौ तजि देसहि धीर-मवासी।
नैन मिलैं उर के पुर पैठतै लाज लुटी न छुटी तिनका सी।
प्रेम-दुहाई फिरी घनआनन्द बाँधि लिये कुल-नेम गढ़ासी।
रीझ सुजान सची पटरानी बची बुधि बावरी ह्वै करि दासि॥

—सुजानहित, ४८।

पहिले मन पर धैर्य का शासन था, किन्तु जब सेनापति रूप ने अपने दल बल को सजा कर गढ़ पर आक्रमण किया, तो शासक धैर्य भयभीत होकर भाग गया, फिर नायक ने विजयोल्लास से हृदय-रूपी नगर में प्रवेश किया और आक्रान्ता नेत्र नागरिक नेत्रों से मिले, तब उच्छृंखल भाव से लज्जा की लूट मची, और नगर में प्रेम का राज्य घोषित कर दिया गया, उपद्रवी कुल-नियमों को बन्दी बनाया

---

१. रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना, पृ० २२८।

गया, रीझ महारानी बनी और बुद्धि को दासी बना दिया गया। घनानन्द ने प्रेम का प्रारम्भ रूप दर्शन से माना है।[1] यह रूप अपने दल बल सहित किसी पर आक्रमण करता है। रूप की सेना का उल्लेख देखिए :

—सहज बनी है घन आनन्द नवेली नाक,
अनबनी नाथ सों सुहाग की मरोरतें। —सुजानहित, ३०।
—सुकस्यौ न उकस्यौ बनाव लखि जूरे को। —सुजानहित, १६०।

और कहीं रूप का सामान्य वर्णन है :

—पानिप-पूरी खरी निखरी, रस-रासि-निकाई की नीवँहि रोपैं।
लाज-लड़ी बड़ी सील-गसीली सुभाय हंसीली चितै चित लौपैं।
अंजन-अंजित-श्री घन-आनन्द मंजु महा उपमानि हूँ ओपैं।
तेरी सौं एरी सुजान तो आँखिन देखिये आँखि न आवति मोपैं॥
—सुजानहित, १८५।

जब सुसज्जित रूप को देख धैर्य विलुप्त हो गया तब नेत्र नायिका के नेत्रों से मिले और यह आश्चर्य की बात है कि उन भोले नेत्रों ने उस दर्शन का प्रतिरोध नहीं किया, फिर क्या था प्रेमी के हृदय से लज्जा भी खो गई।

ध्यान देने से जान पड़ेगा कि इस प्रेम मार्ग के दो सोपान हैं—रूपदर्शन और नेत्रमिलन। रूपदर्शन सर्वथा एक पक्षी है, उसमें दर्शक ही सचेष्ट है दर्शनीय नहीं।[2] परिणामतः इस प्रेम की मुख्य विशेषता एकाँगिता है। अपने प्रेमी को आकृष्ट करने के लिए इन्होंने न दूती-सखी की सहायता ली और न परिजन-पुरजन की। वस्तुतः इनकी कविता का जन्म वियोग से होता है। और सम्भवतः इन्हें उस निर्दय एकान्त तड़पन में किसी भी उपचारकर्ता की आवश्यकता का अनुभव नहीं हुआ। उनका यह काव्य शुद्ध वेदना का उद्गार है। इसमें संयोग की घड़ी लिखी ही नहीं। वहाँ तो प्रिया के दर्शन-मात्र से इनका हृदय उमड़ आता है, वाणी मौन हो जाती है, रूप की चमक से आँखें चौंधिया जाती हैं। अथवा फिर उसके सौन्दर्य

---

१. —दीठि कौं और कहूँ नहिं ठौर फिरी दृग रावरे रूप की दोही।
—निरखि सुजान प्यारे, रावरो रुचिर रूप,………………।
—रावरे रूप की रीति अनूप नयो नयो लागत ज्यौं-ज्यौं निहारियै।
—प्रान-पखेरू परे तरफैं लखि रूप-चुगो जु फंदे गुन-गाथन।
—देखें रूप रावरो, भयौ है जीब बावरो……………।
—जोबन-सरूप-गुन सूल से सलत गात,
—वह रूप की रासि लखी तब तै सखी आंखिन कैं हटतार भई।
—सुजान-हित, ७, २५, ४१, ४६, ७१, १२८, १५३।

२. हिन्दी काव्य और उसका सौंदर्य, पृ० २४८-२४९।

से दिशाएं इस तरह परिपूर्ण हो उठती हैं कि कुछ और दिखाई ही नहीं पड़ता। अद्भुत रूपमती प्रिया को देखकर ये कवि सम्भ्रम में पड़ जाते हैं :

> चेटक रूप-रसीले सुजान ! दई बहुतै दन नेकु दिखाई।
> कौंध मैं चौंध भरे चख हाय ! कहा कहौं हेरनि ऐसें हिराई।
> बातें बिलाय गई रसना पै हियो उमग्यौ कहि एकौ न आई।
> साँच कि संभ्रम हौ घनआनन्द सोचनि ही मति जाति समाई।
>
> —सुजानहित, ३५३।

'ठाकुर' अपनी चूक पर पश्चात्ताप करते हुए कहते हैं कि मुझे तो उनको देखने के पश्चात् और कुछ दिखाई ही नहीं दिया :

> ठाकुर हौं न सकौं कहिकै अब का कहिए हरि सों यह चूकन।
> देखि उन्हें न दिखाई कछू ब्रज पूरि रह्यौ चहुँ ओर चहूँकन।

एक तो उन वियोगियों को संयोग का अवसर ही कम मिलता है दूसरे जब कभी इसप्रकार का अवसर मिल भी जाता है तब आँसुओं की झड़ी के कारण न तो वे प्रिया को पूर्णतः देख पाते हैं और न अपना सदेश ही कह पाते हैं :

> साधनि ही मरियै भरियै, अपराधिनि बाधनि के गन छावत।
> देखें कहा ? सपने हू न देखत, नैन यौं रैनदिना झर लावत।
> जौ कहूँ जान लखें घनआनन्द तौ तन नकु न औसर पावत।
> कौन वियोग-भरे अँसुवा, जु संजोग मैं आगेई देखन धावत॥
>
> —सुजानहित, २१४।

आँसुओं की झड़ी प्रिय के साक्षात् का ही अवसर प्रदान नहीं करती। ऐसी स्थिति में शारीरिक मिलन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। पर शारीरिक मिलन की अभिलाषा यहाँ बनी अवश्य है। अतः एक-आध संयोग और संभोग के चित्र भी दिखलाई दे जाते हैं। जहाँ कहीं इस तरह के चित्र खींचे गये हैं वहाँ पर भी मन का उल्लास ही प्रमुख रूप से व्यक्त हुआ है। घनानन्द की सुजान का एक ऐन्द्रिय चित्र देखिए :

> पौढ़े घनआनन्द सुजान प्यारी परजंक,
> धरे धन अंक तऊ मन रंक-गति है।
> भूषन उतारि अंग अंगहि सम्हारि, नाना,
> रुचि के बिचार सों समोय सीझी मति है।
> ठौर ठौर लै लै राखें और और अभिलाखें,
> बनत न भाखें तेई जानें दसा अति है
> मोद-मद छाके घूमें रीझि भीजि रस झूमैं
> गहैं चाहि रहैं चूमैं अहा कहा रति है।
>
> — सुजानहित, ७०।

प्रेमी और प्रेमिका एक ही पर्यंक पर सोए हैं। नायिका का सम्पूर्ण शरीर नायक के अंक में है, किन्तु उसके मन की दशा उस रंक की भाँति है जो एक बार धन को प्राप्त करने पर उसे दाँतों के बल पकड़ रखता है। यद्यपि नायक के अंग-प्रत्यंग का नायिका के अंग-प्रत्यंग से आलिंगन हो रहा है फिर भी उसका अतृप्त मन नाना प्रकार की कामनाओं में डूबा हुआ है। कभी वह आनन्द की मदहोशी में पागल हो जाता है, कभी उसे एकटक देखता रह जाता है। यहाँ पर शारीरिक और मानसिक आकर्षण का अपूर्व संयोग है। इसीप्रकार का एक अन्य चित्र देखिए :

सोए हैं अंगनि अंग समोए सु भोए अनंग के रंग निस्यौं करि।
केलि-कला-रस-आरस-आसव-पान-छके घनआनन्द यौं करि।
पै मनसा मधि रागत पागत लागत अंकनि जागत ज्यौं करि।
ऐसे सुजान बिलास-निधान हौ सोएं जगे कहि ब्योरियै क्यौं करि ॥

—सुजानहित, १३९ ॥

इसप्रकार अनेक स्थलों में ऐसी ही रति का वर्णन है। केलि-कोविदा (जान प्यारी) का एक रमणीय चित्र देखिए :

सहज-उज्यारी रूप-जगमगी जान प्यारी
रति पै रतीक आभा है न रोम-रीस की।
चीकने चिहुर नीके आनन बिथुरि रहे
कहा कहौं सोभा भाग-भरे भाल सीस की।
बीच बीच मंजुल मरीचि-रुचि फैलि फबी
केलि-समै उपमा लसति बिसे-बीस की।
मानौ घनआनन्द सिंगार-रस सों सँवारी,
चिक मैं बिलोकति बहनि रजनीस की।

—सुजानहित, १६६।

इस प्रकार के पदों के काव्यात्मक सौन्दर्य पर शंका नहीं की जा सकती। किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जिस व्यक्ति को मिलन का अवसर ही न मिला हो वह इसप्रकार का सम्भोग-सिक्त वर्णन क्यों करता है? यदि इस वर्णन को किसी अन्य नायिका से सम्बद्ध माना जाए तो घनानन्द के प्रति अन्याय होगा। क्योंकि फिर उनका प्रेम अनन्य न रहा सकेगा :

पाल्यौ प्यार को तिहारौ, तुम ही नीकें निहारौ,
हाहा जनि टारौ याहि द्वारौ दूसरौ न है।

—सुजानहित, ७१।

अतः इस प्रकार के वर्णनों को कल्पना से उद्भूत समझना चाहिए। संभवतः उन्हें ऐसा विश्वास है कि अपनी रति को निबाहने के लिए उनका मिलन अवश्य होगा :

—कै विपरीति मिलौ घनआनन्द या बिधि आपनी रीति निबाहौ ॥

—सुजानहित, ८६ ।

शायद उन्हें इसप्रकार की अभिलाषाओं में आशा के भी बीज दिखलाई दिए हों :

—भरि अंक निसंक ह्वै भेटन कौं अभिलाष-अनेक भरी छतिया ।

किन्तु इस प्रकार के चित्र बहुत कम हैं। यह काव्य मूलतः वियोग का काव्य है। अपनी प्रिया के अभाव में ये कवि सदा अपने को निरवलम्ब अनुभव करते रहे हैं :

—अति ही अधीर भई पीर भीर घेरि लई,
हेली मन भावन अकेली मोंहि कै चलै ॥

—कान्ह ! परे बहुतायत मैं अकिलैनि की बेदन जानौ कहा तुम ।
हौ मनमोहन मोहे कहूँ न बिथा बिममैन की मानौ कहा तुम ।
बौरे वियोगिन आप सुजान ह्वै हाय कछू उर आनौ कहा तुम ।
आरतिवंत पपीहन कों घनआनन्द जू पहिचानौ कहा तुम ॥

—सुजानहित, ४०४ ।

ये दोनों बहुत ही भावपूर्ण चित्र हैं। पहले चित्र में वियोगिनी की 'पीर मीर' के विवरण के साथ उसके हृदयस्थ वियोग की अनुभूति की सजीवता भी दृष्टिगोचर होती है। दूसरे चित्र में प्रिय की उन परिस्थितियों का उल्लेख किया गया है जिन के कारण वह प्रेमी की वेदना को समझने में असमर्थ है। 'पपीहे' और 'घन-आनन्द' के प्रतीकात्मक अर्थ के कारण अकेलेपन की वेदना और भी प्रभावोत्पादक हो गई है। निरवलम्बता की मनोदशा का एक स्थूल चित्र देखिए :

मेरो जीव तोहि चाहै, तू न तनकौ उमाहै,
मीन-जल-कथा है कि या हू ते बिसेखियै ।
ता बिन सो मरै, छूटि परै, जड़ कहा ढरै,
भरौं हौं, न मरौं जान ! हियें अवरेखियै ।
पलकौ बिछोह-आगै, कलपौ अलप लागै,
बिलपौं सदाई, नेकु तलफनि देखियै ।
सूनो जग हेरौं रे अमोही ! कहि काहि टेरौं,
आनन्द के घन ऐसी कौन लेखें लेखियै ॥

—सुजानहित, २४६ ।

यहाँ जल और मीन को उपमान बनाकर विषय प्रेम की व्यंजना की गई है। 'कहि, कहि टेरौं' से निरवलंबता की स्थिति का एक मार्मिक चित्र उपस्थित हो गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण काव्य में अपनी स्थिति को व्यक्त करते हुए विरही ने जो मार्मिक चित्र उपस्थित किए हैं वे अत्यन्त हृदयस्पर्शी और रम्य हैं। केवल एक उदाहरण लीजिए :

पहलें अपनाय सुजान सनेह सौं क्यौं फिरि तेह कै तोरियै जू।
निरधार अधार दै धार-मंझार दई गहि बाँह न बोरियै जू।
घनआनन्द आपने चातिक कों गुन बाँधिलैं मोह न छोरियै जू।
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास मैं यौं विष घोरियै जू।

—सुजानहित, ३८।

अपनी प्रेमिका की इस उदासीनता को देखकर इन्हें उपालम्भ देने पड़े। इन उपालम्भों में मुख्यतः प्रिय की निष्ठुरता और विश्वासघात तथा प्रेमी के अकेलेपन के व्यथाचित्र अधिक मर्मस्पर्शी बन पड़े हैं। कुछ उदाहरण लीजिए :

—हाय दई ! न बिसासी सुनै कछु, है जग बाजति नेह की डौंडी।
—दरस-सुरस-प्यास भाँवरे भरत रहौं,
फेरियै निरास मोहि क्यौं धौं यौंऽब द्वार तें।
जीवनअधार घनआनन्द उदार महा,
कैसें अनसुनी करी चातिक-पुकार तें।

—सुजानहित, १८४।

—का करिए तुम्हरे मन को जिनको अब लौ न मिटो दगा दीबो।
पै हम दूसरो रूप न देखि हैं आनन आन को नाम न लीबो॥
ठाकुर एक सो भाव है जौ लगि तौ लगि देह धरे जग जीबो।
प्यारे सनेह निबाहिवे को हम तौ अपनौ सो कियो अरु कीजौ॥

—ठाकुर

किन्तु इन उपालम्भों से भी जब वह न मानी तो उन्हें उनके सम्मुख दीन होना पड़ा। परिणामतः इन कवियों के प्रेम में दीनता भी विद्यमान है। निराशा की अवस्था में प्रेमी अपने दैन्य निवेदन से प्रिय के मन में करुणा उत्पन्न कर सकता है। तब वह अपने दुःख, दर्द का ऐसा वर्णन करता है जिससे प्रिय का मन दयार्द्र हो सके और कभी वह अपने प्रेम को साक्षी करके प्रिय के मन में दया उत्पन्न करने की प्रतिज्ञा करता है। वस्तुतः यह प्रतिज्ञा उसकी निराशा का ही एक रूप है जिसे दिवास्वप्न समझा जा सकता है। इसप्रकार के कुछ उदाहरण देखिए :

—जारि बरि छार ह्वै न जाय हाय ऐसी बैसि,
चित्त चढ़ी मूरति सुजान क्यों उतारियै।
कठिन कुदाएँ आए घिरि हौं अनन्दघन
रावरी बसाए तौ बसाए न उजारियै॥
—अनाकनी-आरसी निहारिबो करौगे कौ लौं
कहा मो चकित दसा त्यौं न दीठि डोलिहै।
मौन हू सों देखिहौं कितेक पन पालिहौ जू,
कूक-भरी मूकता बुलाय आप बोलिहै।

जान घनआनन्द ! यौं मोहिं तुम्हैं पैंज परी,
जानियैगी टेक टरें कौन धौं मिलोलिहै ।
रुई दिए रहौगे कहाँ लौं बहरायबे की,
कबहूँ तौ मेरियै पुकार कान खोलिहै ।।

—सुजानहित २८९ ।

—लैं लै प्रान वारौं इक टक धारौं यौं बिचारौं,
हाहा घनआनन्द निहारौ दीन की दसै ।

—सुजानहित, ९० ।

—हित-चायनि च्वै चित चाहत नै नित पायनि ऊपर सीस घसौं ।

—सुजानहित, ११० ।

वेदना और पीड़ा की कसक से कवि का रोम-रोम भरा हुआ है, उसके प्रत्येक उच्छ्वास और प्रत्येक धड़कन में निराशा का स्वर सुनाई पड़ता है। इन कवियों में जितनी विह्वलता दिखाई पड़ती है, वह इस काल के अन्य कवियों में नहीं पाई जाती। यद्यपि 'बोधा में हा-हा का इतना भयानक स्वर नहीं है, तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं है कि बोधा के प्रेम में किसी प्रकार की कचाई है अथवा घनानन्द की अपेक्षा उनमें प्रेमावेग मन्द है अथवा उनकी भावुकता में कोई कमी है। उनमें भी भग्नाश प्रेमी की चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई निराशा है। कदाचित् इसीलिए उनमें तड़प कर प्राणोत्सर्ग कर देने की तीव्र आकांक्षा है। इस बेचारे की मन की मन ही में रह जाती है। कोई ऐसा व्यक्ति भी नहीं मिलता जिससे अपनी विरह वेदना का निवेदन कर वह जी तो हलका करता।'[1] घनानन्द ने सुजान के वियोग में अत्यधिक व्याकुलता एवं तड़पन का अनुभव किया पर उसने कभी अपनी कृपादृष्टि इस ओर नहीं की, फलतः वह कभी-कभी इस प्रकार भी कह गया :

बिकल विषाद-भरे ताही की तरफ तकि
दामिनी हूँ लहकि बहकि यौं जरयौ करै ।
जीवन-अवार-पन पूरित पुकारनि सों
आरत पपीहा नित कूकनि करयौ करै ।
अथिर उदेग-गति देखि कै अनन्दघन
पौन बिडरयौ सो बन-बीथिनि ररयौ करै ।
बूंद न परति मेरे जान जान प्यारी ! तेरे,
विरही कों हेरि मेघ आँसुनि झरयो करै ।

—सुजानहित, २२६ ।

१. रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना, पृ० २३२ ।

इसमें कवित्व तो है ही पर साथ ही विरह-निवेदन भी अनूठे ढंग का है। यदि सुजान सचमुच सुजान है तो क्या वह इतना भी न जान सकेगी कि मेरा विरह-दुःख इतना भारी है कि प्रकृति भी उससे प्रभावित होकर मेरे साथ सहानुभूति करती है, फिर वही कहाँ की इतनी अनूठी परी है कि मेरे प्रेम से परे उड़ जाएगी। किन्तु इन कथनों के उपरांत भी उसकी एकान्त सत्ता निरन्तर बनी रही :

जीवन-मूरति जान सुनौ गति, जौ जिय रावरो प्यार न पावतौ।
संगम रंग अनंग उमंगनि भूमि न आनन्द-अंबुद छावतौ।
लाड़िलो जोबन त्यौं अधरासव चोपनि लोभी मनै नहिं प्यावतौ।
तौ उर-दाहक प्राननि गाहक रूखे भए को परेखो न आवतौ।

—सुजानहित, २९३।

बहुत अधिक प्रयत्न करने के उपरांत भी वह उनसे प्रेम न कर सकी :

ज्यौं बुधि सों सुघराई रचे कोउ सारदा को कविताई सिखावै।
मूरतिवन्त महालक्ष्मी-उर पोत-हरा रति लै पहिरावै।
रागवधू-चित-चोरन के हित सोधि सुधार कै तानहिं गावै।
त्यौं ही सुजान तियै घनआनन्द मो जिय बौरई-रीति रिझावै।

— घनआनन्द

इसी प्रकार की अनुभयनिष्ठ ऐकांतिक प्रेम की व्यंजना ठाकुर के काव्य में देखिए :

वा निरमोहिनी रूप की रासि
जऊ उर हेत न ठानति ह्वै है।
बारहि बार विलोकि घरी घरी
सूरति तो पहिचानति ह्वै है।
ठाकुर या मन को परतीति है
जौ पै सनेह न मानिति ह्वै है।
आवत हैं नित मेरे लिये
इतना तो विसेषि के जानति ह्वै है।[1]

यदि प्रेमी को यह विश्वास बना रहे, कि प्रिय दूर हो कर भी उससे प्रेम करता है तो उसकी वेदना भी सुखद ही होती है, किन्तु यहाँ स्थिति और है। इन कवियों ने अपने हृदय को टूक कर दिया :

ऐसो हियो-हित पत्र पवित्र जु आन-कथा न कहूँ अवरेख्यौ।
सो घनआनन्द जान अजान लौं टूट कियौ परि बांचि देख्यौ॥

—सुजानहित, २८२।

---

१. देखिए, हिन्दीसाहित्य, रीतिमुक्त काव्यधारा, ठाकुर।

परन्तु उनके प्रेम-पात्र ने उसको कभी नहीं समझा। वे उजड़ गए[1] परन्तु भावते[2] कहीं और ही बसे रहे; इनके हृदय में आग लग गई[3], होली जलने लगी[4] किन्तु फिर भी वे अकेली खुश रहीं।

इन कवियों द्वारा चित्रित विरह में सुजान की नाना प्रेम क्रीड़ाओं की स्मृति उद्दीपन रही है। षड्ऋतु वर्णन की परम्परा का पालन ये कवि नहीं कर सके। हाँ, कहीं-कहीं नायिका के शरीर में ही पतझड़, वसन्त, और फाग का उल्लेख इन्होंने अवश्य किया है। रीतिकाल जो था।

यद्यपि इन कवियों ने वियोग की दशों दशाओं, विभावों, अनुभावों और संचारियों के उदाहरण प्रस्तुत करने केलिए अपने काव्य की रचना नहीं की तथापि उनकी कविता में स्वाभाविक एवं सच्ची अनुभूति का चित्रण होने से उन सब विषयों के उदाहरण मिल अवश्य सकते हैं। विरह का वर्णन एक विरही के मुख से ही हुआ है। यहाँ न तो सखी है और न सखा है और न कवि स्वयं ही विरही के प्रति द्रवित हो कर उसका वर्णन कर रहा है। यहाँ तो प्रेमी स्वयं ही अपनी विरह व्यथा प्रिय से कहता है। अभिनय के क्षेत्र में यह वर्णन बहुत कुछ आकाश भाषित अथवा स्वगत के ढंग का है। अतः इसमें मार्मिकता अधिक समा सकी है।

इस काव्य में आंतरिक भावों की स्वाभाविक व्यंजना भी खूब हुई है। उन्होंने बार-बार कहा भी तो है कि—'विरही विचारन की मौन में पुकार है।' विरही के हृदय की अनेक दशाओं जैसे—प्रिय दर्शन की लालसा, मिलने की उत्कट अभिलाषा, कभी अपने ही भाग्य को कोसना और अपने ही मन को उपालम्भ देना, कभी पत्र लिखने की इच्छा और कभी सन्देश भेजने की चिन्ता, कभी पथिक से सन्देश पूछते हुए मन की दशा आदि का उल्लेख इनकी कविता में उत्तम ढंग से हुआ है। इसीप्रकार वियोग दशा में उन्हीं वस्तुओं के दुःखप्रद होने का भी वर्णन किया गया है जो संयोग में सुखप्रद थीं। वियोगदशा में हृदय सुखदायक और दुःखदायक दोनों प्रकार की वस्तुओं से दुःख ही अनुभव करता है। कहीं तो प्रकृति उससे सहानुभूति करती हुई दिखायी देती है और कहीं दुःख पहुँचाती है। लोगों को उत्सव मनाते हुए देख हृदय में अपनी दशा का और भी तीव्र अनुभव कर दुःखी होना परम्परा की बात है। घनानन्द जी की कविता में इसके भी अनेक उदाहरण मिलेंगे। जायसी आदि सूफी कवियों की भाँति इन कवियों ने भी अपने

---

१. रावरी बसाए तो बसाए न उजारियै।
२. उजरनि बसी है हमारी अंखियानि देखौ,
सुबस सुदेश जहां भावते बसत हौ।। —सुजानहित, २१७।
३. उर आँच लागें। —सुजानहित, २०६।
४. सी हमारे हियें लगियै रहति है। —सुजानहित, २१६।

विरह को विश्वव्यापी प्रदर्शित किया है ।

इस प्रकार इनके काव्य में मूलत: वियोग एव गौणत: काल्पनिक संयोग का चित्रण हुआ है । इन दोनों पर ही विहंगम दृष्टिपात करने के उपरान्त अब उसे शास्त्रीय दृष्टि से परखने की समस्या उत्पन्न होती है । इस काव्य में दो ऐसी महान् न्यूनाताएँ हैं जो इसे रसाभास कहलाने के लिए बाध्य करती हैं । प्रथम है वेश्या के प्रति प्रेम ; और द्वितीय है इस प्रेम की अनुभयनिष्ठता । ये दोनों बातें रसाभास के अन्तर्गत परिगणित होती हैं । किसी के रूप को देखकर हम रीझ जाएँ—यह स्वाभाविक है, किन्तु यह रीझ मुग्धता कहला सकती है, प्रेम नहीं । इस मुग्धता को भक्त कवियों ने मन की मूढ़ता कहा है ।[1] यह मूढ़ता रस कोटि के अन्तर्गत नहीं आ सकती । विशेशत: तब जबकि वह एक सामान्या (अधम कोटि की नारी) के प्रति प्रकट की गई हो । सुन्दर व्यक्ति पर प्राण देने वाले तो अनेक व्यक्ति हो सकते हैं, वह बेचारा किस-किस पर दया करके उनके मन को शान्त करता फिरे । इसलिए एक पक्षीय आकर्षण सर्वथा लम्पटता है, प्रेम नहीं । प्रेम हृदय का वह आकर्षण है जो उभयपक्ष में सम हो । घनानन्द को अन्त में मालूम हुआ कि उनका प्रेम मात्र तो निष्ठुर और निर्मोही है उन जैसा विश्वासघाती कोई दूसरा नहीं हो सकता :

—एक बिसास की टेक गहाय कहा, बस जौ उर और ही ठानी ।
—परतीति दै कीनी अनीति महा, विष दीनौ दिखाय मिठास-डरी ।
—तुम्हैं पाय अजू हम खोयौ सबै हमैं खोय कहौ तुम पायौ कहा ।

—सुजानहित, ६, २४६, ३२२ ।

इस एकपक्षीय आकर्षण का अवसान संसार के प्रति अश्रद्धा में हुआ हैं । प्रेम कभी नहीं करना चाहिए, इसमें आनन्द कम और विपत्ति अधिक है, इसमें न्याय नहीं है । निर्दय जीत जाता है और दीन मारा जाता है । जो भाग्य में लिखा होता है वही मिलता है, उसने दु.ख दिया और सुख पाया परन्तु हमने अपना चित्त सौंप दिया, फिर भी चिन्ता पल्ले पड़ी, हमारा जीवन व्यर्थ है, ईश्वर मनुष्य को चाहे जो कष्ट दे परन्तु किसी निर्मोही से उसका प्रेम न करावे । इसप्रकार के उद्गार ऐसे प्रेमियों को व्यक्त करने ही पड़ते हैं :

—देह दहै न रहैं सुधि गेह की, भूलि हूँ नैं को नाँव न लीजै ।
—गुन बंधैं कुल छूटैं आपौ दैं उदेग लूटैं
उत जुरैं इत टूटैं, आनन्द विपति है । —सुजानहित, ५१ ।
—दुख दै सुख पावत हौ तुम तौ चित के अरपें हम चिंत लही ।

—सुजानहित, १३१ ।

निराशा के ये वाक्य हृदय की जर्जरता के द्योतक हैं । झूठी आशा, और असफलता के कारण इनके हृदय में खीझ, अश्रद्धा और भाग्यवाद के भाव उत्पन्न हुए । घना-

१. हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य, पृ० २४६ ।

नन्द का कथन है :

जरौं विरहागिनि में करौं हौं पुकार कासों
दई गयौ तू हूं निरदई ओर ढरि रे।

—सुजानहित, २६५।

इस हाय हाय में जो करुणा है वह खीझ का उपहास करने वालों को भी पिघला सकती है। यदि निष्ठुर प्रेमपात्र भी इसको सुन लेता तो वह भी दयार्द्र हो जाता :

दौरि दौरि थाक्यौ पै थकै न जड़ दौरनि तें,
गति भूलै मन की न दुरी कछु तोनें रे॥
तातें ठौर दीजै याहि, सुधि लीजै मोदघन,
बूझियें न बिड़र्यौ अनाथ तोहि होनें रे।
हाय हाय हे अमोही हारि कै कहत हा हा,
आय बनी अब ह्वै है वही रची जो तैं रे।
आस-बिसवास दै असाधन हूँ साधि लै न,
साधन कृपा है और कहा सवै मोनें रे॥

— कृपाकंद, ६२।

किन्तु पाठक इस प्रकार के वाक्यों को पढ़कर आश्रय (घनानन्द आदि कवि) के प्रति दया एवं सहानुभूति प्रदर्शित करने लगता है। और इस प्रकार ये विरही पाठक की दया एवं सहानुभूति के आलम्बन बनते हैं। यह स्थिति स्पष्टतः रस-सिद्धान्त को खण्डित करती है। अतः इस प्रकार के स्थल शास्त्रीय दृष्टि से रसाभास के ही अन्तगत परिगणित होंगे।

किन्तु अपने विरह के प्रति घनानन्द आदि कवियों का यह दृष्टिकोण कोई अन्तिम निष्कर्ष नहीं है। इस दृष्टिकोण के उपरान्त उनके विचारों में क्रान्ति उत्पन्न हुई और तब उन्होंने जो प्रेम की व्याख्या की उसे समझ लेने के उपरान्त उनका काव्य शुद्ध रस का ही काव्य सिद्ध होता है। घनानन्द को अकस्मात् ही यह अनुभव हुआ कि प्रेम तो वास्तविक और सत्य है, कमी तो उसमें है जो कि प्रेम के मर्म को नहीं जानता। प्रेम का निर्वाह असामान्य व्यक्ति का ही काम है, इसके लिये तो हृदय अत्यन्त शुद्ध पवित्र सरल एवं निष्कपट होना चाहिए। अयोग्य व्यक्ति को ऐसी अमूल्य वस्तु का अधिकारी बनाकर सचमुच हमने भूल की। इन कवियों के ये विचार अत्यधिक गम्भीर हैं, इनके प्रेम से भागने की प्रवृत्ति नहीं प्रत्युत उसको आत्मसात् कर लेने का भाव है :

—अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बांक नहीं।
तहां सांचे चलें तजि आपुनपौ झझकै कपटी जे निसांक नहीं।
घनआनन्द प्यारे सुजान सुनौ इत एक तें दूसरी आंक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ लला मन लेहु पै देहु छटांक नहीं॥

—सुजानहित, २६७।

—प्रेम-नेम हित-चतुरई, जे न बिचारत नेकु मन ।
सपनेहूँ न बिलंबिये, छिन तिन ढिग ग्रानन्दघन ।।

वस्तुतः ग्रन्त में इन कवियों का यह प्रेम एक सामान्य भाव नहीं रहा, प्रत्युत 'प्रेम पन्थ' बन गया,

—जल-थल व्यापी सदा ग्रंतरजामी उदार,
जगत में नावें जानराय रह्यौ परि रे ।।
—ज्ञान हूँ तें ग्रागे जाकी पदवी परम ऊँची,
रस उपजावै तामें भोगी भोग जात वै ।
जान घनग्रानन्द ग्रनोखी यह प्रेम पन्थ,
भूले ते चलत, रहैं सुधि के थकित ह्वै ।।

इनके जीवन की प्रत्येक सांस ग्रौर हृदय की प्रत्येक धड़कन में प्रेम की मधुर टीस ग्रौर ग्रसह्य वेदना है। प्रेम की ऐकाँतिक उपासना इनके जीवन का साध्य ग्रौर साधन दोनों हैं। सहज भाव से प्रिय के प्रति ग्रपने को समर्पित कर देने की इनमें दिव्य भावना है। यहाँ किसी तरह के कपट ग्रौर चातुर्य को स्थान नहीं है। प्रेमोन्माद में डूबे हुए इन कवियों को इसकी परवाह नहीं थी कि इनका प्रिय भी इन्हें प्रेम करे ही। सच्चे प्रेम में तो केवल प्रदान ही होता है, ग्रादान के लिये यहाँ कोई स्थान नहीं हैं। इन प्रेमी कवियों का स्पष्ट कथन है :

—चाहो ग्रनचाहौ जान प्यारे पै ग्रनंदघन,
प्रीति रीति विषम सु रोम रोम रमी है।
—घनग्रानन्द

—उपचार ग्रौर नीच विचारने ना उर ग्रंतर वा छवि को घर है।
हमको वह चाहै कि चाहै नहीं हम चाहिये वाहि विद्या हर है।
—बोधा।

—मन भावै सुजान सोई करियो हमें नेह को नातो निबाहनो है।
—ठाकुर।[1]

'माधवानल काम कंदला' के प्रारम्भ में यह समस्या उपस्थित की गई है :

प्रीति परम कहि कौन, निज पति उपपति गणिका की,
ये बिरही कहि तौन जो न होय सबते सरस।[2]

कि परम प्रीति की संज्ञा निजपति, उपपति एवं गणिका में से किस प्रेम को दी जाय? एक ग्रन्य प्रश्न यह है कि जो सबसे सरस हो, वह कौन सा प्रेम है? धर्म-शास्त्र की दृष्टि से इस प्रश्न का उत्तर देना जितना सरल है, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उतना ही कठिन। बोधा ने चार प्रकार की प्रीति मानी है—ग्रौर फिर उत्कृष्ट प्रीति कौन सी है? इसका उत्तर देते हुए लिखा है :

---

१. ये सभी उद्धरण 'रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना' पृ० २३० से उद्धृत हैं।
२. रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना, पृ० ४७३ से उद्धृत।

भांति अनेक प्रीति जग माहीं। सबहि सरस कोऊ घट नाहीं।
जाको मन विरुझो है जामें। सुखी होत सोई लखि तामें॥
याते सुन यारी दिल दायक। कीजै प्रीति निबाहिये लायक।
प्रीति करै पुनि और निबाहै। सो आशिक सब जगत सराहै॥

—बोधा

कोई प्रेम किसी से कम नहीं है, सभी समान रूप से सरस हैं। जिसका मन जहाँ पर उलझ जाता है उसको वहीं पर प्रीति दिखाई देती है। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि प्रत्येक सरस प्रीति के पीछे बोधा ने एक शर्त लगाई है। शर्त है प्रीति करने के बाद उसका निर्वाह करना। माधव ने कंदला नाम की गणिका से प्रीति की थी। उसकी प्रीति को आदर्श प्रीति इसलिए माना गया है कि उसने इस का अन्त तक निर्वाह किया। कोई पति अपनी स्वकीया के प्रति भी इतना भाव प्रदर्शन क्या करेगा? सचमुच उनका यह प्रेम एक अलौकिक प्रेम है।

इस तरह के उदार और आदर्शमूलक प्रेम का निर्वाह करने के लिए इन कवियों ने लौकिक बंधनों से मुक्ति आवश्यक समझी। नियम-पालकों को अंधा बतलाते हुए घनानन्द ने कहा है:

नेमी अंध हौंस मरैं चाहैं तिन रीस करैं,
ऐसें अरबरैं ज्यौं चकोर होन कौं उलूक।

—सुजानहित, १५१।

प्रेम के पथ में लौकिक नियमों का पालन करने वाले लोग अंधे हैं। वे मन में उठने वाली उमंगों के कारण मरते रहते हैं। ये झकुए प्रेमियों की बराबरी करने का दावा उसीप्रकार करते हैं जैसे उल्लू चकोर होने का।

बोधा ने लोक-लज्जा और परलोक के डर को प्रीति के ऊपर उत्सर्ग कर दिया है। इनकी दृष्टि में प्रेम के लिए देह, गेह और गाँव के समस्त सम्बन्धों को छोड़ देना पड़ता है। प्रेम की सुन्दर नीति का निर्वाह वही कर सकता है जो अपने शीश को हथेली पर लिए घूमता है। जो व्यक्ति लौकिक मर्यादा के बन्धनों से डरते हैं उन्हें प्रेम के रास्ते पर भूलकर भी पैर नहीं रखना चाहिए:

लोक की लाज औ सोच प्रलोक को वारिये प्रीति के ऊपर दोऊ।
गाँव को गेह को देह को नातो सनेह में हाँतो करै पुनि सोऊ॥
बोधा सुनीति निबाह करै वर ऊपर जाके नहीं सिर होऊ।
लोक की भीति डेरात जो मीत तौ प्रीति के पैंड़े परै जनि कोऊ॥

—बोधा, इश्कनामा, १४।

इस प्रेम पंथ में लौकिक मर्यादाओं के अतिरिक्त अपनी सुध भी खो देनी पड़ती है। जो लोग अधिक जागरूक रहते हैं वही इस मार्ग में निःशक्त हो जाते हैं। यही तो इसका अनोखा रूप है:

जान घन आनन्द अनोखौ यह प्रेम पंथ
भूले ते चलत, रहैं सुधि के थकित ह्वै ।
बुरौ जिन मानो जौन जानौ कहूँ सीखि लेहु,
रसना के छाले परैं प्यारे नेह नाव है ॥[1]

—घनआनन्द

लोक-मर्यादा की चिंता न करने के कारण इनकी आस्था इतनी दृढ़ है कि इसी प्रेम के आश्रय से वे संसार सागर को भी पार करने की क्षमता रखते हैं :

कवि बोधा कछु सके या मैं नहीं भवसिंधु बजाइकै लैत रहै ।
यह प्रीति की रीति जानत सो परतीत हि मानि कै जो करहै ॥

इन कवियों ने प्रेम मार्ग के कथित प्रतिबन्धों की खुली अवहेलना की है। किन्तु लोक-लज्जा की उपेक्षा करके किसी परकीया-प्रेम का वासनात्मक चित्र उपस्थित करना इन कवियों का लक्ष्य नहीं था। इसके विपरीत इन्होंने प्रेम की अनन्यता एवं पवित्रता पर बल दिया।

इन कवियों के प्रेम की विशेषता यह है कि इस प्रेम का पर्यवसान विवाह में नहीं होता। 'पुत्रार्थे क्रियते भार्या' के सिद्धांत का पालन इन कवियों ने नहीं किया है। और न इन कवियों ने नारी के शरीर के प्रति बुभुक्षा ही प्रकट की है। प्रेमिका की स्मृति ही इनके जीवन का आधार है और वही इनका लक्ष्य है। भारतीय इतिहास में इस प्रकार के प्रेम की कल्पना सर्वथा नवीन एवं अद्भुत है। भारतीय पाठक प्रेमियों के परस्पर मिलने के उपरांत इन्हें सांसारिक सुखोपभोगों में लीन देख कर ही सन्तोष का अनुभव करता है। अतः विरह का वर्णन करने के उपरांत भारतीय कवि मिलन और तज्जन्य सुख का उल्लेख करना भी अनिवार्य समझता है। किन्तु इन कवियों ने ऐसा कुछ नहीं किया। सम्भवतः इसलिए कि इन्हें अपने-अपने जीवन का कटु अनुभव प्रस्तुत करना था। उनके जीवन की यह कटुता उनके काव्य में एक अलौकिक वेदना बनकर प्रस्तुत हुई है। इनके प्रेम को समझने के लिए लौकिकता से थोड़ा ऊँचा उठना पड़ता है। उन द्वारा प्रस्तुत प्रेम का स्वरूप समझ लेने के उपरांत वह न मन की मुग्धता है और न उसका आलंबन कोई सामान्या नायिका है। वस्तुतः इनका प्रेम न सर्वथा लौकिक है और न

---

१. आंख कान बुधि ज्ञान की प्रीति चार विधि जान ।
चार भाँति जिनके यथा विरही कहे बखान ।
प्रथम पतंग कुरंग पुनि माधव नल की प्रीति ।
चौथी चारी ज्ञानमय भृङ्ग कीट की रीति ॥

विरहवारीश, माधवानल कामकंदला, चरित्रभाषा, पृ० ५ ।

आध्यात्मिक। वह इनके बीच का है। इस पर सूफियों की वेदनात्मक तन्मयता की छाप भी है और भक्त कवियों की भाँति अपने आलम्बन से मिलने की कामना भी। अन्य प्रेमियों का विरह के उपरान्त संयोग अवश्यम्भावी रहता है। इस दृष्टि से उनका विरह मिथ्या है। फलतः उसमें अनिवार्य गम्भीरता का अभाव रहता है। इसके विपरीत घनानन्द आदि का विरह सत्य है।

वस्तुतः इन कवियों द्वारा प्रस्तुत प्रेम के स्वरूप को समझ लेने के उपरांत पाठक इसे अवैध प्रेम समझ कर उससे नाक भौं नहीं सिकोड़ता। उसके मन में घनानन्द आदि कवियों के प्रति घृणा जागरित नहीं होती। घनानन्द के काव्य को बिना पढ़े केवल यह सुनने पर कि इनमें एक वेश्या के प्रति अनुभयनिष्ठ प्रेम है, भले ही वह इसके प्रति अरुचि प्रकट करे। पर इस सम्पूर्ण काव्य का अध्ययन करने के उपरांत उसे ऐसा प्रतीत नहीं होता। किन्तु समस्या की परिसमाप्ति यहीं नहीं होती। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस काव्य को पढ़ने के उपरांत पाठक किस प्रकार की अनुभूति करता है? घृणा के अभाव में इस काव्य से दो ही अनुभूतियाँ उत्पन्न होनी सम्भव हैं :

१. प्रथम यह कि पाठक के मन में घनानन्द आदि कवियों के प्रति दया उत्पन्न हो।

२. और द्वितीय यह कि वह भी वैसी ही अनुभूति करे जैसी कि घनानन्द आदि ने की थी।

प्रथम अनुभूति रसाभास की स्थिति है और द्वितीय अनुभूति शुद्ध रस की। हमारी सम्मति में जब घनानन्द अपनी प्रेमिका की स्मृति में तीव्र विरह का अनुभव कर रहे होते हैं तब पाठक को शुद्ध रूप से विप्रलम्भ शृंगार की अनुभूति होती है। यह विप्रलम्भ शृंगार भक्त कवियों के विप्रलम्भ की श्रेणी में आता है। जब वे काल्पनिक सम्भोग कर रहे होते हैं तब भी पाठक को उसमें संयोग शृङ्गार की अनुभूति होती है। यह सम्भोग भी भक्त कवियों द्वारा वर्णित संयोग की कोटि के अन्तर्गत आता है। भगवान् की अनुपस्थिति में यदि भक्तगण रसानुभूति कर सकते हैं तो सुजान की अनुपस्थिति में घनानन्द वैसा क्यों नहीं कर सकते?

किन्तु हाँ, जब घनानन्द तीव्र विरह के ज्वर से उतर कर सामान्य भूमि पर उतर आते हैं और अपनी प्रेमिका को निष्ठुर आदि कहने लगते हैं तो पाठक के मन में उनके प्रति दया सी उत्पन्न होने लगती है। यह स्थिति पूर्ण तादात्म्य के अभाव में रसाभास के अन्तर्गत परिगणित होगी, रस में नहीं।

नवम अध्याय

उपसंहार

रसाभास का विवेचन प्रस्तुत करने के उपरान्त निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि :

रसाभास का मूल कारण है अनौचित्य-जन्य-रस-सामग्री की क्षीणता और उसका परिणाम है वैरस्य। यहाँ वैरस्य शब्द का स्पष्टीकरण करना अनिवार्य है। इससे यह भ्रम हो सकता है कि कहीं हमारा अभिप्राय यह तो नहीं कि रसाभास के स्थल आस्वादशून्य होते हैं। हमें वैरस्य शब्द से यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है, और न यह कि इस अवस्था में सहृदय के चित्त में किसी प्रकार का कोई भाव ही उत्पन्न नहीं होता। मनोविज्ञान का यह एक मान्य सिद्धान्त है कि किसी भी वस्तु के दर्शन अथवा श्रवण आदि से चित्त में किसी न किसी प्रकार की प्रतिक्रिया अवश्य होगी। अतः रसाभास के स्थलों का प्रतिक्रिया-शून्य होना असम्भव है। वस्तुत: वैरस्य अथवा विरसता से हमारा तात्पर्य है कि कवि ने जिस रस के विभावादि उपकरण जुटाए हैं उस रस की अनुभूति का न होना। इसके विपरीत रसाभास में उन रसों के स्थान पर सहृदय के चित्त में कोई न कोई अन्य भाव भी उत्पन्न होगा और इससे उसे काव्यास्वाद भी प्राप्त होगा।

रसाभास के वर्ण्य विषय हैं—रसों में विरुद्ध रसों का सम्मिश्रण, अंग-रस की प्रमुखता, अलंकारों में अत्युक्ति, दोषों में रसदोष, नायक-नायिका भेद में समाज के असौन्दय एवं व्यभिचार को प्रत्यक्ष रूप में प्रकट करने वाले नायक और नायिकाएँ तथा विभिन्न रसों में रस-सामग्री की क्षीणता। क्योंकि ये सभी किसी न किसी रूप में सहृदय की बौद्धिक अथवा मानसिक आस्थाओं में व्याघात उत्पन्न करते हैं। यहाँ, स्वाभाविक शंका हो सकती है कि क्या रसाभास के इन वर्ण्य विषयों को दृष्टि में रखते हुए किन्हीं विशेष प्रकार के विषयों का निर्देश कर सकना सम्भव है, जो कि अनिवार्य रूप से सहृदय की आस्था पर व्याघात उत्पन्न करते हैं। हमारा निष्कर्ष है कि इस सम्बन्ध में कोई विषय निश्चित नहीं किए जा सकते। क्योंकि, एक ओर तो प्रायः कवि की विवक्षा और दूसरी ओर कभी-कभी सहृदय के संस्कार—ये दो ऐसे तत्त्व हैं जो कि इसप्रकार के निश्चित विषय-निर्धारण में बाधा उत्पन्न करते हैं। काव्य में रसाभास की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है— प्रथम

तब, जब कि कवि जानबूझकर किसी पात्र विशेष के प्रति घृणा अथवा क्षोभ जागरित करने केलिए उनमें अनौचित्य प्रदर्शित करता है, और द्वितीय तब, जब कि कवि का भाव देश, काल अथवा संस्कार आदि की भिन्नता के कारण सहृदय-विशेष द्वारा ग्राह्य नहीं होता। ऐसी स्थिति में वह अपने कौशल द्वारा क्षण भर केलिए भले ही सहृदय को पूर्वाग्रहों से मुक्त करके रसास्वाद करवा दे, किन्तु यह स्थिति सदा नहीं बनी रहती। उसका (सहृदय का) विवेक जागरित होने पर उस उपलब्ध रस का वैरस्य में परिणत होना अवश्यम्भावी है और यही 'रसाभास' है। उदाहरणार्थ—'शेखर : एक जीवनी' में वर्णित मौसेरे भाई-बहिन का पारस्परिक सम्बन्ध सुविज्ञ पाठकों में मत-भेद का विषय बन गया है। उनका एक वर्ग इस प्रसंग को युवक-युवती का यौन सम्बन्ध मानते हुए इसे गर्हित कहता है और द्वितीय वर्ग इसे भाई-बहिन के स्नेह की अभिव्यक्ति मात्र मानता है। प्रथम वर्ग के पाठक का दृष्टिकोण 'रसाभास' का ही विषय है, किन्तु जिन जातियों अथवा प्रदेशों में मातुल पुत्री के साथ विवाह करने का निषेध नहीं है, अपितु नितान्त उपयुक्त समझा जाता है उनके लिए इस उपन्यास में वर्णित इस प्रसंग को गर्हित कहने का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता। अपितु इस प्रकार का व्यक्ति तो उक्त उपन्यास में उन दोनों 'मातुलेयों' का रति-सम्बन्ध पुष्ट रूप में न देख कर वैरस्य का ही अनुभव करेगा। इसी आधार पर यदि इस प्रसंग को रसाभास का विषय माना जाए तो यह सर्वथा भिन्न प्रश्न एवं स्थिति है। इसप्रकार स्पष्ट है कि एक ही विषय कवि की वर्णन-पद्धति एवं सहृदय के संस्कारों की भिन्नता के कारण रस, भाव, रसाभास आदि विविध अनुभूतियों का प्रसंग हो सकता है।

रसाभास का चमत्कार निश्चय ही रस के चमत्कार की अपेक्षा निम्न प्रकार का है। यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्यों न इसे काव्य का अविषय घोषित कर दिया जाए? किन्तु हमारे विचार में रसाभास काव्य केलिए अत्यन्त उपयोगी तत्त्व है। समाज के असत् तत्त्वों के विरुद्ध मानव जाति में घृणा, क्षोभ, उपेक्षा और उपहास के भाव उत्पन्न करने केलिए काव्य में इसका प्रयोग अनिवार्य है। अकस्मात् ही किसी सत्पात्र के दुराचार अथवा कदाचार के कुचक्र में घिर जाने पर उसके प्रति श्रद्धा, आस्था, दया अथवा सहानुभूति के भाव जागरित करने के लिए रसाभास का प्रसंग लाया जाना आवश्यक है। दूषित रूढ़ियों, गहन अन्धविश्वासों, गलत परम्पराओं एवं पंगु मान्यताओं को समाप्त करने केलिए रसाभास एक अमोघ अस्त्र है। रसाभास ध्वनि के असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्य नामक सर्वोत्कृष्ट भेद का एक रूप है। अतः इस कारण न वह केवल आस्वाद्य है, अपितु उसमें यह सब कर सकने की पूर्ण क्षमता भी विद्यमान है। किन्तु यह सब एक कुशल एवं सुकवि द्वारा ही सम्भव है। अकुशल अथवा अश्लील

साहित्य-निर्माता लेखक इसका प्रयोग कर उक्त प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने में सर्वथा असमर्थ रहेगा। रीतिकवियों ने विरह एवं नारी की सुकुमारता के प्रसंग में रसाभास (अतिशयोक्ति) का वर्णन कर नारी के इन रूपों के प्रभाव को क्षीण ही किया है। धीरा, अधीरा अथवा खण्डिता आदि नायिकाओं के प्रसंग में रसाभास उसकी अकुशलता के परिणाम-स्वरूप हैं। वस्तुतः वह इनके वर्णन से कामुकता जागरित करना चाहता था, किन्तु इससे सहृदय की आस्था को चोट पहुँचती है, फलतः इन प्रसंगों से कामुकता जागरित नहीं हो सकी। ये उदाहरण शास्त्रीय दृष्टि से रसाभास के ही उदाहरण हैं, किन्तु कवि की विवक्षा न होने के कारण वे रसाभास के उत्कृष्ट उदाहरण नहीं कहे जा सकते। इसप्रकार के स्थलों को देखते हुए रसाभास का महत्त्व कम नहीं होता। कुशल कवि रसाभास का समुचित प्रयोग कर उससे अनुकूल प्रभाव (स्वविविक्षित भाव) उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। अभिप्राय यह कि यदि रीति कवि परनारी-गमन के विरुद्ध भाव जागरित करने के निमित्त इस प्रकार के चित्र उपस्थित करता तो इन चित्रों में उन नायकों का अपराध अच्छी तरह लक्षित होता।

हम ऊपर निर्दिष्ट कर चुके हैं कि रसाभास का कोई विषय नियत नहीं किया जा सकता, प्रत्युत कवि की वर्णनाशक्ति ही उसे रसाभास बनाती है। हमारे आचार्यों ने समाज में दूषित वृत्ति उत्पन्न करने वाले अनेक प्रसंगों को रसाभास का विषय निर्दिष्ट किया है, वस्तुतः उन्हें कहना यह था कि कवि रसाभास का प्रयोग इन्हीं विशेष प्रसंगों में ही करे। जो आलोचक काव्य को जीवन का उपयोगी एवं समाज का नैतिक उत्थान करने में सक्षम देखना चाहते हैं उन्हें साहित्यकारों को किन्हीं विशेष प्रसंगों में रसाभास का प्रयोग करने की प्रेरणा अथवा परामर्श देना चाहिए।

कुछ आलोचकों ने दूषित रीतिकाव्य को रसाभास का विषय निर्दिष्ट कर दिया है, क्योंकि इससे समाज का पतन होता है, किन्तु वस्तुतः ऐसे प्रसंग रसाभास के उदाहरण नहीं माने जाने चाहिएं। रसाभास के अन्तर्गत दूषित मनोवृत्ति को उभारने वाले स्थलों को रसाभास की संज्ञा देना शास्त्रीय दृष्टि से उचित नहीं है। क्योंकि एक तो रसाभास किसी भी रस के विपरीत प्रभाव से सम्बद्ध माना जाता है, केवल शृंगार रस से नहीं, और दूसरे शृंगार रस के विपरीत प्रभाव से तात्पर्य है—शृंगार के अतिरिक्त कोई भी इतर भाव। रीतिकालीन दूषित साहित्य वासना का जनक है, और वासना को शृंगार का इतरभाव नहीं कहा जा सकता। शास्त्रीय दृष्टि से ऐसे साहित्य को जो लौकिक भावों को जागरित करता है—रसाभास नहीं कहना चाहिए।

काव्य में रसाभास के उदाहरण दो रूपों में उपलब्ध होते हैं। प्रथम रूप वह—जहाँ रसाभास तामस वृत्तियों को तिरोहित करने के निमित्त प्रयुक्त हुआ है (विशेषत: प्रबन्ध काव्यों में), और द्वितीय वहाँ जहाँ कि इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हुई। वस्तुत: रसाभास का प्रयोग तामस वृत्तियों के तिरोहित करने के ही निमित्त होना चाहिए। इसीमें ही रसाभास की सिद्धि है और इसी आधार पर हम इसे असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य का एक रूप स्वीकार करते हुए रस के समकक्ष—यद्यपि उसके असमान—सहृदयाह्लादजनक और कान्तासम्मितोपदेश-समक्ष काव्य-तत्त्व के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

परिशिष्ट

अनुक्रमणिका : १

पारिभाषिक एवं अन्य विशिष्ट शब्द

अ

आ

ई

उ

म

श

ह

अनुक्रमणिका : २

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रयुक्त ग्रन्थों के नाम

ऋ

औ

क

म

र

ल

अनुक्रमणिका : ३

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रयुक्त लेखकों के नाम

य

र

श

स

ह

सहायक ग्रंथ-सूची

संस्कृत ग्रन्थ

१. अच्युताचार्य	—साहित्यसार	
२. अभिनवगुप्त	—अभिनवभारती	(हिन्दी व्याख्या, आ० विश्वेश्वर)
	—विवृत्ति विमर्शिनी	
३. अल्लराज	—रसरत्नप्रदीपिका	भारतीय विद्याभवन (विक्रमाब्द २००२)
४. आनन्दवर्द्धन	—ध्वन्यालोक	(हिन्दी व्याख्या, आचार्य विश्वेश्वर)
	— ध्वन्यालोक (बालप्रियालोचन)	चौखम्बा सं० सी० (१६४०)।
५. उद्भट	— काव्यालंकारसारसंग्रह	सं० बनहट्टी, ब० सं० प्रा०।
६. कल्याणमल्ल	—अनंगरंग	मोतीलाल बनारसी दास।
७. कालिदास	—मेघदूत	
	—अभिज्ञान शाकुन्तलम्	
८. कुन्तक	—वक्रोक्ति जीवित (हिंदीभाष्य)	(आचार्य विश्वेश्वर)
९. केशवमिश्र	—अलंकार शेखर	चौखम्बा संस्कृत सीरीज (सन् १६८४)
१०. क्षेमेन्द्र	—औचित्य विचार चर्चा	चौ० सं० सी०, काशी।
११. गोन्विद ठक्कुर	—काव्यप्रकाश (प्रदीप)	आनन्द आश्रम, पूना।
१२. जगन्नाथ	—रसगंगाधर	काव्यमाला (१६३०)
१३. जयदेव	—चन्द्रालोक	श्री नन्दकिशोर शर्मा (द्वितीय संस्करण)
१४. जीवगोस्वामी	—भगवद्भक्ति रसायन	
१५. दण्डी	—काव्यादर्श	बी० ओ० आर० आई० पूना।
१६. धनञ्जय	—दशरूपक	निर्णय सागर प्रेस।
१७. नरसिंह (अभिनव कालिदास)	—नञ्जराज यशोभूषण	ओरिएण्टल इंस्टिट्यूट, बड़ौदा।
१८. नरेन्द्रप्रभसूरि	—अलंकार महोदधि	ओ० इं० बड़ौदा, १६४२

१९. भरत	—नाट्यशास्त्र	चौ० सं० सीरीज तथा गा. ओ. सी. ।
२०. भानुमिश्र	—रसमंजरी	हरिकृष्ण निबंध भवन, (१९५१)
	—रसतरंगिणी	वेंक्टेश्वर प्रेस ।
२१. भामह	काव्यालंकार	चौखम्बा सं० सी०,वाराणसी
२२. भोजराज	सरस्वती कंठाभरण	निर्णयसागर, द्वितीय आवृत्ति (सन् १९१४)
२३. मनु	—मनुस्मृति (कुल्लूकभट्ट)	नि० सा० मुद्रणालय बम्बई (सन् १९४६) ।
२४. मम्मट	—काव्यप्रकाश (भट्ट वामन झलकीकर)	षष्ठीयमंकनावृत्ति (१८७२ शकाब्द)
२५. महिमभट्ट	—व्यक्तिविवेक	चौखम्बा से प्रकाशित (सं० १९९३)
२६. राजशेखर	—काव्य-मीमांसा	(प० केदारनाथ)
२७. रामचन्द्र गुणचन्द्र	—नाट्यदर्पण (हिन्दी व्याख्या)	(आचार्य विश्वेश्वर)
२८. रुद्रट्	—काव्यालंकार	निर्णय सागर प्रेस
२९. रुय्यक	—अलंकार सर्वस्व	निर्णय सागर प्रेस
३०. रूपगोस्वामी	—हरिभक्ति रसामृत सिन्धु	विद्याविलास मुद्रणालय (सम्वत् १९८२)
	—उज्ज्वलनीलमणि	नि० सा० प्रेस
३१. वात्स्यायन	—कामसूत्र	चौखम्बा सं० सी०
३२. वामन	—काव्यालंकार सूत्रवृत्ति (हिन्दी भाष्य)	(आचार्य विश्वेश्वर)
३३. विश्वनाथ	—साहित्यदर्पण (विमला हिन्दी व्याख्या)	मोतीलाल बनारसीदास (सन् १९५६)
३४. विद्याधर	—एकावली	ब० सं० प्रा० सी०
३५. शारदातनय	—भावप्रकाशन	गा० ओ० सी०
३६. शिंगभूपाल	—रसार्णव सुधाकर	ट्रिवेंडरम सस्करण)
३७. हेमचन्द्र	—काव्यनुशासनम्	निर्णयसागर प्रेस (१९३४)
३८. श्रीराम शर्मा	—अथर्ववेद (द्वितीय खण्ड)	गायत्री प्रकाशन, तपोभूमि मथुरा (१९६०)

३९. सातवलेकर —ऋग्वेद स्वाध्यायमण्डल, पारडी

४०. शब्दकल्पद्रुम (कोश)

हिन्दी-ग्रन्थ

१. अखौरी गंगा प्रसाद —पद्मावत की काव्य-साधना सा० स० स०, काशी, (सं० १९९१)

२. अयोध्यसिंह उपाध्याय —रसकलश हि० सा० कु० वाराणसी (सं० २००१)

३. आनन्दप्रकाश दीक्षित—रस सिद्धान्त: स्वरूप और विश्लेषण राजकमल प्रकाशन, (सन् १९६०)

४. इलाचन्द जोशी —विश्लेषण

५. उमाशंकर —संस्कृति (गुजराती पत्रिका) २०० वां विवेचनांक, अक्तूबर, १९६३।

६. ओम्प्रकाश (डॉ०) —हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य भारतीय साहित्य मन्दिर, (सन् १९५७)।

७. कन्हैयालाल पौद्दार —काव्यकल्पद्रुम (रसमंजरी) नागरी प्र० सभा, काशी संस्करण २ (सं० १९८३) संस्करण ३ (सं० १९९१) संस्करण ६ (सं० २०१२)

८. कबीर —ग्रन्थावली (सं०—पारसनाथ तिवारी)

९. कविराज मुरादीदान —जसवंवत जसोभूषण मारवाड़ स्टेट प्रेस, जोधपुर, सं० १९५४।

१०. कविराजराव गुलाबसिंह —ललित-ललाम भारत जीवन बाबू रामकृष्ण वर्मा काशी, सं० १९५४

११. कवि हरिचरणदास — चमत्कार चंद्रिका (सम्वत् १९४३)

१२. कान्हूलाल गुर्दा गयापाल —रसविवेक श्रीमती सोनादाई सेन, गया धाम, (सं० १९८३)

१३. कामिल बुल्के —रामकथा

१४. किशोरी दास वाजपेयी —काव्यप्रवेशिका गयाप्रसाद, आगरा (सं० १९८८)

—रस और अलंकार हिन्दी ग्रंथ-रत्नाकर, बम्बई, (सं० १९८८)

१५. किरणचन्द्र शर्मा —केशवदास : जीवनी और व्यक्तित्व भारतीय साहित्य मन्दिर, (सन् १९६१)

१६. कुमारी मणिभट्ट	—रसिक रसाल	(सं० कण्ठमणि)
१७. कुलपति मिश्र	—रस रहस्य	इण्डियन प्रेस, (सं. १९५४)
१८. कृपाराम	—हित तरंगिणी	
१९. कृष्ण बिहारी मिश्र	—देव और बिहारी	गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ
२०. केशव	—केशव-ग्रन्थवाली	हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद (सन् १९५९)
	—केशव पञ्चरत्न (भगवानदीन)	रामनायणलाल, इलाहाबाद, (सं. १९८६)
	—प्रियप्रकाश	सन्मार्गप्रेस, वाराणसी, (सं० २०१९)
	—रामचन्द्रिका	नवल किशोर प्रेस, लखनऊ (ई० १९१५)
	—रसिकप्रिया	कल्याणदास, ज्ञानवापी, वाराणसी (सं० २०१५)
२१. गंगप्रसाद अग्निहोत्री	—रसवाटिका	श्री वेंकटेश्वर यन्त्रालय, बम्बई (सं. १९६०)।
२२. गुलाबराय	—नवरस	ना० प्र० स० आगरा, (सं० १९९०)
२३. गोकुल प्रसाद ब्रिज	—दिग्विजयभूषण (सं० भगवतीप्रसादसिंह)	हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ, (२०१६)
२४. तुलसीदास	—गीतावली	गीता प्रेस, गोरखपुर (सं० २०१०)
	—रामचरित मानस	गीताप्रेस, गोरखपुर (सं० २०१५)
२५. तोष	—सुधानिधि	भारत जीवन प्रेस, काशी
२६. दूलह	—कविकुलकण्ठाभरण	भारतप्रेस, काशी, (सन् १८८९)
२७. देव	—सुखसागर तरंग	ना० प्र० सभा, काशी (याज्ञिक संग्रहालय)
	—अष्टयाम	
	—शब्दरसायन (जानकीनाथसिंह)	हि० सा० सम्मेलन, प्रयाग, (सं० २००४)

	—भाव विलास	
	—प्रेमचन्द्रिका	
	—देवकाव्यरत्नावली (राजकृष्ण दूगड़, ब्रज-मोहन जावलिया)	दुर्गा प्रिण्टर्स, आगरा, १९६२
	—सुजान विनोद	
२८. नगेन्द्र	—रीति काव्य की भूमिका	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, (१९५३)
	—देव और उनकी कविता	
	—हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग)	ना० प्र० सभा, काशी, (सं० २०१५)
	—रस सिद्धान्त	नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२९ नारायण दास	—आचार्य भिखारीदास	लखनऊ वि० वि०, (सं० २०१२)
३०. परशुरामचतुर्वेदी	—हिन्दी काव्यधारा में प्रेम-प्रवाह	किताब महल, इलाहाबाद (सन् १९५२)
३१. पद्माकर	—पंचामृत (विश्वनाथ प्रसाद मिश्र)	श्री रामरत्न, पुस्तक भवन (सं० १९९३)
	—ग्रंथावली	ना० प्र० स० (सं० २०१६)
३२. पं० सीतारामशास्त्री	—साहित्यसिद्धान्त	ब्रह्मचर्याश्रम, भिवानी, (सं० १९८०)
३३. प्रशान्तकुमार (डॉ०)	—वैदिक साहित्य में नारी	वासुदेव प्रकाशन, मॉडल टाउन, दिल्ली, (१९६४)
३४. प्रेमस्वरूप गुप्त	—रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन	भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ़ (सन् १९६२)
३५. बच्चन सिंह	—रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना	नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, (२०१५)
३६. बलदेव उपाध्याय	—भारतीय दर्शन	शारदामंदिर वाराणसी (सन् १९५७)
	—संस्कृत साहित्य का इतिहास	
३७. बिहारी	—रत्नाकर	ग्रंथकार शिवाल, बनारस (नवीन संस्करण ३)
	—बोधिनी (भगवान दीन)	
३८. वेनी प्रवीन	—नवरसतरंग	(सं० कृष्ण बिहारी मिश्र)

३६. बोधा —इश्कनामा
—विरह वारीश
—माधवानल कामकन्दला चरित्र भाषा

४०. भिखारीदास —काव्य निर्णय वेलेवेडिया प्रेस, प्रयाग
—ग्रंथावली (दोनों खंड)
(विश्वनाथ प्रसाद मिश्र)

४१. भगीरथ मिश्र —हिन्दी रीति-साहित्य राजकमल प्रकाशन, दिल्ली (सन् १६५६)

४२. भूषण —ग्रंथावली (राजनारायण शर्मा) हि० भवन, इलाहाबाद

४३. भानुकवि (बाबू जगन्नाथ प्रसाद) —रसरत्नाकर विलासपुर में छपी, (सन् १६१६)

४४. मतिराम —रसराज (राम जी मिश्र की व्याख्या) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १६६० ।
—ग्रंथावली (कृष्णबिहारी मिश्र) ना० प्र० स० काशी (सं० २०२१)

४५. महेन्द्रकुमार —मतिराम : कवि और आचार्य भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली, (सन् १६६०)

४६. मिश्रबन्धु —साहित्य-परिजात गंगा पु० माला कार्यालय, लखनऊ, (सन् १६५१)

४७. रवीन्द्रनाथ टैगोर —साहित्य (अनु०वंशीधर विद्यालंकार

४८. राधाकृष्णन् —धर्म और समाज राजपाल एन्ड सन्स (सन् १६६०)

४६. रमाकान्त शर्मा —प्रेमसुधारत्नाकर (१६६३ विक्रमी)

५०. रमाशंकर शुक्ल रसाल —अलंकार पीयूष पं० रामनारायण लाल, इलाहाबाद (ई० १६३०)

५१. रामकुमार (डॉ०) —संस्कृत के सन्देश काव्य (सन् १६६३)

५२. रामचन्द्र शुक्ल —रसमीमांसा का० ना० प्र० सभा, वाराणसी, (२००६)
—हिन्दी साहित्य का इतिहास का० ना० प्र० सभा, वाराणसी (२०१२)

५३. राजेश्वर प्रसाद —रीतिकालीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन सरस्वती पुस्तक सदन आगरा, (स० २०१०)

५४. रामदहिन मिश्र —काव्यालोक (द्वितीय उद्योत) ग्रन्थमाला कार्यालय, बांकीपुर, (सं० २००१)